हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन

लेखक

ऋषिगोपाल

भारतीय संस्कृत भवन

जालन्धर शहर

हिन्दी

के

महान् साहित्य-सेवी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

की

सेवा में

सादर साञ्जलि

समर्पित

आमुख

भाषाविज्ञान एक वैज्ञानिक विषय है और इसे समझने के लिये पारिभाषिक ज्ञान अपेक्षित है। यह विषय प्राय: जटिल तथा दुर्बोध माना जाता है; परन्तु इसे सरल बनाना भाषाशास्त्रियों का ही उद्देश्य है। श्री ऋषिगोपाल का 'हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन' इस दिशा में सफल प्रयास है। लेखक ने न केवल भाषाविज्ञान सम्बन्धी नवीनतम खोजों तथा पद्धतियों का गंभीर अनुशीलन किया है वरन् इन के निष्कर्षो का प्रतिपादन उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिये सरल शैली मे किया है जिससे पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि हुई है। आधुनिक युग में भाषाविज्ञान का वैज्ञानिक अनुसन्धान प्राय: पाश्चात्य देशों में अधिक हो रहा है और इस अनुसन्धान का सूत्रपात भारत में भी हो चुका है। लेखक ने भाषा सम्बन्धी अपने ज्ञान को विस्तृत बनाते के लिये तथा नवीनतम खोजों से अवगत होने के लिये भारत में नियोजित उन गोष्ठियों में सक्रिय भाग लिया है जिससे वह अपने शिष्यों को अधिक लाभ पहुंचा सके। प्रस्तुत पुस्तक उनके अध्ययन तथा इन गोष्ठियों में प्राप्त भाषा सम्बन्धी अनुभव एवं ज्ञान का सार है। इतनी जटिल तथा विस्तृत सामग्री को सरल भाषा में प्रस्तुत करने का ढंग लेखक का अपना है। इस पुस्तक की मुख्य विशेषता को यदि संक्षिप्त रूप में व्यक्त किया जाए तो यह कहना पड़ेगा कि एक साथ ही भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धांतों तथा हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास और विश्लेषण पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के अन्त में हिन्दी की वाक्य-योजना पर गंभीर विचार किया गया है जिसका अभाव अन्य भाषा सम्बन्धी पुस्तकों में खटकता है। पुस्तक के परिशिष्ट में देवनागरी लिपि की समस्या पर भी नवीनतम लिपि सुधारों को दृष्टिगत रखते हुए

लेखक ने निजी विचारों का प्रतिपादन किया है। एक ही ग्रन्थ में भाषा-सम्बन्धी विविध पक्षों का विवेचन इस की मुख्य विशेषता है। एम० ए० श्रेणी के विद्यार्थियों तथा सामान्य पाठकों के लिये यह पुस्तक अवश्य उपयोगी सिद्ध होगी—ऐसी मेरी धारणा है।

इन्द्र नाथ मदान
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय

जालन्धर
अगस्त १, १९६०

दो शब्द

किसी भी विषय का समुचित प्रसार उस विषय पर लिखी पुस्तकों पर आधारित होता है। जहां अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी उत्कृष्ट कोटि का साहित्य विद्यमान है वहां भारतीय भाषाओं में भाषा विज्ञान की अच्छी पुस्तकें बहुत कम हैं। इस दृष्टि से हिन्दी की स्थिति भी कोई विशेष अच्छी नहीं। भाषाविज्ञान की जो पुस्तकें हिन्दी में हैं भी उनमें से अधिकांश पुस्तकों में या तो केवल सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन है अथवा केवल हिन्दी के विकास-क्रम का निदर्शन ही है। उसके अतिरिक्त भारोपीय से वैदिक संस्कृत अथवा आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के विकास-क्रम की रूपरेखा का स्वरूप भी बहुत कम पुस्तकों में देखने को मिलता है। इससे कई बार भाषा-विज्ञान के अध्ययन में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य हिन्दी भाषाविज्ञान के साथ सम्बन्धित सभी मुख्य अङ्गों का विवेचन एक साथ प्रस्तुत कर उस कठिनाई को दूर करना है।

प्रस्तुत पुस्तक देश-विदेश की अनेक उच्चकोटि की पुस्तकों का आधार ग्रहण करके लिखी है। मैंने देश-विदेश के अनेक विद्वानों से व्यक्तिगत रूप में भी बहुत कुछ सीखा है। उनमें से डा० सुकुमारसेन, डा. एस. एम. कत्रे, डा. ए. एम. घाटगे, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० पी. बी. पंडित, डा. उदयनारायण तिवारी, प्रो. गार्डन एच. फेयरबैंक्स, प्रो. एम. बी. इमेनू, डा. ले लिस्कर, डा० एम. ए. मेहन्दले जैसे उच्चकोटि के विद्वानों का लेखक विशेष ऋणी है। पिछले दिनों पूना में डा० सुकुमार सेन, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनारायण तिवारी और डा० एम. ए. मेहन्दले ने प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में जानकर अपना आशीर्वाद भी दिया। उसके लिये लेखक उनका और भी अधिक आभारी है। वस्तुत: यह पुस्तक विद्वानों और

पूज्य आचार्यों की कृपा और आशीर्वाद का ही फल है। इस सम्बन्ध में मैं नहीं जानता कि मैं किन शब्दों में डा० इन्द्रनाथ मदान और प्रिंसिपल सूर्यभानु का धन्यवाद करूं क्योंकि उनकी प्रेरणा, कृपा और सहयोग ही तो मेरी अमूल्य निधि है।

इनके अतिरिक्त इस पुस्तक के लिखने और प्रकाशित करने में मुझे अनेक साथियों, मित्रों और बन्धुओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उनमें सर्वश्री दिनेश प्रसाद शुक्ल, एच. ए. ढोलकिया, एस. एम. झंगियानी, शान्ति आचार्य जैसे अनेक सुलझे हुए मस्तिष्क के व्यक्ति हैं जिनके नामों की एक बहुत लम्बी सूची ही तैयार हो जायेगी। मैंने अपने विद्यार्थियों से बहुत कुछ सीखा है—उनका तथा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग देने वाले सभी व्यक्तियों का मैं कृतज्ञ हूं।

अन्त में, श्री कृष्णानन्द शास्त्री के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने अनथक लगन और परिश्रम के साथ इस पुस्तक को मुद्रित और प्रकाशित कराया है। उनके बिना सम्भवतः यह पुस्तक इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित न हो पाती। श्रीमती मोतिया प्रियदर्शिनी और सुभाष को तो धन्यवाद देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अनेक महानुभावों के सहयोग और परिश्रम से यह पुस्तक आपके हाथों में है। कुछेक स्थानों पर कुछ ग़लतियाँ भी रह गई हैं। विज्ञ पाठक उन्हें यथास्थान संशोधित करके ही पढ़ने का कष्ट करें। अगले सस्करण में इन ग़लतियों को सर्वथा दूर कर दिया जायेगा। इस पुस्तक के सम्बन्ध में जो भी सुझाव प्राप्त होंगे उनका सहर्ष स्वागत किया जायेगा।

ऋषिगोपाल

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, २०१७
डी. ए. वी. कालेज
जालन्धर

विषय-सूची

भाग १

भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्त

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या

भाग २

हिन्दी का क्रमिक विकास और विश्लेषण

परिशिष्ट

भाग १

भाषाविज्ञान के सामान्य सिद्धान्त

अध्याय १

भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन

भाषा और मानव-समाज का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव के सभी सामाजिक सम्बन्ध भाषा की भित्ति पर ही आधारित हैं। यदि भाषा न होती तो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ वैसा सम्बन्ध स्थापित न हो पाता जैसा भाषा के आधार पर स्थापित है। संसार के सभी मनुष्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये किसी न किसी भाषा का व्यवहार करते है। इसी के बल पर सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। विश्व की सम्पूर्ण प्रगति इसी पर आधारित है।

जिस भाषा का हमारे जीवन के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है—हम प्राय: उसकी ओर विशेष ध्यान नही देते। हमे ऐसा प्रतीत होता है कि ह अपनी मातृभाषा अपने आप सीख जाते है और विदेशी भाषा सीखने लिये हमे विशेष परिश्रम करना पडता है। इसमे कोई सन्देह नहीं मातृभाषा के व्याकरण-शुद्ध रूप अथवा साहित्यिक रूप को समझने के भी विशेष परिश्रम की आवश्यकता अनुभव की जाती है तथापि हम ' का अध्ययन अन्यान्य विषयो को समझने के साधन रूप मे करते है। को साध्य मान कर उसके वैज्ञानिक अध्ययन की ओर हम आकर्षण नही होता। अधिकाश मे भाषा एक माध्यम [illegible] की जाती है और इसे इस स्तर से कोई [illegible]

भाषा अपने आप मे [illegible]
अध्ययेत् भी इतना [illegible]

भाषा का अध्ययन किया बल्कि पशु-पक्षियों तक की भाषाओं के अध्ययन की ओर उनका ध्यान था ।[1] भाषा-सम्बन्धी जिज्ञासा की भावना भी उनकी उतनी ही प्रबल और विस्तृत थी जितनी अन्यान्य आत्मिक और भौतिक विषयों को हृदयंगम करने की तीव्र लालसा । हमारा यह सौभाग्य है कि इस विस्तृत परम्परा का कुछ अंश अभी तक स्थिर और विद्यमान है।

इसी प्रकार विश्व के अन्यान्य देशों में भी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर प्राचीन काल मे विशेष ध्यान दिया जाता था। इस सम्बन्ध मे ग्रीक-साहित्य विशेष उल्लेखनीय है।

आधुनिक युग मे भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर जितना अधिक ध्यान पाश्चात्य देशों मे दिया गया है उतना हमारे देश मे नहीं। यद्यपि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र मे अपनी प्राचीन विस्तृत परम्परा के कारण संस्कृत विशेषतया वैदिक भाषा अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है तथापि यह देख कर अत्यन्त दुःख होता है कि अपने देश की प्राचीन परम्पराओं को सजीव, सुरक्षित और विकसित करने मे उतना परिश्रम भारतवासियों द्वारा नहीं किया जा रहा। संस्कृत तथा अन्य प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा विभिन्न पश्चिमी देशों मे भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में बहुमूल्य कार्य किया जा रहा है। हमारे देश में इस विज्ञान के अध्ययन को न तो उतना महत्त्व दिया जा रहा है और न साधारणतया लोगों की रुचि ही इस विषय की ओर दिखाई देती है।

भारतवर्ष में किसी भाषा के साहित्य विषय के साथ ही थोड़ा बहुत भाषाविज्ञान का अध्ययन किया जाता है। साहित्य के अन्यान्य सरस विषयों की तुलना में यह विषय अत्यन्त शुष्क, नीरस और जटिल दिखाई देता है। कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना आदि साहित्यिक विषयों में तो

---

1. पातञ्जल योग सूत्र में लिखा है, "शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूत रुत ज्ञानम्" विभूतिपाद ३—१७।

किसी भी सहृदय व्यक्ति की वृत्ति पूर्णतया रम जाती है परन्तु भाषा विज्ञान की वैज्ञानिक शुष्कता कभी कभी तो साहित्य का अध्ययन करने वाले के लिये गले उतारनी मुश्किल हो जाती है। भाषा-विज्ञान में कहीं कलात्मक सौन्दर्य अथवा आकर्षण नहीं दिखाई देता। साधारण भाषा-विज्ञान की पुस्तक में विचित्र शब्दों और उनके विलक्षण उच्चारण-रूपों को देखकर ही उसे खोलने का साहस नहीं किया जाता। इस में कोई सन्देह नहीं कि भाषा-विज्ञान का विषय वैज्ञानिक अध्ययन के साथ सम्बन्धित है और इस विषय में सभी व्यक्तियों की रुचि नहीं हो सकती, फिर भी इस विषय की अधिकांश उपेक्षा अत्यन्त असह्य मानी जा सकती है।

हमारे देश में भाषा सम्बन्धी अध्ययन की जो विशाल परम्परा विद्यमान है उसे आगे बढ़ाना तो सभी देशवासियों का न केवल कर्त्तव्य है बल्कि उत्तर-दायित्व भी है। किसी भी विषय को केवल जटिल कहकर छोड़ देना या उस की उपेक्षा करना बुद्धिमत्ता का चिह्न नहीं कहा जा सकता वस्तुत: जटिलता या कठिनाई का सामना तो सभी विषयों में करना ही पड़ता है। जिसे आज हम सरल से सरल कार्य समझते हैं वही प्रारम्भ में अत्यन्त जटिल था परन्तु निरन्तर अभ्यास से उसकी सारी जटिलतायें दूर हो जाती हैं। हम साधारणतया मातृ-भाषा का सीखना सहज और स्वाभाविक मानते हैं, परन्तु छोटे से बच्चे को भाषा के अभाव में कितना संघर्ष करना पड़ता है और उसे सीखने के लिये वह कितना प्रयत्न करता है—यदि इसका विश्लेषण किया जाय तो निश्चय ही यह पता चल जायेगा कि यह कार्य उसके लिये कितना जटिल और प्रयत्नसाध्य था। यही बात भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। विज्ञान की प्रगति के कारण जहां भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है और नई नई जटिलतायें भी बढ़ती जा रही हैं वहां बहुत सी प्रारम्भिक कठिनाईयाँ भी लुप्त होती जा रही हैं और कई जटिलतायें सरलता का भी रूप धारण करती जा रही हैं।

प्राय: हम किसी विषय का अध्ययन उपयोगिता और अनुपयोगिता की तराजू पर तोल कर ही करना चाहते हैं। भाषा-विज्ञान एक वैज्ञानिक विषय है उसे उपयोगिता और अनुपयोगिता की संकुचित परिधि में लाना उचित नहीं। मानव का मस्तिष्क ज्ञान की अमित पिपासा से आक्रान्त है। मानव सब कुछ जान लेना चाहता है। उसकी यह जिज्ञासा अनन्त काल से अतृप्त रही है परन्तु फिर भी वह अपने क्षेत्र को बढ़ाता चला जा रहा है। किसी दिन तो वह सभी रहस्यों का परिचय प्राप्त कर ही लेगा। भाषा-विज्ञान भी वैज्ञानिक आधार पर मानव मस्तिष्क की जिज्ञासा को बढ़ाने और तृप्त करने का प्रयास करता है। यही उसकी सबसे बड़ी उपयोगिता है।

सम्भव है बहुत से लोग उपयोगिता की इस कसौटी को ठीक न समझें। यदि वे भारतवर्ष की भाषा सम्बन्धी स्थिति की ओर देखें तो उन्हें भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव होने लगेगी। भाषा की वास्तविक वैज्ञानिक स्थिति न समझ सकने के कारण कितनी भाषा-समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। हम चाहे एक भाषा सीखें चाहे अनेक भाषायें सीखलें परन्तु जब तक हमारा ध्यान भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर नहीं जाता तब तक इस प्रकार की समस्यायें किसी न किसी रूप में अवश्य उठती रहेंगी। इस प्रकार के विवाद भी उठते ही रहेंगे। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की अधिकांश उपेक्षा का ही यह परिणाम है।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन से भाषा के क्षेत्र में दृष्टिकोण व्यापक और विस्तृत हो जाता है। आन्दोलनात्मक संकुचित सीमाये नष्ट हो जाती हैं। यही कारण है कि मनुष्य कूपमण्डूकात्मक विचारों को छोड़कर उदारता की ओर उन्मुख हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन कोई जादू का डण्डा नहीं है जिसके बल पर भाषा की सारी समस्यायें दूर की जा सकती हों फिर भी इतना निश्चित है कि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन से उस संकुचित दृष्टिकोण को अवश्य दूर किया जा

सकता है जिसके कारण हमारी आंखो के आगे ऐसा आवरण सा छा जाता है कि हम निष्पक्ष रूप मे सत्य और असत्य का निर्णय नही कर पाते। सत्य कभी कभी अत्यन्त कटु भी हो सकता है परन्तु प्रिय लगने वाले असत्य से वह कई गुना अधिक अच्छा होता है। सत्य को कटु कहने वाले व्यक्ति का अपना ही दृष्टिकोण इतना सकुचित होता है कि वह सत्य की व्यापकता को नही समझ पाता। इसी सकुचित दृष्टिकोण को दूर कर मानव मस्तिष्क को व्यापक सत्य से परिचित कराना भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का ही कार्य है ।

सामान्य तौर पर जो शास्त्र अथवा विज्ञान उपयोगी और अत्यन्त आवश्यक माने जाते हैं उनके साथ भाषा-विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमे से कुछेक शास्त्र तो ऐसे है जिनके साथ भाषा-विज्ञान की इतनी घनिष्ठता है कि उनके भाषा-विज्ञान के साथ अन्तर को समझाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व व्याकरण की एक तुलनात्मक शाखा के रूप मे ही भाषा-विज्ञान का अध्ययन किया जाता रहा है परन्तु व्याकरण और भाषा-विज्ञान परस्पर एक दूसरे के सहायक होते हुए भी एक दूसरे मे भिन्न है । व्याकरण स्थिर भाषा के नियम निर्धारित कर देता है पर भाषा विज्ञान स्थिर भाषा मे होने वाले अवश्यम्भावी परिवर्तनो की व्याख्या करता है। इसीलिए भाषाविज्ञान को व्याकरण की व्याख्या कहा जाता है। व्याकरण का सम्बन्ध भाषा के 'क्या होना चाहिए' पक्ष के साथ है तो भाषाविज्ञान का सम्बन्ध भाषा के 'क्या होता है' पक्ष के साथ है। दोनो ही अपने अपने स्थान पर महत्वपूर्ण है। इतना अवश्य मानना पडेगा कि भाषाविज्ञान का क्षेत्र व्याकरण की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। व्याकरण किसी कालविशेष की एक ही भाषा से सम्बन्धित होता है परन्तु भाषाविज्ञान का क्षेत्र सारे संसार की भाषाये है। उसमे समय का भी कोई बन्धन नही। व्याकरण भाषाविज्ञान का बहुत ऋणी भी है क्योकि भाषा-विज्ञान द्वारा की गई व्याख्याओ को व्याकरण धीरे धीरे आत्मसात् कर लेता है ।

इसी प्रकार मानवीय विचारों और भावों के साथ सम्बन्धित होने के कारण भाषाविज्ञान का मनोविज्ञान से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य का तो यह एक विशेष अङ्ग ही माना जाता है। भाषा एक सामाजिक सम्पत्ति है इसलिए समाज शास्त्र के साथ इसका विशुद्ध सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इतिहास के साथ भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध को बताते हुए डा० श्यामसुन्दर दास के ये शब्द विशेष उल्लेखनीय हैं-"वह उस समय का इतिहास लिखने में सहायक होना है जिस समय का इतिहास स्वयं इतिहास को भी ज्ञात नहीं है।" भाषा-विज्ञान प्रागैतिहासिक खोज से सम्बन्धित एक स्वतन्त्र विषय बन चुका है। इसके आधार पर इतिहास की कई खोई हुई कड़ियों को जोड़ने का प्रयत्न किया जा रहा है और इस प्रयास में भाषाविज्ञानियों को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इसी प्रकार भूगोल और मानव शास्त्र के साथ भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आधुनिक युग में भाषाविज्ञान के साथ एक नया विषय वैज्ञानिक आधार पर शब्द-लहरियों (Sound-waves) का अध्ययन भी जुड़ गया है। यह अध्ययन अभी तक भौतिक-विज्ञान (Physics) की एक शाखा (Acoustics) के अन्तर्गत किया जाता रहा है। प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान में इसी के अनुसार अध्ययन करके ध्वनि के वैज्ञानिक अनुसन्धान में महत्त्वपूर्ण प्रगति की जा रही है।

ऊपर जिन शास्त्रों और विज्ञानों का उल्लेख किया गया है उनसे भाषाविज्ञान का आदान प्रदान दोनों चलता रहता है। अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में तो वे एक दूसरे पर निर्भर भी दिखाई देते हैं इसीलिए इन महत्त्व-पूर्ण शास्त्रों के समान ही इसकी भी उपयोगिता अनिवार्य रूप में मान्य है। एक शरीरविज्ञान ही ऐसा है जिसमें भाषाविज्ञान कुछ लेता ही है देता नहीं। ध्वनि यन्त्र के शारीरिक अवयवों का ज्ञान भाषाविज्ञान की दृष्टि से तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है परन्तु भाषाविज्ञान ने अभी तक शरीर-विज्ञान के अध्ययन के लिए कुछ प्रदान नहीं किया है।

जिस विज्ञान का सम्बन्ध मानव-ज्ञान की इतनी महत्त्व पूर्ण शाखाओं के साथ है उसकी यूं ही उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे देश की विचार धारा में ज्ञान का स्वतन्त्र महत्त्व रहा है। ज्ञान के अनन्त और अपार भण्डार को भरने के लिए भाषा-विज्ञान का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है। कम से कम हमारे देश में तो इसके अध्ययन की अत्यधिक आवश्यकता है।

भाषा विज्ञान

भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन ही भाषा-विज्ञान है। भाषाविज्ञान की संक्षेप में यही परिभाषा है। भाषा-विज्ञान में आने वाले विभिन्न विषयों का उल्लेख करते हुए कभी कभी इस परिभाषा को विस्तृत कर दिया जाता है और कभी कभी भाषा-विज्ञान के किसी एक विषय पर अधिक बल देने के कारण परिभाषा में उसी विषय का विस्तृत स्वरूप स्पष्ट कर दिया जाता है वस्तुत: भाषा-विज्ञान के किसी विशेष विषय को अधिक महत्त्वपूर्ण मान उसी के आधार पर उसकी परिभाषा करना ठीक नहीं। इतना कहना पर्याप्त है कि भाषा-विज्ञान में भाषा का सर्वाङ्गीन विवेचन और विश्लेषण वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है।

पाश्चात्य देशों में भाषा-विज्ञान के अनेक नाम प्रचलित रहे हैं। सबसे पहला नाम फाइलालोजी प्राप्त होता है। भाष-विज्ञान का अध्ययन ग्रीक,लेटिन आदि साहित्यिक भाषाओं के अध्ययन से प्रारम्भ हुआ था इसी लिये भाषा-विज्ञान का साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता था। फ़ाइलालोजी का अर्थ ही साहित्यिक दृष्टिकोण से भाषा का अध्ययन है।[1] बाद में भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के कारण इसे कम्पैरेटिव फ़ाइलालोजी कहा जाने लगा। व्याकरण के साथ इसके घनिष्ठ सम्बन्ध को देखते हुए और उससे इसका

---

1. P. D. Gune: An Introduction to Comparative Phylology.

अन्तर स्पष्ट करते हुए इसे कम्पैरेटिव ग्रामर (तुलनात्मक व्याकरण) का नाम भी दिया गया। फ़ान्स में इसे लिग्विस्टिक (Linguistique) या लिग्विस्टिक्स (Linguistics) नाम दिया गया। बाद में इस के तुलनात्मक रूप को स्पष्ट करने के लिये इस के साथ कम्पैरेटिव शब्द को भी जोड़ दिया गया। जैसे जैसे भाषा-विज्ञान की वैज्ञानिकता स्पष्ट होने लगी वैसे वैसे इसका नाम साइन्स ग्राफ़ लैंग्वेज (Science of Language) भी स्पष्ट होने लगा। परन्तु यह नाम बड़ा होने के कारण अधिक प्रचलित न हो सका। कुछ अन्य नाम भी सुझाये गये जिन में एफ़ जी. टॅकर (F.G. Tucker) का बताया हुआ ग्लॉटोलोजी (Glottology) नाम भी है[1] परन्तु ये नाम अधिकतर प्रयोग में नहीं ग्राये। अधिकांश में लिङ्ग्विस्टिक्स और फाइलालोजी शब्द ही प्रचलित हैं—दोनों का अर्थ भाषा का वैज्ञानिक ग्रध्ययन है। हिन्दी में भी तुलनात्मक भाषाशास्त्र, भाषाविचार, भाषा-शास्त्र, भाषातत्त्व, भाषाविज्ञान आदि शब्द प्रचलित रहे हैं परन्तु अधिकांश में भाषा विज्ञान ही अधिक प्रयोग में आता है और यही नाम है भी अधिक उपयुक्त।

विज्ञान है या कला

भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला—इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है परन्तु ग्राधुनिक युग में अधिकतर विद्वान् भाषा-विज्ञान को विज्ञान कहना अधिक उचित समझते हैं। आज का युग विज्ञान का युग माना जाता है विज्ञान ने हमारे सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है इसी लिये आज कल कला अथवा शास्त्र रूप में मानी जाने वाली ग्रनेक सामाजिक अध्ययन की शाखाओं को विज्ञान का नाम दे दिया गया है। यही कारण है कि हम समाज-शास्त्र, मन:शास्त्र, मानवशास्त्र, राजनीतिशास्त्र ग्रादि शब्दों में भी शास्त्र के स्थान पर

---

1. Introduction to Natural History of Language.

विज्ञान शब्द का प्रयोग करने लगे हैं। अपने अपने शास्त्र की वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिये विज्ञान की विशिष्ट परिभाषायें भी की जाती है। कहा जाता है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है — १. स्वाभाविक २ प्रयत्न साध्य। स्वाभाविक ज्ञान दैवी शक्ति से प्राप्त अथवा प्रकृतिप्रदत्त माना जा सकता है। प्रयत्न साध्य ज्ञान को बुद्धि के बल पर प्राप्त करना होता है। कुत्ते को तैरने का ज्ञान स्वाभाविक है मनुष्य को इसके लिये प्रयत्न करना पड़ता है। बुद्धि के बल पर प्राप्त होने वाले प्रयत्नसाध्य ज्ञान के भी दो भेद माने जाते हैं—विज्ञान और कला। विज्ञान और कला का एक मूल अन्तर यही है कि विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान सार्वदेशिक या सार्वभौम होता है। पृथ्वी चलती है यह सत्य सभी देशों के लिये एकसमान है परन्तु कला का क्षेत्र सीमित होता है। कविता, चित्र या सङ्गीत सार्वदेशिक नही होते। विज्ञान में विकल्प के लिये कोई स्थान नहीं परन्तु कला हमेशा विकलपयुक्त होती है। जो गीत या चित्र मुझे अच्छा लगे वह आवश्यक नहीं कि दूसरे के लिये भी वैसा हो। विज्ञान और कला का एक और अन्तर जो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं वह यह है कि विज्ञान का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्ति की भावना को तप्त करना है और कला का उद्देश्य मनोरञ्जन अथवा उपयोगिता है।

यदि हम भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि भाषा-विज्ञान के तथ्य सार्वदेशिक या विकल्परहित नही है। इसमें कोई सन्देह नही कि भाषा-विज्ञान अन्य विज्ञानों के सम न केवल ज्ञान-पिपासा को तृप्त करता है परन्तु भाषा-विज्ञान के तथ्यों अथवा नियमों को निरपवाद, निर्विकल्पक अथवा सार्वदेशिक नहीं कहा जा सकता। हमें इस विषय में इस बान को अवश्य स्मरण रखना है कि उन्नीसवीं शताब्दी में भाषा अथवा ध्वनि सम्बन्धी नियमों के बनाये जाने क पूर्व भाषा विज्ञान को विज्ञान नही माना जाता था। बाद में जब बॉप (Bopp) रास्क (Rask) और ग्रिम (Grimm) ने ध्वनि सम्बन्धी नियमों की व्याख्या प्रस्तुत की तो इन नियमों की वैज्ञानिकता को देखते हुए भाषा-विज्ञान को विज्ञान का नाम दिया जाने लगा। इसमे कोई सन्देह नहीं कि ध्वनि-नियमों

के कारण भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई परन्तु इन नियमों को शुद्ध नहीं कहा जा सकता था। एक समय था जब योरप के नवीन वैयाकरण (Neo-grammarian) रूप में विख्यात अनेक विद्वान् ध्वनि-नियमों को निरपवाद मानते थे। ये विद्वान सभी शब्दों की व्युत्पत्ति ढूंढते हुए कुछ ध्वनि-नियमों की निरपवाद सत्ता स्वीकार करते थे। यदि किसी नियम का कहीं कोई अपवाद दिखाई दे जाता तो वे उसके लिये भी किसी नियम को ढूंढने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार उनका विचार था कि भाषा का विकास अपने आप या संयोग वश नहीं होता बल्कि उस के भी कुछ प्राकृतिक नियमों के समान नियम हैं। कितना अच्छा होता कि उनकी यह बात ठीक होती। किसी भी भाषा के परिवर्तन की दिशा का विश्लेषण करते समय हमें अपवादों की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। उदाहरण के तौर पर संस्कृत में 'धर्म' और 'कर्म' शब्द हैं। ये दोनों शब्द प्राकृत में परिवर्त्तित होकर 'धम्म' और 'कम्म' बने। हिन्दी में 'कम्म' से 'काम' शब्द तो बना जैसे कि नियमों के अनुकूल है परन्तु 'धम्म' से धाम नहीं बना जो नियम के अनुसार बनना चाहिये था। भाषा में परिवर्तन मानवीय प्रवृत्तियों के कारण होते हैं और मानवीय प्रवृत्तियों को सुनिश्चित नियमों में नहीं बांधा जा सकता इसी लिये परिवर्तन के सामान्य और स्थिर नियम नहीं बनाये जा सकते।

यदि विज्ञान की निरपवाद और निर्विकल्प सत्ता को ही स्वीकार किया जाय तो भाषा-विज्ञान विज्ञान नहीं है परन्तु आज कल विज्ञान का अर्थ तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण भी किया जाना है। चाहे इसे विज्ञान कह दिया जाय या वैज्ञानिक प्रवृत्ति—बात एक ही है। भाषा-विज्ञान में तथ्यों के सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण की प्रवृत्ति बहुत अधिक देखने को मिलती है। किसी भी सामाजिक विज्ञान की अपेक्षा भाषा विज्ञान वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक विकसित है। विशेषतया भाषा-विज्ञान की एक शाखा ध्वनि-विज्ञान में जो प्रगति की गई उसके कारण भाषा-विज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अधिकाधिक प्रविष्ट होने लगा है और इसी के कारण भौतिक-विज्ञान

के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध भी स्थापित होने लग गया है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिये प्रयोग-शालाओं तक की आवश्यकता अनुभव की जाने लग गई है। सम्भव है कि कुछेक वर्षों में हम भाषा के उन सूक्ष्म और रहस्यात्मक नियमों को भी समझने लग जायें जो निरपवाद और निर्विकल्प रूप में भाषा का नियमन करते है। भाषा के अध्ययन की प्रवृत्ति अधिकाधिक वैज्ञानिक होती जा रही है। जिस प्रकार ऋतुविज्ञान के नियम कई बार धोखा दे जाया करते है फिर भी उसे विज्ञान माना जाता है उसी प्रकार भाषा-विज्ञान को विज्ञान कहना ही अधिक उपयुक्त है।

विषय-विभाजन

भाषा विज्ञान में जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है भाषा का सामान्य अध्ययन किया जाता है। भाषा क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई भाषा में परिवर्तन किन कारणों से होते है इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भाषा के सामान्य सिद्धांतों के अन्तर्गत समझने और जानने का प्रयत्न किया जाता है। भाषा का विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषण तीन रूपों में किया जाता है—(१) वर्णनात्मक (Descriptive), (२) तुलनात्मक (Comparative), (३) ऐतिहासिक (Historical)

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा के सम्पूर्ण अङ्गों का विशिष्ट विवेचन किया जाता है। आजकल इस रूप का बहुत अधिक विकास किया जा रहा है। इसके अन्तर्गत अनेक ऐसी शाखायें विकसित होती जा रही हैं जिनका अपना स्वतन्त्र स्थान भी बनता जा रहा है।

तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अन्तर्गत एक से अधिक भाषाओं की तुलना की जाती है। वस्तुत: भाषा-विज्ञान का आधुनिक अध्ययन इसी तुलनात्मक विशेषता के कारण ही इतनी अधिक प्रगति कर सका है। उन्नीसवीं शताब्दी तक तो भाषा-विज्ञान अधिकांश में तुलनात्मक ही कहा जा सकता है। आजकल भी इसका महत्त्व वैसा ही बना हुआ है।

ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के अन्तर्गत किसी भाषा के ऐतिहासिक विकास का सर्वाङ्गीण विवेचन किया जाता है। अनेक भाषाओं के तुलनात्मक विवेचन से उनका ऐतिहासिक रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। भाषाओं का जितना इतिहास स्पष्ट है उससे लाभ उठा कर भाषा-विज्ञानी इतिहास की उन अस्पष्ट कड़ियों को भी जोड़ने का प्रयत्न करता है जो समय के आवर्त मे कहीं खो गई है।

इन रूपो के भी दो पक्ष हो सकते है (१) सैद्धान्तिक पक्ष (२) व्यावहारिक पक्ष। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत केवल सामान्य सिद्धातों की समीक्षा की जाती है और उनका यथासम्भव सर्वसाधारण स्वरूप प्रतिष्ठित किया जाता है। व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत किसी विशेष भाषा या भाषा-समूह की विस्तृत विवेचना की जाती है। भाषा-विज्ञान के सामान्य सिद्धात उसका सैद्धान्तिक पक्ष है। व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत किसी भी भाषा को लिया जा सकता है—जैसे हिंदी। हिंदी की ध्वनियो, व्याकरणिक रूपो आदि का विश्लेषण वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का विषय है। हिंदी की गुजराती मराठी आदि के साथ तुलना तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का विषय है। भारोपीय भाषा अथवा वैदिक सस्कृत से लेकर हिंदी तक विकास की रूपरेखा निर्धारित करना ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान का विषय है। इसी प्रकार अन्य भाषाओ का भी विस्तृत अध्ययन वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक आधार पर किया जा सकता है। यह भाषा-विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष है।

भाषा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अध्ययन के लिए भाषाविज्ञान को मुख्यतया चार वर्गों मे बाटा जाता है। (१) ध्वनि-विज्ञान (Phonology), (२) पदविज्ञान या रूपविज्ञान (morphology), (३) वाक्यविज्ञान (syntax), (४) अर्थविज्ञान (semasiology, sematology, semantics)। इन का विवेचन आगे किया जायगा।

भाषाविज्ञान के इन रूपों के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों का भी अध्ययन किया जाता है। इनमें से कुछेक विषय उपर्युक्त विषयों से सम्बद्ध भी मानें जा सकते हैं। प्रागैतिहासिक खोज, व्युत्पत्तिशास्त्र आदि ऐसे ही विषय हैं। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध भाषित भाषा के साथ है लिखित भाषा के साथ नहीं परन्तु भाषा का जहां भाषित रूप नहीं मिलता वहां लिखित भाषा का ही आधार ग्रहण करना पड़ता है। लिखने में लिपि का महत्व पूर्ण स्थान है इसीलिए लिपि का वैज्ञानिक अध्ययन भी भाषा-विज्ञान का ही विषय मान लिया जाता है।

— — — —

ग्रत भी किसी भाव का सकेत करता प्रतीत होगा। ग्रन्यान्य योग साधनाओं में भाषा के कितने रूप हो सकते हैं जिनके द्वारा आत्मा ग्रौर परमात्मा ग्रथवा अन्य किसी दिव्य शक्ति का सम्बन्ध स्थापित हो सकता है उनके सम्बन्ध मे तो कोई अनुभवी व्यक्ति ही बता सकेगा।

भाषा के वैज्ञानिक ग्रध्ययन के क्षेत्र में भाषा के इतने विस्तृत ग्रर्थ को स्वीकार नही किया जाता। यदि हम भाषा के ग्रर्थ को थोड़ा संकुचित कर दे और उसे केवल शब्द तक ही सीमित करदे तो हम कह सकते है कि भाषा वह शब्द है जिसके द्वारा 'विचारों अथवा भावों को प्रकट किया जा सकता है परन्तु यह शब्द भी ग्रनेक प्रकार का है जिसमे पशु-पक्षी-कृत शब्द में भी ग्रतिव्याप्ति मानी जा सकती है। सम्भव है कि पशुपक्षियों की भी अपनी कोई व्यवस्थित भाषा हो। इस प्रकार की भाषा के उल्लेख प्राचीन सस्कृत साहित्य में तो मिलते ही है। आधुनिक युग में भी वानरों की एक भाषा का अध्ययन अमरीका के डा० मार्टिन एच० मोयनिहान कर रहे हैं। वे स्मिथ-सोनियन इन्स्टिट्यूशन्स पनामा बायलाजिकल एरिया के डायरेक्टर है। इन्होने इस अध्ययन में विशेष प्रगति भी की है। उनका यह विचार है कि वानर जो शब्द करते है उनका थोड़ा बहुत अर्थ उसी जाति के ग्रन्य वानर समझ लेते है। सरलतम वानरभाषा में ६ से ८ तक बड़ी ध्वनियां है। कठिन वानरभाषा मे १० से १२ तक बड़ी ध्वनियां मिलती हैं। सम्भव है इसी प्रकार वानरों की भाषाओं का अध्ययन करते हुए हम धीरे धीरे अन्य पशु-पक्षियों की भाषाओं का भी वैज्ञानिक अध्ययन कर सकें। परन्तु अभी तक भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन केवल मानवीय भाषा तक ही सीमित है इस लिये भाषा का वैज्ञानिक ग्रध्ययन करने के उपयुक्त संकुचित अर्थ करते समय हमें इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

इस दृष्टि से विचार करने पर भाषा की यह परिभाषा ग्रधिक उपयुक्त समझी जा सकती है। भाषा उन सार्थक ग्रौर विश्लेषण योग्य मानवीय ध्वनियों को कहते हैं जिनका प्रयोग विचारो और भावों को प्रकट

करने के लिये किया जाता है ।[1]

भाषा की विशेषतायें

भाषित रूप—'भाषा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'भाष्' धातु से हुई है। भाष् का अर्थ बोलना है। भाषा से हमारा अभिप्राय मुख्य रूप मे बोली गई ध्वनियो से होता है। यही कारण है कि भाषा के अन्य पर्याय-वाची शब्द वाक वाणी आदि तथा इसी के समानान्तर दूसरी भाषाओं के शब्द जैसे अंग्रेजी स्पीच, टङ्ग्, फारसी जबान आदि भी इसी भाषण-क्रिया को ही महत्त्व देते प्रतीत होते है। भाषा का एक अन्य रूप लिखित भी है। यद्यपि साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखित भाषा का अधिक महत्त्व समझा जाता है और सभ्य तथा सुसंस्कृत समाज इसी का अधिक व्यवहार करता है तथापि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन मे भाषित भाषा का ही अधिक महत्त्व होता है। इस के तीन कारण है। एक तो यह कि मानव समाज ने सबसे पहले भाषित भाषा का ही प्रयोग किया था। बोलने के अनेक वर्षों बाद ही लिखने का आविष्कार किया गया। दूसरे, सब से पहले बच्चा बोलना ही सीखता है; बोलना अच्छी तरह सीख जाने के बाद ही उसे लिखना सिखाया जाता है। तीसरे, आज भी बहुत सी ऐसी आदिम जातिया है जिनकी अपनी भाषित भाषा तो है परन्तु उन्होने अभी तक अपनी भाषा को कोई लिखित रूप नही दिया। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में उन अलिखित भाषाओं का उतना ही महत्त्व है जितना उन भाषाओं का जिनका लिखित रूप भी विद्यमान है। वस्तुत: लिखित भाषाओं के भी भाषित रूप को जितना महत्त्व दिया जाता है उतना लिखित रूप को नही। इस लिये भाषित भाषा का स्थान मुख्य है और लिखित भाषा का स्थान

"A System of Communication by sound, *i. e.* through the organs of speech and hearing, among human beings of a certain group or community, using vocal symbols possessing arbitrary conventional meanings." Dictionary of Linguistics, Mario A. Pei and Frank Gaynor.

गौण है। लिखित भाषा हमारे अध्ययन में वहां तक सहायता पहुँचाती है जहां तक हमें उसका भाषित रूप नहीं मिलता। वैदिक संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का अध्ययन उनके लिखित रूप से ही किया जाता है परन्तु उस लिखित रूप के अध्ययन में भी उसके तात्कालिक वास्तविक उच्चारण का अनुमान लगाने का यथासम्भव प्रयत्न किया जाता है।

भाषा के दो आधार :—साधारणतया भाषा के दो आधार माने जाते है :—(१) भौतिक (२) आन्तरिक। दोनों ही समान रूप से महत्त्व-पूर्ण हैं और अन्योन्याश्रित हैं। भाषा की वैज्ञानिक परिभाषा के अन्तर्गत ही भाषा की चार विशेषताये पूर्णतया स्पष्ट हो जाती हैं—(१) मानवीयता (२) विश्लेषणयोग्यता (३) व्यक्त ध्वनियां (४) विचार और भाव। यदि हम इन चार विशेषताओं को दो भागों में बाँटना चाहें तो कह सकते हैं कि भाषा की दो विशेषताये हैं :—(१) मानवीय विश्लेषणयोग्य व्यक्त ध्वनियां (२) विचार और भाव। पहली विशेषता अर्थात् ध्वनियां भाषा का भौतिक अथवा बाह्य आधार हैं, दूसरी विशेषता अर्थात् विचार और भाव आन्तरिक आधार हैं। यदि ध्वनियां न होतीं तो विचारों और भावों को प्रकट करने का कोई भी साधन न होता और यदि विचार और भाव न होते तो ध्वनियों का प्रश्न ही नहीं उठता। ध्वनियों के द्वारा हम अपने विचारों और भावों को व्यक्त करते हैं। यही भाषा का स्वरूप है। यहां हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भाषा केवल विचारों और भावों को व्यक्त करने का ही साधन नहीं है बल्कि अपने आप स्वतन्त्र रूप में सोचने का भी साधन है। यद्यपि सोचते समय प्रत्यक्ष रूप में हम ध्वनियों का प्रयोग नहीं करते फिर भी यदि ध्वनियां न होतीं तो हम सोच नहीं सकते थे। हम जब भी सोचते है तब किसी न किसी भाषा का मूर्त्त रूप हमारे मस्तिष्क में रहता है। यही उसका ध्वनि रूप है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विचार और भाव भाषा की आत्मा हैं और ध्वनियां उसका शरीर। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकनी।

भाषा अर्जित सम्पत्ति है

साधारणतया जब हम सम्पत्ति शब्द का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि यह हमारी सम्पत्ति है तो इसके तीन अर्थ हो सकते हैं :—(१) यह सम्पत्ति हमें पैतृक परम्परा से प्राप्त है। (२) यह सम्पत्ति हमने अपने आप कमाकर बनाई है। (३) यह उस समाज की सम्पत्ति है जिसके हम अङ्ग है जैसे यह हमारा कालेज है, हमारी धर्मशाला है इत्यादि। जो सम्पत्ति परम्पराप्राप्त होगी वह अर्जित और सामाजिक नही हो सकती, इसी प्रकार जो अर्जित सम्पत्ति होगी वह परम्पराप्राप्त और सामाजिक नहीं हो सकती। भाषा हमारी सम्पत्ति है। ऐसा कहते समय हम तीनों शब्दों का एक साथ प्रयोग कर सकते है अर्थात् भाषा हमारी वह सम्पत्ति है जो परम्पराप्राप्त भी है, अर्जित भी है और सामाजिक भी।

प्राय: लोग यही समझते है कि भाषा परम्परा प्राप्त है। बच्चे सबसे पहले उसी भाषा को ही सीखते है जो भाषा उनके माता-पिता की होती है। इसीलिए अपना पहली सीखी हुई भाषा को मातृभाषा कहा जाता है। पहली पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी भाषा सीखती है। इसी तरह दूसरी पीढ़ी तीसरी पीढ़ी को भाषा सिखाती है। यदि इसी अर्थ में परम्पराप्राप्त शब्द का अर्थ ग्रहण किया जाय तो यह मानना ठीक रहेगा कि भाषा परम्पराप्राप्त होती है। परन्तु जिस प्रकार परम्पराप्राप्त सम्पत्ति बिना परिश्रम के स्वाभाविक तौर पर प्राप्त हो जाती है, वैसे भाषा प्राप्त नहीं होती। भाषा सीखने के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। बच्चा स्वाभाविक तौर पर ही उसे नही सीख जाता बल्कि उसे भाषा का अर्जन करना होता है। इस लिये भाषा को अर्जित सम्पत्ति माना जाता है।

भाषा केवल परम्पराप्राप्त है—ऐसा मानना भूल है। पैदा होते ही बच्चे की कोई अपनी भाषा नहीं होती वह तो जिन लोगों के अधिक सम्पर्क में रहता है उन्हीं से भाषा सीखता है जिन में विशेषतया मां और सामान्यतया परिवार के अन्य लोगों तथा पास पड़ौस के लोगों का भी

विशेष हाथ रहता है । यदि पैदा होते ही बच्चा ऐसे वातावरण में पलने लग जाय जहां उसके निकट सम्पर्क में रहने वाले लोग उसकी मातृभाषा से भिन्न भाषा बोलने वाले हों तो बच्चा मातृभाषा को नहीं सीखेगा। बल्कि अपने आसपास के वातावरण की ही भाषा सीखेगा। पैतृक-परम्परा का इसमें कोई हाथ नहीं रहता। जो लोग अपनी इच्छा से या किसी कारणवश अपने पैतृक स्थान से दूर चले जाते हैं वे लोग शीघ्र ही अपनी भाषा भूल जाते हैं और अपने नये स्थान की भाषा ग्रहण कर लेते हैं। परिणाम स्वरूप उनकी आगामी पीढ़ियों का सम्बन्ध अपनी भाषा से छूट जाता है। भारत में बसे हुए पारसी अपनी भाषा न बोलकर भारत की गुजराती या उर्दू भाषा ही बोलते हैं। कहते हैं कि मिस्र के राजा सैमेटिकुस ने दो बच्चों को पैदा होते ही पृथक् कर दिया था। वे बच्चे कोई भी भाषा नहीं सीख पाये। इसी प्रकार का एक परीक्षण अकबर ने भी कराया था। उसका भी यही परिणाम निकला। आजकल भी जिन बच्चों को भेड़िये उठा ले जाते हैं वे कोई भी मानवीय भाषा नहीं बोलते। सन् १९२० में एक भेड़िये की गुफा में दो बच्चे मिले थे। एक की उम्र आठ वर्ष की थी और दूसरे की दो वर्ष की। छोटा बच्चा तो कुछ महीने बाद मर गया परन्तु आठ वर्ष की लड़की जिसका नाम बाद में कमला रखा गया सन् १९२९ तक जीवित रही। कमला केवल भेड़िये की तरह आवाजें करती थी। वह कोई भी मानवीय भाषा नहीं सीख पाई थी। अमरीका में एक अवैध बच्ची अन्ना को छः महीने की आयु में अलग कमरे में रख दिया गया था। सन् १९३८ में पांच वर्ष बाद उसका पता चला। वह कोई भी भाषा नहीं जानती थी।[1]

---

1. "Kamala brought with her almost none of the traits that we associate with human behaviour. She could only walk on all fours, possessed no language save wolf-like grows, and was as sky of humans as was any other undomesticated animal...:.......When Ann› was discovered, she could not walk or speak. Society R. M. Maciver and charles H. Page 45, (1950).

भाषा अर्जित सम्पत्ति है, इसका अर्थ यही है कि बच्चे को भाषा सीखनी पड़ती है। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि बच्चा अपनी भाषा स्वयं बनाता है और वह उसकी अपनी ही है। वस्तुतः भाषा सामाजिक है। वह समाज की देन है और इसीलिए समाज की सांझी वस्तु है। यदि कोई व्यक्ति अन्य अर्जित सम्पत्ति के समान भाषा को भी केवल अपनी ही वस्तु मानने लग जाये अथवा अपनी किसी नई भाषा का निर्माण करले तो वह ठीक नहीं होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा परम्परा से प्राप्त की जाती है परन्तु अर्जित है और साथ ही वह सामाजिक सम्पत्ति है।

भाषा परिवर्तनशील और स्थिर है

संसार की प्रायः सभी चीज़ें परिवर्तनशील मानी जाती हैं। भाषा भी परिवर्तनशील है। संसार की कुछ चीजों में परिवर्तन जल्दी हो जाता है परन्तु कुछ ऐसी भी होती हैं जिनमें परिवर्तन इतना धीरे धीरे होता है कि हम उसे समझ या देख भी नहीं पाते। भाषा में परिवर्तन धीरे धीरे होता है। यदि हम आधुनिक भाषाओं के इतिहास की ओर ध्यान दें तो यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी क्योंकि ये सब भाषायें प्राचीन भाषाओं का परिवर्तित रूप हैं। भारतवर्ष में प्रचलित हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि अनेक भाषायें प्राचीन वैदिक सस्कृत से परिवर्तित हो कर ही तो बनी हैं। संस्कृत का 'पत्र' शब्द ही तो 'पत्ता' बन गया और संस्कृत का 'कुम्भकार' शब्द ही कुम्हार' के रूप मे परिवर्तित हो गया है। इसी प्रकार अनेक उदाहरण अन्यान्य भाषाओ में से भी दिये जा सकते हैं।

भाषा परिवर्तनशील है। इस विषय में सभी एक मत हैं परन्तु इस परिवर्तन को बताने के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इनमें से वृद्धि, विकास, उन्नति, सुधार, अवनति, ह्रास[1] आदि शब्द मुख्य हैं।

---

1. Growth, Development, Evolution, Improvement, Decay.

इन शब्दों के आधार पर ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि परिवर्तन के सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में एकमत्य नहीं है। परिवर्तन दो प्रकार का होता है :—१ वृद्धि, विकास या उन्नति और २. ह्रास या अवनति। भाषा परिवर्तित होकर विकसित होती है या भ्रष्ट। इसी बात को लेकर ही वादविवाद किया जाता है। जो लोग परम्परावादी हैं और अपनी प्राचीनता के परम उपासक हैं वे तो सभी प्राचीन बातों को सर्वश्रेष्ठ ही मानते हैं। यही कारण है कि वे प्राचीन भाषा को भी सर्वाधिक उन्नत मानते हैं। जो लोग डार्विन के विकासवादी सिद्धांत से प्रभावित हैं वे तो हर दिशा में मानवता के विकास की ही बात करते हैं। इसलिये भाषा भी उन्हें प्राचीन भाषा की अपेक्षा अधिक उन्नत दिखाई देती है। कुछ विद्वान् ऐसे हैं जिन्हें हम परम्परावादी अथवा विकासवादी वर्गों के अन्तर्गत स्पष्टतया नहीं रख सकते। परन्तु जिन प्राचीन भाषाओं का अध्ययन उन्होंने किया है उनसे वे इतने प्रभावित हुए हैं कि वे भाषा की उन्नति की बात मुंह से निकाल ही नहीं सकते। इस अन्तिम श्रेणी के विद्वानों में विलियम जोन्स (William Jones) और मैक्समूलर (Max Muller) का नाम लिया जा सकता है। मैक्समूलर ने तो अपने विचार बहुत स्पष्ट रूप में व्यक्त किये हैं। उन के विचार में आर्य भाषाओं का इतिहास ह्रास के क्रमिक स्वरूप को ही स्पष्ट करता है। संस्कृत ग्रन्थों में विकृत, अपभाषित, म्लेच्छित, अपभ्रंश, अपभ्रष्ट, विभ्रष्ट शब्दों का प्रयोग भी भाषा के ह्रास की ही अधिक पुष्टि करता है।

यदि हम इस प्रकार के वाद-विवाद से बचना चाहें तो परिवर्तन का सर्वमान्य शब्द व्यवहार में ला सकते हैं। भाषा में परिवर्तन होता है। उसे चाहे विकार कह दें चाहे विकास, बात एक ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शब्दों का अशुद्ध उच्चारण ही परिवर्तित रूप बनकर मान्य होने लगता है तो हम उस परिवर्तन को अशुद्ध, विकृत और अनुचित कहते हैं परन्तु जब वही सर्वमान्य हो जाता है तो हम उसी को शुद्ध रूप मानकर अपना लेते हैं। हमारे पास ऐसी कोई कसौटी नहीं जिस

से हम परिवर्तित रूप के खरे-खोटे, अच्छे-बुरे होने की परीक्षा कर सकें। संस्कृत का 'सप्त' शब्द अच्छा है या उसका परिवर्तित रूप 'सात' इसे बताने का हमारे पास कोई साधन नहीं। इसलिये हम अच्छे-बुरे, उन्नति-अवनति, विकास-विकार के चक्कर में न फस कर वृद्धि या ह्रास दोनों को परिवर्तन के अर्थ में ही ग्रहण करलें तो अधिक ठीक होगा।

भाषा की एक विशेषता परिवर्तनशील्लता है तो दूसरी विशेषता स्थिरता भी है। भाषा में परिवर्तन होता है परन्तु बहुत धीरे धीरे। यह परिवर्तन इतने धीरे धीरे होता है कि हम कभी कभी भाषा के प्रतिक्षण परिवर्तन की बात मान ही नहीं सकते। वस्तुत: भाषा का उद्देश्य विचारों और भावों को प्रकट करना है। इस रूप में भाषा एक पीढ़ी और दूसरी पीढ़ी में कड़ी का काम करती है। यदि भाषा हर दूसरे दिन बदल जाये तो वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकती। इसीलिये मानव-समाज अपनी भाषा के स्वरूप को स्थिर रखने का भरसक प्रयत्न करता है। जो परिवर्तन स्वाभाविक या अलक्षित रूप में हो जाते हैं उन पर तो उसका वश नही चलता।[1] जब पहले पहल बच्चा भाषा सीखते समय कुछ गलतियां करता है तो मां बाप थोड़ी देर के लिये भले ही अपना मन बहलालें परन्तु जल्दी ही वे उसकी गलतियां ठीक करने का प्रयत्न करते हैं। सभी लोग अपनी ओर से शुद्ध भाषा ही सीखते है चाहे वह शिक्षित हों चाहे अशिक्षित। इसीलिये भाषा स्थिर रह पाती है।

---

1. **बच्चा जब केला, काका, कमला के स्थान पर तेला, ताता, तमला कहता है तो उसकी इन गलतिओं को ठीक करने का प्रयत्न किया जाता है। बच्चा आसान लगने वाली ध्वनियों को जल्दी सीख जाता है। दूसरी जटिल ध्वनियों को सीखने में उसे समय लगता है। विस्तृत विवरण के लिये देखिये** : Jesperson : Language, Its Nature, Development and Origin.

अध्याय ३

भाषा की उत्पत्ति

यद्यपि ज्ञान विज्ञान की अनेक शाखाओं के विस्तार से विविध रहस्यों को जानने और विभिन्न शङ्काओं का समाधान करने का पूरा प्रयास किया जाता रहा है, तथापि कुछ ऐसी समस्यायें या रहस्य हैं जिनका समाधान नहीं किया जा सका। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न वस्तुतः ऐसा ही प्रश्न है जिसका वैज्ञानिक हल प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न मानव की उत्पत्ति और मानव-मन में विचारों और भावों की उत्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ है। जब तक यह निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता कि मानव की उत्पत्ति कैसे हुई और उसके मन में विचार और भाव किस प्रकार जागृत हुए तब तक भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न हल नहीं किया जा सकता। अभी तक मानव-विज्ञान और मनोविज्ञान ने मानव और विचार सम्बन्धी प्रश्नों को हल नहीं किया है। यही कारण है कि अनेक भाषा-शास्त्री भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार तक नहीं करना चाहते क्योंकि वे अच्छी तरह समझते हैं कि इस समस्या का कोई हल नहीं ढूंढा जा सकता[1]।

---

1. **इटली के प्रसिद्ध विद्वान् मेरियो पाई** (Mario Pai) **ने लिखा है :—**

"If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved." See The story of Language. Page 18 (1952)

इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव के ज्ञान की सीमाएँ हैं।[1] इसीलिये उस सीमा से आगे बढ़ना असम्भवप्राय: है तथापि मानव का अतृप्त मन सीमाओं के बन्धन को पूरी तरह से नहीं मानता। उसकी जिज्ञासा आकाश के कृत्रिम आवरण को चीर कर सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्यों को जान लेने की उत्कट भावना से प्रेरित होकर निरन्तर आगे की ओर बढ़ती रहती है। इसीलिये भाषा की उत्पत्ति के विचार को असाध्य मानकर छोड़ देना उचित नहीं। जहां तक सम्भव हो इस समस्या का हल ढूंढना ही चाहिये। इसीलिये अनेक भाषाशास्त्री इस पर गम्भीरता से विचार करते रहते हैं।

किसी भी विषय की खोज करने के लिये प्राय: दो मार्गों का अनुसरण किया जाता है :—१. प्रत्यक्ष मार्ग (Deductive method) २ परोक्ष मार्ग (Inductive method)। प्रत्यक्ष मार्ग में सामान्य सिद्धांतों का निर्माण किया जाता है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष मार्ग का अनुसरण करते हुये प्राचीनता के आधार पर अर्वाचीनता को समझने का प्रयास किया जाता है। इसके विपरीत परोक्ष मार्ग मे आधुनिक भाषाओं के स्वरूप का वैज्ञानिक निरीक्षण कर प्राचीन अथवा परोक्ष भाषा तक पहुंचने का प्रयास किया जाता है।

प्रत्यक्ष मार्ग का अनुसरण करने वाले विद्वानों की विचार धाराओं को भी दो वादों के आधार पर विभाजित किया जा सकता है—
१. परम्परावाद २. विकासवाद।

परम्परावादियों के अनुसार सारी सृष्टि का निर्माण करने वाला परमेश्वर है। मानव का निर्माण उसी ने किया। मानव मन में विचारों

अमरीका के प्रसिद्ध विद्वान् जे. वेण्ड्रिएस ने भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं :—

"The problem of the origin of language does not admit of any satisfactory solution." See Language. Page 315 (1952)

और भावों की सृष्टि भी उसी ने की और उन मानवीय विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम अर्थात् भाषा का निर्माण भी उसी ने किया। ईश्वर पर विश्वास रखने वाले सभी परम्परावादी इस मूल सिद्धांत को तो मानते हैं परन्तु जिस प्रकार भिन्न भिन्न धर्म को मानने वाले लोगों की ईश्वर सम्बन्धी धारणा भिन्न है उसी प्रकार मूल या आदिभाषा के सम्बन्ध में भी उनके विचार भिन्न हैं। उदाहरणतया भारतवर्ष के आर्य लोगों का विश्वास है कि ईश्वर ने वैदिक संस्कृत का निर्माण किया[1]। इसी भाषा में ही पुरातन ऋषियों को वैदिक ज्ञान ईश्वर की प्रेरणा से प्राप्त हुआ था। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में इसी सिद्धांत को स्वीकार किया जाता है। बाइबल मूल रूप में प्राचीन हीब्रू भाषा में लिखी गई थी। बाइबल में अनेकों स्थानों पर स्पष्ट रूप में लिखा हुआ है कि ईश्वर हीब्रू जाति के लोगों के साथ बातचीत किया करता था[2]। ईश्वर की बातचीत का माध्यम हीब्रू भाषा ही हो सकती है। बाइबल में यह भी लिखा है कि प्राचीन काल में सारी पृथ्वी पर केवल एक ही भाषा थी[3]। परन्तु बेबल में एक मीनार के निर्माण के बाद अनेक शाखाएं निकल आईं[4]। कुछ लोगों ने तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हीब्रू से सारी भाषाओं की उत्पत्ति के सिद्धांत को सिद्ध करने का भी प्रयास किया है। मिश्र के लोग भी 'न्द्व-न्त्र' अर्थात् देव भाषा शब्द का प्रयोग करते हैं। यूनान के सुप्रसिद्ध

---

1 देवीं वाचमजनयन्त देवाः—ऋग्वेद।
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थांश्च निर्ममे। मनुस्मृति १/२१
संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः। दण्डी, काव्यादर्श १/३३

2. "God, at Sundry times and divers manners spake in times past unto the fathers by the prophets." Epistle.
3. "And the whole earth was of one language, and of one speech". Genesis 11.1.
4. See Genesis 11. 2—10.

महाकवि होमर ने भी देवभाषा का उल्लेख किया है। मुसलमानों का यह विचार है कि खुदा ने पैगंबर हज़रत मुहम्मद को अरबी भाषा ही सबसे पहले सिखलाई।

कुछ परम्परावादी ऐसे भी हैं जो ईश्वर पर विश्वास न रखने के कारण भाषा को ईश्वरप्रदत्त तो नहीं मानते परन्तु अपनी धार्मिक परम्पराओं के कारण अपने धर्म की भाषा को ही आदि भाषा मानते हैं। बौद्ध लोग पालि (मागधी) और जैन लोग-आर्ष या अर्द्धमागधी को आदि भाषा मानते हैं।

हमारे पास ऐसा कोई वैज्ञानिक साधन नहीं जिसके आधार पर विभिन्न परम्परावादी विचारों का युक्ति संगत परीक्षण किया जा सके और किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके। पालि व्याकरण लिखने वाले बौद्ध विद्वान् कच्चायन ने अवश्य एक बात लिखी है जिसके आधार पर इन मतों की परीक्षा की जा सकती है। उनका कहना है कि यदि बच्चे को कोई भाषा न सिखलाई जाए तो वह मागधी भाषा ही बोलेगा। परन्तु आजतक इस प्रकार के जितने प्रयोग किये गये हैं, जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, यह बात सिद्ध नहीं की जा सकी। जैन लोगों का यह विश्वास है कि पशु-पक्षी तक अर्द्धमागधी भाषा को समझ लेते है। परन्तु इसका भी कोई युक्ति-संगत प्रमाण नहीं है।

इतनी बात तो स्पष्ट ही है कि बच्चा मां के पेट से कोई भी भाषा सीख कर नहीं आता और इस समय तक प्राप्त भाषाओं में से किसी एक भाषा को वैज्ञानिक आधार पर ईश्वर-कृत, स्वाभाविक अथवा दिव्य शक्ति से उत्पन्न नहीं माना जा सकता। इसके कुछ अन्य कारण भी हैं। हर्डर का कहना है कि यदि भाषा का निर्माण ईश्वर ने किया होता तो वह अधिक पूर्ण और युक्तिसंगत होती। हर्डर का एक और आक्षेप भी है कि अधिकांश

भाषाओं में धातुओं से संज्ञा शब्दों की उत्पत्ति देखी जाती है यदि भाषा ईश्वरकृत होती तो भाषा का प्रारम्भ संज्ञा शब्दों से होता ।[1] भाषा की अपूर्णता और सदोषता देखते हुए तो यही कहना पड़ेगा कि भाषा ईश्वरकृत नहीं । इसी लिये दिव्य उत्पत्ति का सिद्धांत अमान्य है ।

प्रत्यक्षमार्ग के अन्तर्गत दूसरा वाद विकासवाद है । विकासवाद के अन्तर्गत भी मत-विभिन्नता देखने को मिलती है । वस्तुतः इन्हीं विभिन्न मतों के आधार पर ही समन्वित विकासवाद के सिद्धांत का विकास हुआ है । इस लिये इन विभिन्न मतों पर भी संक्षेप से विचार करना अनुचित न होगा ।

१. सांकेतिक उत्पत्ति या निर्णय सिद्धांत (Conventional or symbolical origin)

समाज और सामाजिक संस्थाओं के निर्माण के सम्बन्ध में फ्रांस के सुप्रसिद्ध लेखक जे जे रूसो (J.J. Rousseau) के अपने विशिष्ट विचार थे । उन्हीं विचारों के आधार पर उसने बताया कि भाषा की उत्पत्ति मनुष्य ने की । आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है । जब मनुष्य को सामाजिक व्यवहार के लिये भाषा की आवश्यकता प्रतीत हुई तो परस्पर मिलकर

---

1. **डेनिश लेखक जैस्पसैन ने गाटफ्राईड हर्डर के इन दोनों आक्षेपों का उल्लेख किया है : -**

"One of Herder's strongest arguments is that if language had b.en framed by God and by Him instilled into the mind of man, we should expect it to be much logical, much more imbued with pure reason than it is an actual matter of fac.t"

दूसरा आक्षेप है :—

"And nouns are created from verbs, whereas according to Herder, if language had been the creation of God, it would inversely have begun with nouns, as that would have been the logically ideal order of procedure." Language Its Nature, Development and Origin. Page 27—28.

उसने भाषा का निर्माण कर लिया होगा। इससे पूर्व केवल इशारों से ही काम चला लिया जाता होगा। रूसो का यह विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह सर्वथा असङ्गत है। यह समझ में नहीं आता कि जब मनुष्य के पास कोई भाषा नहीं थी तो उसने सभी लोगों को इकट्ठा कर भाषा के निर्माण की बात किन साधनों से कही होगी। केवल सङ्केतों से तो यह काम नही किया जा सकता। भाषा का निर्माण कृत्रिम रूप पर तो हो ही नही सकता—इसका विकास स्वाभाविक रूप में हुआ है।

२. धातु सिद्धान्त (Root theory)

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर (Max Mullar) ने हेज़ (Heyes) के विचारों के अनुसार इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था कि आदिकाल में मनुष्य मे एक ऐसी शक्ति थी जिस के द्वारा चार पांच सौ धातुओं का निर्माण किया गया। इन चार पांच सौ धातुओं से ही भाषा की उत्पत्ति हुई। चार पांच सौ धातुओं को पैदा करने वाली वह शक्ति बाद में अनावश्यक हो जाने के कारण नष्ट हो गई। यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं। सब से पहले तो चार पाच सौ धातुओं को पैदा करने वाली शक्ति केवल मैक्समूलर के मस्तिष्क की कल्पना है—इस के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं। दूसरे, यदि वह शक्ति थी भी तो वह कहां से आई और कैसे लुप्त हो गई ? तीसरे, संसार की सभी भाषाएं धातुओं पर आधारित नही हैं। संस्कृत अवश्य धातुओं पर आधारित है परन्तु चीनी आदि कई भाषाये ऐसी भी हैं जिन में धातु हैं ही नहीं।

३. अनुकरणमूलकता वाद (Bow-wow या Onomatopoeic theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार यह कल्पना की जाती है कि मनुष्य ने पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण कर कुछ शब्द बनाये होगे और उन्ही से भाषा की उत्पत्ति हुई होगी। ससार की अनेक भाषाओं में इस प्रकार के शब्द विद्यमान हैं। उदाहरण के तौर पर कोयल की आवाज़ के आधार पर अंग्रेज़ी कूकू (Cuckoo) शब्द का निर्माण किया गया। बिल्ली की आवाज

के आधार पर म्याऊं और कुत्ते की आवाज के आधार पर भौं भौं शब्द बने। चीनी भाषा में भी बिल्ली के लिये मियाऊ शब्द है। यह मत आंशिक रूप में ही ठीक है। भाषाओं में इस प्रकार के अनुकरणात्मक शब्द बहुत कम हैं। उन्हीं के आधार पर पूरी भाषा की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरे, मनुष्य स्वयं भी तो कुछ ध्वनियाँ बोल सकता था। अपनी ध्वनियों को छोड़ कर उसने केवल पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण क्यों किया ? तीसरे, कुछ भाषायें ऐसी भी हैं जिन में इस प्रकार के शब्द हैं ही नहीं जैसे उत्तरी अमरीका की एक आदिम जाति अथबस्कन की भाषा।[1]

४. मनोभावाभिव्यञ्जकवाद (Pooh-Pooh theory)

अनुकरणमूलकतावाद के आधार पर ही इस वाद का विकास किया गया। पहले वाद में केवल पशु-पक्षियों की ध्वनियों की ओर ध्यान दिया गया था – इस वाद में प्राणिमात्र के मनोभावों को व्यक्त करने वाली ध्वनियों की ओर संकेत है। विकासवाद के प्रवर्त्तक डारविन का यही विचार था कि हस्त-संकेतों के स्थान पर अनजाने ही मानव मुंह से कुछ ध्वनियां निकालने लगा[2]। इस प्रकार की मनोभावाभिव्यञ्जक ध्वनियों से बने शब्दों से भाषा की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार के शब्द सभी भाषाओं में हैं जैसे ओह, छि: छि:, धत् इत्यादि। इसी प्रकार की ध्वनियों से बाद में कुछ शब्द बने – जैसे छीं से छींकना, धिक् से धिक्कार[3]। मनोभावाभिव्यञ्जक शब्दों की संख्या बहुत कम होने के कारण इस मत को भी केवल आंशिक रूप में ग्राह्य समझा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि एक ही मनोभाव को व्यक्त करने के लिये भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न

---

1. **मैक्समूलर ने लिखा है**—Herder strenuously defended it, but later renounced it.

2. दे. The Expression of Emotions.

3. **इसी आधार पर शब्दों की विचित्र व्याख्या के लिए दे.** George Willis की लिखी हुई The Philosophy of Speech.

शब्द हैं। यदि केवल मनोभावों के आधार पर ये शब्द बने होते तो सभी भाषाओं में समान होते क्योंकि मानव मात्र के मनोभाव प्राय: एक जैसे ही हैं।

५. यो हे हो वाद (Yo-he-ho theory)

इस सिद्धान्त को प्रतीकवाद या श्रमपरिहरणमूलकता वाद भी कहा जाता है। इसके अनुसार मज़दूर आदि कोई बहुत परिश्रम का काम करते हुए स्वाभाविक तौर पर हो हो—ही हो आदि ध्वनियों को निकालते हैं। इन्हीं के आधार पर भाषा की उत्पत्ति हुई होगी। यह मत भी आंशिक रूप से मान्य हो सकता है क्यों कि इस प्रकार के शब्द भाषाओं में बहुत ही कम हैं।

६. अनुरणनमूलकतावाद (Ding-dong theory)

इस मत के अनुसार जड़ पदार्थों के परस्पर संसर्ग या चोट से जो ध्वनि निकलती है उसी के आधार पर बनाये गये शब्दों से भाषा की उत्पत्ति हुई थी। इस प्रकार के शब्द हिन्दी में खटपट, कलकल, झनझन आदि हैं। अनुरणनमूलकशब्द भी इतने कम हैं कि इन्हें आंशिक रूप में मान्य समझा जा सकता है।

७. विकासवाद का समन्वित रूप

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिन छ: सिद्धान्तों पर इससे पूर्व विचार किया गया है उन में से सांकेतिक उत्पत्ति का सिद्धान्त और धातु सिद्धान्त सर्वथा अमान्य हैं क्योंकि इन्हें मानने के लिये कोई युक्ति-संगत प्रमाण नहीं। शेष अन्य चार सिद्धान्त आंशिक रूप में मान्य हैं क्योंकि इन सिद्धान्तों पर आधारित कुछ शब्द भाषाओं में मिल जाते हैं। इस लिये किसी एक सिद्धान्त विशेष पर आग्रह न कर सभी सिद्धान्तों का समन्वय कर तथा अन्य शब्दों का आधार लेकर भाषा के विकास की कल्पना की जा सकती है। सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञानी हेन्री स्वीट (Henry Sweet)

ने इसी समन्वित विकासवाद को स्वीकार किया है। चार प्रकार के सिद्धान्तों में आये हुए शब्दों को दो भागों के अन्तर्गत बांटा जा सकता है—१. अनुकरणमूलक, २. मनोभावाभिव्यञ्जक। अनुरणनात्मक शब्द अनुकरणमूलक के अन्तर्गत रखे जा सकते है और श्रमपरिहरणमूलक शब्द मनोभावाभिव्यञ्जक माने जा सकते हैं। इन के अतिरिक्त स्वीट का यह विचार है कि तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक होते हैं। पिछले दो भागों के अन्तर्गत न आने वाले शब्द इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर जब बच्चा पहले पहल बोलना शुरू करता है तो वह अनायास कुछ ध्वनियां निकाल जाता है जैसे—पा पा, मा मा। पहले पहल बच्चे के मस्तिष्क में इन ध्वनियों का कोई अर्थ नहीं होता परन्तु धीरे धीरे उसे समझाया जाता है कि उसके मुख से उच्चरित पापा ध्वनि पिता की प्रतीक है और मामा ध्वनि मां की प्रतीक है। इसी प्रकार प्राचीन काल में भी किसी विशेष क्रिया को द्योतित करने वाली ध्वनि प्रतीक रूप में उसी क्रिया का अर्थ बताने वाले शब्द के रूप में परिवर्तित हो गई। लैटिन में 'पीने' के लिए 'बिबेरे' शब्द है—संस्कृत मे यही शब्द 'पिब' है अरबी में 'शरब' है। इन सब मे प-ब ध्वनियां हैं जो उस पीने की क्रिया की प्रतीक है। आदिम मानव दोनों होठों से पानी पीते समय सांस अन्दर खींचता होगा और स्वाभाविक तौर पर दोनों ओंठों के संसर्ग से प या ब की ध्वनि निकलती होगी। बाद में इन्हे प्रतीक रूप में ग्रहण कर शब्दों का निर्माण कर लिया गया होगा।

भाषा के विकास का इतिहास अत्यन्त रोचक है। किसी भी भाषा में आये हुए शब्द इस इतिहास को स्पष्ट करने में पर्याप्त हैं यदि उन पर गम्भीरता से विचार किया जाय। भाषा का विकास केवल आदिम काल में ही नहीं हुआ बल्कि अब भी हो रहा है। जैसे जैसे ज्ञान-विज्ञान का विकास होता जारहा है वैसे वैसे उनको व्यक्त करने के लिये शब्दों की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। पहले से उपलब्ध शब्दों के आधार पर नये शब्द बना लिये जाते है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार भाषा का

विकास होता जा रहा है। पुराने शब्दों के आधार पर बनाये हुए नये शब्दों को औपचारिक शब्द भी कहा जाता है। संस्कृत में 'या' का अर्थ जाना है, इसी से यान, यात्रा, अभियान, वायुयान, वाष्पयान, जलयान, प्रयाण, हीनयान, महायान आदि अनेक शब्दों का निर्माण कर लिया गया है। विद् का अर्थ जानना है। धीरे धीरे सुख दुःख का अनुभव करने में इसका प्रयोग होने लगा। इसी से बना वेदना शब्द केवल दुःख के अर्थ में रूढ होगया। अंग्रेज़ी का (understand) शब्द बड़ा रोचक है। प्राचीन काल में किसी बात का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जिज्ञासु को ज्ञाता से नीचे खड़ा रहना पड़ता था। under=नीचे stand=खड़ा होना समझना के अर्थ में रूढ होगया। उन्नीसवीं शताब्दी में कर्नल बायकाट (Colonel Boycott) नामक व्यक्ति को आयरिश लीग से निकाला गया तभी से बायकाट शब्द बहिष्कार के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय की ऑनर्ज़ डिग्री का नाम ट्राइपोज़ (Tripos) है। इस शब्द का सम्बन्ध ग्रीक त्रिपोदोस् (Tripodos) या संस्कृत त्रिपाद के साथ है। डिग्री प्राप्त करने का इच्छुक विद्यार्थी तीन-पाँव वाले स्टूल पर बैठ कर शास्त्रार्थ किया करता था। इसी से ट्राइपोज़ (Tripos) शब्द की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार के यदि उदाहरण दिये जायें तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। वस्तुतः भाषा में प्रयुक्त होने वाले सभी शब्दों का अपना एक इतिहास है। वे अनेक रूपों में विकसित होकर ही आजकल व्यवहृत होते है इसी लिये भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद का सिद्धान्त ही अधिक मान्य है।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करने की दूसरी पद्धति परोक्षमार्ग (Inductive method) की है इसे निगमन पद्धति भी कहा जाता हैं। जैस्पर्सन आदि कई विद्वान् इसी के आधार पर वैज्ञानिक खोज करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार की पद्धति में आधुनिक उपलब्ध भाषाओं के आधार पर भाषा की मूल प्रकृति अथवा उदगम तक पहुंचने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार की पद्धति पर चलने वाले भाषा

शास्त्री अधिकांश में शिशुओं की भाषा तथा असभ्य जातियों की भाषाओं का अध्ययन करते हुए कुछ सिद्धान्तों का आविष्कार करते दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त वे आधुनिक भाषाओं से प्रारम्भ कर प्राचीन भाषा तक पहुंचने का भी प्रयास करते हैं। यद्यपि यह प्रयास प्रशंसनीय है तथापि इससे पूर्णतया निर्दोष निष्कर्षों तक नहीं पहुंचा जासकता। बच्चे को भाषा सीखते देख कर यह कल्पना की जा सकती है कि आदि-मानव किस प्रकार भाषा सीखता होगा परन्तु हमें स्मरण रखना है कि बच्चे के वातावरण मे पहले से किसी भाषा का अस्तित्व होता है इसलिये भाषा न होने पर आदि मानव ने कैसे भाषा की उत्पत्ति की होगी—इस रहस्य तक हमारी पहुंच केवल शिशु-भाषा के अध्ययन से नहीं हो सकती। इसी प्रकार आदिम असभ्य जातियों की भाषाओं में प्राचीन या आदिम रुपों की कल्पना की जासकती है परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि आज की आदिम असभ्य जातियों पर भी किसी न किसी रूप में अन्य प्रभाव पड़ते रहे हैं। कम से कम विकास की दिशा में आज की आदिम जातियां भी पुरातन आदि मानव से बहुत आगे बढ़ चुकी हैं। भाषा-सम्बन्धी ऐतिहासिक अनुसन्धान विशेष महत्वपूर्ण है इसी के बल पर अनेक रूपों की कल्पना की जाती है जो आजकल लुप्त होचुके है परन्तु इस ऐतिहासिक खोज का आधार भी लिखित साहित्य है इसलिये उच्चरित स्वरूप के सम्बन्ध में गलतियाँ रह जाने की गुंजायश बनी रहती है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में खोज करते समय ये कठिनाइयाँ आती हैं और मानव के ज्ञान की सीमायें हैं इसे मान कर भी इस दिशा में जितनी प्रगति की जा रही है उसे देखते हुए यह सम्भावना की जासकती है कि किसी न किसी दिन सृष्टि का भाषा-सम्बन्धी रहस्य भी पूर्णतया स्पष्ट होजायेगा।

अध्याय ४

भाषा परिवर्तन का मूल कारण

भाषा परिवर्तनशील है, भाषा की इस परिवर्तनशीलता के अनेक कारण हैं। ये कारण शारीरिक, भौतिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं। मनुष्य भाषा को दूसरों से प्राप्त करता है इसलिये उसे अपने शरीर के अवयवों जैसे कान, मुख आदि का उपयोग करना पड़ता है। मनुष्य दूसरों से भाषा सीखने में अनेक प्रकार की गलतियाँ करता है। यही कारण है कि भाषा में परिवर्तन होजाया करता है। इसी प्रकार भौगोलिक परिस्थितियाँ, सामाजिक व्यवस्था आदि भी भाषा के परिवर्तन में सहायक हो जाती हैं। कुछेक भाषाशास्त्रियों का विचार है कि भाषा-परिवर्तन के अनेक कारणों में से एक कारण ऐसा है जो मूलकारण है। वह मूल कारण कौन सा है इस सम्बन्ध में सभी एकमत नहीं।

शारीरिक विभिन्नता (Anatomy)

कुछक विद्वानों का विचार है कि शारीरिक विभिन्नता ही भाषा-परिवर्तन का मूल कारण है। विभिन्न भाषाओं के बोलने वालों में शारीरिक विभिन्नता है। यही कारण है कि जिन ध्वनियों को एक भाषा बोलने वाले बोल सकते हैं उन्हें दूसरी भाषा बोलने वाले नहीं परन्तु यह बात ठीक नहीं जंचती क्योंकि एक ही भाषा बोलने वालों में भी शारीरिक विभिन्नता होती है फिर भी उस भाषा को बोलने में किसी को विशेष सुविधा अथवा किसी को विशेष कठिनाई नहीं होती। दूसरे, विदेशों में जाकर बस जाने वाले व्यक्ति शारीरिक विभिन्नता होते हुए भी वहां की

भाषा सीख जाते हैं। विभिन्न भाषाओं में कुछ निजी स्वतन्त्र ध्वनियाँ देख कर कुछ लोगों को यह भ्रम होगया था कि अन्य भाषाभाषी उनका उच्चारण नहीं कर सकते परन्तु यह बात व्यवहार में ठीक नहीं है। प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान में निपुणता प्राप्त कर कोई भी व्यक्ति किसी भी ध्वनि का उच्चारण कर सकता है। इसके लिये सतत प्रयास और अभ्यास की आवश्यकता है। कुछ आदिम जातियां ध्वनियों का उच्चारण करते समय मुख को विशेष रूप में विकृत कर दिया करती हैं। यदि उसी प्रकार मुख को विकृत कर उन ध्वनियों का उच्चारण किया जाय तो वैसा ही उच्चारण किया जा सकता है। मैनहाफ (Meinhof) ने याओ जाति की औरतों का एक बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है कि वे अपने ऊपर के होठ में एक लकड़ी का टुकड़ा रखती हैं। यह उनके यहां का रिवाज हैं। इस का परिणाम यह होता है कि वे 'फ़' ध्वनिका उच्चारण नहीं कर पातीं। क्योंकि स्त्रियाँ ही अपने बच्चे को प्राथमिक ध्वनियाँ सिखाती हैं इसलिये उनकी भाषा में फ़ ध्वनि नहीं है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उस जाति के लोग इस ध्वनि का उच्चारण नहीं कर सकते। प्रयत्न करने पर वे इस का भी उच्चारण कर सकते है जैसा कि वे अब अनेक शब्दों में करने भी लगे हैं।

भौगोलिक विभिन्नता (Geography)

कुछ विद्वानों का यह विचार है कि भौगोलिक परिस्थितियों के भिन्न होने के कारण भाषा में परिवर्तन होता है। और यही इसका मूल कारण है। उन के अनुसार अधिक शीतलता या उष्णता के कारण भाषा के स्वरूप में अन्तर आजाता है। कोई भाषा कठोर होती है और कोई भाषा अत्यन्त कोमल। यह बात भी भौगोलिक परिस्थिति पर निर्भर है। इस सिद्धान्त को मानने वाले कुछ उदाहरण भी दिया करते है। काले सागर और कैस्पियन सागर के मध्यवर्त्ती भाग में काकेशस पर्वत पर काकेशी भाषायें बोली जाती हैं। ये कर्कश भाषायें हैं क्योंकि यहां भौगोलिक

जटिलतायें बहुत हैं। जहां प्राकृतिक सुख-सुविधायें अधिक हों वहां की भाषाओं की ध्वनियां कोमल, सुन्दर और कर्णसुखद होंगी। यह बात भी ठीक नही। इसके विरुद्ध अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं। प्रकृति द्वारा प्रदत्त सब सुख-सुविधाओं के होते हुए भी अमरीका के उत्तर पश्चिमी किनारे की भाषायें कर्कश है। दूसरी ओर भौगोलिक दृष्टि से एस्किमो जाति को जैसे विकट वातावरण में रहना पड़ता है वैसा संसार की किसी जाति को भी नहीं। परन्तु एस्किमो भाषा अनेक भाषाओं की अपेक्षा अधिक कोमल है। सब से बड़ी बात तो इसके विरुद्ध यह है कि किसी देश या भूभाग की भौगोलिक परिस्थितियां वैसी रहते हुए भी भाषा में परिवर्तन हो जाता है। हमारे देश की भौगोलिक परिस्थितियां वही है परन्तु प्राचीन वैदिक संस्कृत और आधुनिक आर्य भाषाओं में आकाश-पाताल का अन्तर देखने को मिलता है।

जातीय मनोविज्ञान (National Psychology) :—

जर्मनी के सुप्रसिद्ध भाषा शास्त्री जैकब ग्रिम (Jacob Grimm) का विचार है कि जर्मन भाषाओं में ध्वनि परिवर्तन का कारण जर्मन लोगों की प्रगतिशील प्रवृत्ति और स्वतन्त्रता की कामना है। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों के भी भाषा-परिवर्तन-सम्बन्धी विचार हैं, जिन का यह निष्कर्ष है कि परिवर्तन का मूल कारण किसी जाति की मानसिक विशेषतायें हैं। प्राय: भाषाओं के कोमल और कठोर होने की बात कही जाती है उसके मूल में मानसिक कोमलता या कठोरता का अस्तित्व मान लिया जाता है। यही कारण है कि सस्कृत को कोमल और प्राकृत को कठोर कहा जाता है। आधुनिक आर्यभाषाओं में बगाली भाषा को कोमल और द्राविड़ परिवार की सभी भाषाओं को मूर्धन्यप्रधान होने के कारण कठोर कहा जाता है। परन्तु यह मत भी ठीक नही। भाषा पर अपने मानसिक भावों का आरोप किसी जाति की अपनी व्यक्तिगत रुचि पर ही निर्भर होता है—वस्तुत. ।नष्पक्ष दृष्टि से देखने पर भाषा को वैसा मानना ठीक नहीं। सभी लोगों

को अपनी भाषा से प्यार होता है इसलिये वे अपनी भाषा के साथ ऐसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं जो उनकी अपनी भावनाओं के प्रतीक होते हैं। कठोर मानी जाने वाली प्राकृत को राजशेखर ने नारी के समान कोमल माना है और तामिल-भाषा-भाषी अपनी भाषा को अमृतोपम मधुर मानते हैं। कहने वाले बंगाली भाषा को ज़नाना भाषा कह देते हैं। जर्मन भाषा को रूखी भाषा कह दिया जाता है। परन्तु ये धारणायें वैज्ञानिक सत्य नहीं हैं।

सांस्कृतिक परिवर्तन

जातीय मनोविज्ञान से मिलता जुलता एक और कारण भी बताया जाता है। वह है सांस्कृतिक परिवर्तन। वुन्त (Wundt) ने बताया है कि युद्धप्रिय प्रवासी जातियों ने जर्मनी की जनता को अपने अधीन कर लिया था जिससे नये राष्ट्र और नई संस्कृति का निर्माण हुआ। इसी से उच्चारण में तीव्र गति आई और भाषा में परिवर्तन हो गया। यह सिद्धान्त भी ठीक प्रतीत नहीं होता। प्रश्न यह उठता है कि सांस्कृतिक परिवर्तन होने से उच्चारण में गति केवल एक ही भाषा में और वह भी एक ही समय में क्यों आई? आज भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं और मानव की सांस्कृतिक व सामाजिक उन्नति की गति पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गई है परन्तु वैसा ध्वनि-परिवर्तन देखने को नहीं मिलता।

इस में कोई सन्देह नहीं कि भाषा में कभी कभी परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत तेज़ हो जाती है परन्तु उसका मूल कारण सांस्कृतिक परिवर्तन या जातीय मनोविज्ञान नहीं बल्कि प्रत्येक देश की अपनी विशिष्ट परिस्थितियां होती हैं। किसी एक भाषा का उदाहरण देकर किसी विशेष कारण को प्रमाणित करना उचित नहीं। अधिकांश मे परिवर्तन में तेज़ी आने का कारण सामाजिक शिथिलता अथवा नियन्त्रण का अभाव है। भाषा परिवर्तनशील है परन्तु उसे स्थिर रखने का पूरा प्रयास किया जाता है। यदि इस प्रयास में कोई कमी आ जाये तो भाषा-परिबर्तन में तेज़ी आ

जाना स्वाभाविक है। अधिकांश में बच्चों की भाषा पर नियन्त्रण रखने वाले माता-पिता और स्कूलों-कालेजों में नियन्त्रण रखने वाले अध्यापक होते हैं। यदि माता-पिता, अध्यापक आदि सभी उपेक्षा करने लग जायें और किसी प्रकार का नियन्त्रण न रखें तो भाषा बहुत तेजी से बदलने लग जायेगी। इस प्रकार की सामाजिक शिथिलता लाने वाली परिस्थितियां अनेक हो सकती हैं—जैसे महायुद्ध, महामारियां नौजवानों में निरंकुशता अथवा अनुशासनहीनता की भावना आदि। जैस्पर्सन ने इसके अनेक उदाहरण दिये हैं। एक उदाहरण अत्यन्त रोचक है। अमरीका के छोटे छोटे प्रदेशों में तीस भाषा-परिवार तक देखने को मिलते हैं। हमें स्मरण रखना है कि भारत जैसे विशाल देश में चार भाषा-परिवार ही हैं और उनमें भी मुख्य भाषा-परिवार दो ही हैं। सारे योरप महाद्वीप में भी चार या पाँच से अधिक भाषा-परिवार नहीं हैं। इस के विपरीत उत्तरी अमरीका के कैलिफ़ोर्निया प्रदेश के आस पास की जातियों में उन्नीस भाषा-परिवार देखने को मिलते हैं। उस का कारण यही है कि यहाँ प्रकृति-प्रदत्त सुविधायें बहुत है और परिवार के नियन्त्रण से निकल कर भी बच्चे अपना पालन-पोषण बड़ी आसानी से कर सकते हैं। परिणामस्वरूप बच्चे घरों मे भाग जाते हैं ओर किसी प्रकार का नियन्त्रण न होने के कारण स्वतन्त्र रूप में और बड़ी तेजी से भाषा में परिवर्तन कर लिया करते है।

प्रयत्नलाघव (Economy of Effort या The Ease Theory)

सुप्रसिद्ध विद्वान् लॉक (Locke) का विचार है कि परिश्रम के लिये परिश्रम करना मानव प्रकृति के विरुद्ध है। यह बात ठीक भी है। जो काम आसानी से किया जा सके उसे कोई भी घोर परिश्रम के द्वारा पूर्ण करना पसन्द नहीं करेगा। इसी को प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति कहते हैं। यह प्रवृत्ति जैसे मानव के अन्य क्षेत्रों में देखने को मिलती है वैसे ही भाषा के क्षेत्र में भी देखने को मिलती है। सभी ध्वनिपरिवर्तन इसी पर आधारित हैं जैसे 'अग्नि' की अपेक्षा 'आग' शब्द अधिक सुविधाजनक

है। प्राय: उच्चारण करते समय हम 'डाक्टर साहब' को 'डाक् साब' और 'प्रोफैसर साहब' को 'प्रोस्साब' ही कह देते हैं। शब्दों का संक्षिप्त उच्चारण इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही है जैसे रेलगाड़ी को केवल गाड़ी और वाइस-चान्सलर को केवल वी. सी. कह दिया जाता है। प्रिन्सिपल का मूलरूप तो सुरक्षित रहता है परन्तु 'वाइस-प्रिन्सिपल' जैसे भारी भरकम शब्द को बदल कर वी पी कर दिया जाता है। यह प्रयत्न लाघव की प्रवृत्ति केवल शब्दों में ही नहीं बल्कि वाक्यों में भी देखने को मिलती है। यदि कोई प्रश्न करे – तुम्हारी पुस्तक कहां है ? तो दूसरा आश्चर्य में प्रश्नात्मक संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार देता है–मेरी ? इस अन्तिम वाक्य का अर्थ यह है कि "क्या तुम मुझ से यह पूछ रहे हो कि मेरी पुस्तक कहां है ?" इतने लम्बे चौड़े वाक्य का अर्थ केवल 'मेरी ?' शब्द से ही स्पष्ट हो जाये तो कोई क्यों इतना बड़ा वाक्य बोलने लगा। यही कारण है कि अंग्रेज़ी का हाउ डू यू डू' (How do you do) हू डू डू में परिवर्तित हो जाता है। लोटा को लोटवा और प्यार में बहू को बहुरिया कहने की प्रवृत्ति भी इसी के अन्तर्गत रखी जा सकती है।

आजकल प्राय: इसी सिद्धांत को भाषा के परिवर्तन का मूलकारण माना जाता है परन्तु जब पहले पहले यह सिद्धांत प्रस्तुत किया गया था तो अनेक भाषा शास्त्री इसे मानने के लिये तैयार नहीं थे। इसके लिये कई प्रमाण प्रस्तुत किये जाते थे। विरोधियों के मुख्य आक्षेप यह हैं –(१) मनुष्य को आलसी और परिश्रम से बचने वाला मानना ठीक नहीं। (२) कई भाषाओं में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें ध्वनियां परिवर्तित हो कर अधिक जटिल हो गई है। (३) सबसे बड़ा आक्षेप तो यह है कि कौन सी ध्वनियां सरल हैं और कौन सी जटिल ? अभी तक इसका निर्णय ही नहीं किया गया तो सरलता और जटिलता का प्रश्न ही नहीं उठता।

इन सब आक्षेपों का उत्तर आसानी से दिया जा सकता है। किसी काम को आसानी से करना आलस्य का चिह्न नहीं। जहां

परिश्रम की आवश्यकता हो वहां तो मनुष्य परिश्रम करेगा ही परन्तु जहाँ बिना परिश्रम किये काम अच्छी तरह सम्पन्न होता है वहां निरुद्देश्य परिश्रम करना तो मूर्खता की निशानी है। ध्वनियां परिवर्तित होकर सरल भी हो सकती हैं और जटिल भी। उनके परिवर्तन में अनेक कारण काम करते रहते हैं परन्तु जैसे पहाड़ी मार्गों पर चलने से छोटे रास्ते में अपेक्षाकृत कठिनाई अधिक होती है परन्तु समय और मार्ग की लम्बाई की दृष्टि से सुविधा होती है इसीलिये उसी को अपना लिया जाता है उसी प्रकार जटिल ध्वनियों को अपनाने में भी सुविधा को ही मूल कारण माना जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ध्वनियों की सरलता और जटिलता की कोई सर्वमान्य कसौटी नहीं है। जो ध्वनियां जिस समुदाय को सुविधाजनक दिखाई देती हैं वह समुदाय उन्हीं ध्वनियों को अपना लिया करता है। जैस्पर्सन ने ध्वनियों के उच्चारण में सुविधा का एक सिद्धांत अवश्य बताया है। यदि कोई व्यक्ति बड़ी तेज़ी से दौड़ रहा हो तो उसे दीवार को स्पर्श करके रुकने में आसानी होगी। यदि उसे बिना किसी सहारे के रुकना पड़े तो अधिक कठिनाई होगी। इसी प्रकार जब जीभ मूर्धा या दन्त को स्पर्श करके ध्वनि का उच्चारण करती है तो उसे कम कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसी लिये संघर्षी ध्वनियों की अपेक्षा स्पर्श ध्वनियां अधिक सरल होती हैं।[1]

संक्षेप में, भाषा परिवर्तन के कारण अनेक हैं, पर मूलकारण प्रयत्नलाघव ही है।

---

1. संघर्षी ध्वनियां जैसे फ़ारसी की ख़, ग़, ज़, फ़, अंग्रेज़ी की थ़, द़। स्पर्श ध्वनियां जैसे हिन्दी की क, ख, ग, घ आदि। इनका विस्तृत विवरण आगे अध्याय ८ ध्वनियों का वर्गीकरण में देखिये।

अध्याय ५

भाषा के विभिन्न स्वरूप

भाषा के सामान्य स्वरूप की दृष्टि से सारे संसार की भाषायें एक हैं क्योंकि सभी भाषायें मानवीय ध्वनियों के रूप में विचार-विनिमय या विचार प्रकट करने का साधन हैं। फिर भी संसार की भाषायें एक नहीं हैं बल्कि एक दूसरे से भिन्न हैं। एक ही देश में अनेक भाषायें होती हैं। इन भाषाओं में पारस्परिक विभिन्नता इतनी स्पष्ट होती है कि कोई भी व्यक्ति इन्हें एक भाषा नहीं मान सकता। एक ही मूल भाषा से सम्बन्धित होते हुए भी हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषायें भिन्न हैं। इन भाषाओं की भी यदि सँकुचित सीमाओं का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय तो इनकी अपनी सीमाओं में भी भाषा-विभिन्नता स्पष्ट दिखाई देने लगेगी। हिन्दी एक विशाल प्रदेश में बोली और समझी जाती है परन्तु सभी स्थानों में इसका स्वरूप एक सा नहीं है। यदि बहुत सूक्ष्म दृष्टि से कहा जाय तो एक व्यक्ति की भाषा दूसरे व्यक्ति की भाषा से भिन्न होगी। यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति एक बार उच्चरित ध्वनि का उच्चारण स्वयं उसी रूप में दुबारा नहीं कर सकता परन्तु हमारा ध्यान भाषा की इतनी सूक्ष्म भिन्नता की ओर नहीं जाता। यदि हम चाहें तो प्रत्येक व्यक्ति की भाषा सम्बन्धी भिन्नता का स्वरूप अवश्य समझ सकते हैं। हम दूर से परिचित व्यक्ति की आवाज़ सुन कर उसे पहचान लेते हैं क्योंकि हम उस व्यक्ति की भिन्न ध्वनियों से परिचित हैं प्रत्येक व्यक्ति की अपनी बोली को व्यक्ति बोली (Idiolect) कहा जाता है।

व्यक्तिगत भाषा-विभिन्नता से आगे बढ़ कर हम देखें तो प्रत्येक परिवार की बोली और दूसरे परिवार की बोली में अन्तर होता है। इसी प्रकार ग्राम, नगर और विशिष्ट सामाजिक दलों की भाषा में भी पारस्परिक

अन्तर दिखाई देता है। इन सब बोलियों की सीमा रेखायें निर्धारित करना कभी कभी अत्यन्त जटिल कार्य हो जाता है। अत्यन्त सूक्ष्म भिन्नताओं की ओर ध्यान न रखते हुए साधारणतया भाषा के तीन स्वरूप माने जाते हैं—१. बोली २. विभाषा ३. भाषा।

बोली

बोली (Patois) को उपभाषा भी कहा जाता है। यह स्थानीय ग्रामीण बोली होती है और प्राय: इस का सम्बन्ध समाज के निम्न-स्तर के साथ होता है। इसमें किसी प्रकार का साहित्य नहीं होता। इसके बोलने वालों में उच्चारण-सम्बन्धी व्यक्तिगत भिन्नतायें हो सकती हैं। परन्तु वे भिन्नतायें अत्यन्त स्पष्ट या महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं। यदि किसी विशिष्ट ग्राम या समुदाय के उच्चारण में स्पष्ट भिन्नता आने लगे तो वह दूसरे ग्राम या समुदाय की तुलना में भिन्न बोली का क्षेत्र मान लिया जायगा। उदाहरण के तौर पर यदि किसी ग्राम के व्यक्ति 'दुर्गाप्रसाद' का उच्चारण 'दुरगा परसाद' या 'दुर्गपरसाद' आदि विभिन्न रूपों में करते हैं तो हम इसे व्यक्तिगत विशेषता तो कह सकते हैं पर बोली-गत भिन्नता नहीं। यदि किसी गांव या प्रदेश के लोग निम्न वाक्यों का भिन्न भिन्न रूप में उच्चारण करते दिखाई देते हैं तो हम इन्हें भिन्न भिन्न बोलियों के वाक्य कह सकते हैं जैसे 'साँप दिख रहा है', 'साँप दीख रहा है', 'सांप दिखाई देरहा है'। इन तीनों वाक्यों में भिन्नता है और यह भिन्नता बोलीगत है। हमें इस बात को विशेष रूप में स्मरण रखना है कि एक बोली बोलने वाला समुदाय दूसरी बोली बोलने वाले समुदाय की बात को समझ अवश्य जाता है भले ही वह उससे भिन्न स्वरूप का उच्चारण करता रहे।

विभाषा

विभाषा (Dialect) का क्षेत्र इससे अधिक व्यापक होता है। एक विभाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ होती हैं। विभाषा भाषा का वह स्वरूप है जो विशेष प्रदेश में बोली जाती है और उच्चारण,

व्याकरणिक रूप और शब्द-प्रयोगों की दृष्टि से अन्य विभाषाओं से भिन्न होती है परन्तु इतनी भिन्न नहीं कि उसे एक भाषा के क्षेत्र के अन्तर्गत न रखा जा सके। वैसे प्रत्येक विभाषा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता होती है, वह अपने अस्तित्व के लिये अन्य विभाषा या भाषा पर निर्भर नहीं होती। बोलीगत विभिन्नता कोई महत्त्वपूर्ण विभिन्नता नहीं होती परन्तु विभाषागत विभिन्नता महत्त्वपूर्ण होती है जिसकी उपेक्षा नहीं की जासकती। यही कारण है कि अधिकांश में भाषा के विभिन्न स्वरूपों पर विचार करते समय केवल दो भेद ही बताये जाते है—भाषा और विभाषा। उपभाषा या बोली को विभाषा का स्थानीय रूप मान लिया जाता है इसी लिये बोली, उपभाषा, प्रान्तीय भाषा आदि शब्द विभाषा के ही पर्यायवाची मान लिये जाते हैं। हिन्दी की विभाषायें अनेक हैं जैसे ब्रज, अवधी, खड़ी बोली इत्यादि।

भाषा

भाषा (Standard Language) को हिन्दी में स्टैण्डर्ड भाषा, टकसाली भाषा अथवा आदर्श भाषा भी कहा जाता है। यदि कोई विभाषा किसी कारणवश प्रमुखता प्राप्त करले और उसका प्रभुत्व अन्य विभाषायें स्वीकार करलें तो वह आदर्श या टकसाली भाषा बन जाती है। उदाहरण के तौर पर हिन्दी आदर्श भाषा है परन्तु खड़ी बोली का आदर्श रूप ही तो हिन्दी है। खड़ी बोली की प्रमुखता प्राप्त करने के कारण ही यह विभाषा अन्य विभाषाओं के क्षेत्र पर आधिपत्य जमाये हुए है।

विभिन्न भाषाओं की सीमा रेखायें निर्धारित करना अपेक्षाकृत आसान होता है परन्तु विभिन्न विभाषाओं की सीमायें निश्चित करना बहुत जटिल होता है। यद्यपि विभाषायें एक दूसरी से भिन्न होती हैं तथापि एक ऐसी शक्ति भी होती है जो एक ही भाषा के अन्तर्गत आने वाली विभिन्न विभाषाओं को एक दूसरे के साथ मिलाये रखती है। ब्रज और अवधी भिन्न विभाषायें हैं। परन्तु एक विभाषा को बोलने वाला व्यक्ति दूसरी विभाषा के क्षेत्र में पहुंचकर अपने आप को अजनबी नहीं समझता।

इन दोनों विभाषाओं के सीमावर्ती प्रदेशों में तो इन्हें अलग अलग करना और भी कठिन कार्य होता जाता है।

विभाषा की प्रमुखता प्राप्त करने के कारण अनेक होते हैं। मुख्य रूप में ये कारण राजनैतिक, साहित्यिक, धार्मिक और सामाजिक माने जा सकते हैं। खड़ी बोली की प्रमुखता प्राप्त करने का मुख्य कारण राजनैतिक है। इसी प्रकार पैरिस की बोली फ्रेञ्च भाषा बनी और लन्दन की अंग्रेज़ी बोली अन्य बोलियों की अपेक्षा प्रमुखता प्राप्त कर राजनैतिक कारणों से ही भाषा का स्वरूप धारण किये है।

धार्मिक और साहित्यिक कारणों से ही ब्रज और अवधी भाषा के पद पर प्रतिष्ठित थीं। वैदिक काल में अनेक बोलियां थीं परन्तु ऋग्वेद में सुरक्षित बोली धार्मिक और साहित्यिक कारणों से ही अधिक मान्य रही। यदि किसी विशिष्ट समाज का किसी प्रदेश पर प्रभुत्व छा जाये तो अन्य सामाजिक क्षेत्रों के समान उसका भाषा के क्षेत्र में भी आधिपत्य हो जाता है और उसी विशिष्ट समाज की भाषा ही उस क्षेत्र की प्रमुख भाषा बन जाती है। अमरीका के विशाल प्रदेश पर अंग्रेजी का प्रभुत्व इन्हीं कारणों से है।

जो विभाषा जिन कारणों से भाषा का स्वरूप अपनाती है वह उन कारणों के दूर हो जाने के बाद फिर विभाषा बन जाया करती है। ब्रज और अवधी कभी भाषायें थीं परन्तु अब वे केवल विभाषा के रूप में ही रह गई हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि कोई एक विभाषा प्रमुखता प्राप्त करके अन्य छोटी छोटी विभाषाओं को आत्मसात् कर लेती हैं जैसे लैटिन भाषा ने अपने आस पास की अनेक बोलियों को आत्मसात् कर लिया है और कई बार भाषा में अपने आप ही विभाषाओं की अनेक विशेषतायें दिखाई देने लगती हैं। यह प्राय: भाषा के अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हो जाने के कारण हुआ करता है। हिन्दी एक विशाल प्रदेश की भाषा है। इसीलिये उसमें पञ्जाबीपन, बिहारीपन, आ जाना स्वाभाविक ही है।

साहित्यिक भाषा

भाषा के मूल रूप तो यही तीन हैं परन्तु कई बार भाषा के साथ अन्य अनेक विशेषण जोड़े जाते हैं जिन के कारण भाषा के अनेक स्वरूप प्रचलित दिखाई देते हैं। जैसे साहित्यिक भाषा सामान्य व्यवहार की भाषा से भिन्न होती है। यह अपेक्षाकृत अधिक सुसज्जित, लेखबद्ध, नियमित और लिखित परम्परा के कारण अमिट होती है। हिन्दी का एक स्वरूप—सामान्य व्यवहृत भाषा का है तो दूसरा रूप साहित्यिक भाषा का भी। साहित्यिक भाषा के कभी कभी दो और वर्ग भी किये जाते है—(१) विशुद्ध साहित्यिक जिसका व्यवहार केवल साहित्यिक क्षेत्र में हो, सामान्य व्यवहार में जिसका प्रयोग न किया जाय जैसे संस्कृत। (२) साहित्यिक जो सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होने के साथ साथ साहित्यिक हो, जैसे, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि।

राष्ट्रभाषा

राष्ट्रभाषा शब्द का प्रयोग उस भाषा के लिये किया जाता है जो भाषा के सामान्य क्षेत्र से भी आगे बढ़ कर अधिक विस्तृत क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमा ले। भारतवर्ष मे गुजराती, मराठी आदि भाषायें भी है साहित्यिक भाषायें भी। परन्तु उन्हें राष्ट्र-भाषा नहीं कहा जा सकता। यह स्थान तो केवल एक ही भाषा अर्थात् हिन्दी को दिया जा सकता है। साधारण तौर पर जो राष्ट्र भाषा होती है वही **राज्यभाषा** के पद पर प्रतिष्ठित की जाती है परन्तु कभी कभी राजनैतिक कारणों से राष्ट्र-भाषा को यह स्थान न देकर किसी अन्य भाषा को राज्य भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। भारतवर्ष में अभी तक अंग्रेज़ी को यह स्थान प्राप्त है यद्यपि हमारे संविधान में अब हिन्दी का वह स्थान स्वीकार कर लिया गया है। पाकिस्तान के किसी प्रदेश में उर्दू का स्थान न बोली का है और न भाषा का परन्तु उसे पाकिस्तान की राज्यभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। जब कोई भाषा किसी विशेष राष्ट्र की सीमाओं

को भी पार कर जाती है तो उसे **अन्तर्राष्ट्रीय भाषा** अथवा **विश्व-भाषा** कह दिया जाता है। कभी सारे योरप में फ्रैञ्च का यही स्थान था। व्यापार की दृष्टि से आज अंग्रेज़ी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा मानी जा सकती है। वैसे इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि सारे संसार में कोई एक भाषा व्यापक रूप में बोली या समझी नहीं जाती। इस लिये पूर्णतया विश्वभाषा जैसी किसी भाषा का कोई अस्तित्व नहीं माना जा सकता—केवल कुछेक राष्ट्रों में अधिक प्रचलित होने के कारण अंग्रेज़ी आदि को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कह दिया जाता है।

कृत्रिम भाषा

वैसे तो भाषा स्वाभाविक रूप में विकसित होती है। उसका निर्माण नहीं किया जाता। परन्तु आधुनिक युग में कई कारणों से कुछ भाषाओं का निर्माण भी किया गया है। उन्हें कृत्रिम भाषा कहा जाता है। इस प्रकार की एक भाषा एस्पिरेन्तो (Esperanto) है। इस में कोई सन्देह नहीं कि आज विश्व को एक विश्व भाषा की आवश्यकता है। इस विश्व भाषा के न होने के कारण अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संघटनों को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसी मूल भावना से प्रेरित होकर ही डा० लुई ज़मेनहाफ़ (Louis Zomenholf) ने एस्पिरेन्तो का निर्माण किया था। इसका ही एक विकसित रूप इडो (Ido) भाषा भी है। परन्तु बोलचाल का स्वाभाविक आधार न होने के कारण इन भाषाओं का विशेष प्रसार या विकास देखने को नहीं मिलता। भारतवर्ष में हिन्दी-उर्दू विरोध का समाधान सोचते सोचते एक कृत्रिम हिन्दुस्तानी का निर्माण किया जाने लगा था परन्तु स्वतन्त्रता के बाद इस विरोध के क्षीण हो जाने के कारण इस का भी विकास नहीं किया जा सका। चोर या बच्चे भी कभी कभी कुछ कृत्रिम भाषाओं का निर्माण कर लिया करते है।

विशिष्ट भाषा

समाज के विशिष्ट लोगों की अपनी ही एक भाषा होती है, जिसे

विशिष्ट भाषा कहा जाता है। विभिन्न व्यवसायों में काम करने वाले व्यक्ति कुछ ऐसे शब्दों का व्यवहार करते हैं जो उनके अपने. व्यवसाय की भाषा में तो सामान्य-व्यवहृत माने जा सकते हैं परन्तु अन्यत्र नहीं। इसीलिये वह भाषा उन्हीं विशिष्ट लोगों तक सीमित रह जाती है। विशिष्ट भाषा का अन्तर अधिकतर केवल विशिष्ट शब्दावली तक ही सीमित रहता है। किसी कार्यालय में काम करने वाले क्लर्क कितने ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका अर्थ सामान्य लोगों को नहीं आता। जैसे—"ओ० एस० ने जब एस०ओ० को रिपोर्ट की।' 'ओ० एस०' और 'एस०ओ०' से अभिप्राय 'आफ़िस सुपरिन्टेण्डैण्ट' और 'सेक्शन आफ़िसर' से होता है, जिसे केवल उसी कार्यालय में काम करने वाले या उनके निकट सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति ही समझते हैं।

कभी कभी जानबूझ कर भाषा को बिगाड़ कर बोला जाता है और वह विकृत रूप कुछ लोगों में इतना प्रचलित हो जाता है कि वह भी उस समुदाय का सामान्य व्यवहृत रूप बन जाता है। इसी को विकृत बोली (slang) कहा जाता है। समोसा को समोस, 'पेटी को पेट, प्रसाद को परशादाजी, रोटी को रोटा जी कहना इसी प्रकार के प्रयोग हैं। कभी कभी प्यार में शब्दों को विकृत कर दिया जाता है। इसी लिये स्वीट (sweet) से स्वीटी (sweetie) शब्द बन जाता है और बहू का बहुरिया रूप इसी विकार के परिणामस्वरूप ही हैं। हिन्दी में सुनाओ राजा या पंजाबी में सुणाओ सोहणेओ या बादशाहो इसी प्रकार के विकृत प्रयोग हैं।

अध्याय ६

ध्वनि-विज्ञान

ध्वनि विज्ञान भाषा विज्ञान का अत्यन्त महत्वपूर्ण अङ्ग है। ध्वनि विज्ञान का सम्बन्ध भाषा के भौतिक आधार-ध्वनि के साथ है। इस विज्ञान में मनुष्य के मुख से निकली हुई ध्वनियों का सर्वाङ्गीण विवेचन किया जाता है। जितना अधिक वैज्ञानिक विवेचन भाषाविज्ञान के इस अङ्ग का किया जा रहा है उतना अन्य किसी अङ्ग का नहीं। इस विाज्ञन की शाखा-प्रशाखायें इतनी बढ़ गई हैं कि एक एक शाखा के अध्ययन के लिये अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है।

यदि हम भाषा के सम्बन्ध में विचार करें तो यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायगी कि हम कुछ सार्थक वाक्यों का उच्चारण किया करते हैं। इन वाक्यों को कुछ शब्दों में बांटा जा सकता है और शब्दों का निर्माण ध्वनियों से होता है। ध्वनियां भाषा का मूल अवयव हैं। इस मूल अवयव का अध्ययन करने के बाद ही हम शब्दों के रूप, वाक्य रचना और अर्थों का विश्लेषण कर सकते हैं। इसीलिये इस विज्ञान को भाषाविज्ञान की आधारशिला भी कहा जाता है।

ध्वनि-विज्ञान का सम्बन्ध मानव-मुख से नि:सृत उच्चरित ध्वनियों के साथ है, भाषाविशेष की लिखित अथवा लिपिबद्ध वर्णमाला के साथ नहीं। कई बार तो लिखित वर्ण उच्चरित स्वरूप को स्पष्ट करते हैं परन्तु कई बार इस विषय में बहुत गड़बड़ी हो जाती है जैसे देवनागरी में ऋ, ष, ज्ञ का लिखित रूप उनके उच्चरित रूप रि, श, ग्य से भिन्न है। इसी प्रकार रोमन 'सी' (c) का उच्चारण कभी 'स' होता है और कभी 'क'। रोमन

लिपि में आने वाले सभी वर्णों का उच्चारण ठीक उसी प्रकार स्पष्ट नहीं होता जैसा सामान्यतया उन भाषाओं को बोलने वाले करते हैं। इसी लिये भाषाविज्ञानी अपनी विशेष लिपि के आधार पर इन ध्वनियों को व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। इन लिपियों में अधिक व्यापक इन्टरनेशनल फोनेटिक अल्फाबैट (International Phonetic Alphabet) है। इस प्रकार की भाषावैज्ञानिक लिपियों से विदेशी-भाषा का उच्चरित स्वरूप समझने में आसानी हो जाती है। भारतवर्ष में अधिकांश लोग अंग्रेजी का कामचलाऊ ज्ञान तो प्राप्त कर लेते हैं परन्तु उनका उसके मूल उच्चरित स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की ओर ध्यान नहीं जाता। उनका यह विचार होता है कि शुद्ध उच्चारण का ढंग तो केवल इंगलैंड जाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग इंगलैंड चले भी जाते हैं वे भी शुद्ध उच्चारण नहीं सीख पाते जब तक कि उनका ध्यान ध्वनियों के वैज्ञानिक निरीक्षण की ओर न हो। प्रश्न विदेश जाने का नहीं है बल्कि ध्वनियों के वैज्ञानिक निरीक्षण का है। ध्वनि विज्ञान के आधार पर यह कार्य अब अधिक सुगम हो गया है।

प्राचीन काल में जब किसी प्रकार की लिपि या लेख-पद्धति नहीं थी तब भी मौखिक ध्वनियों का महत्त्व था, आजकल रेडिओ, टेलीविज़न, टेपरिकार्डर आदि के युग में भी ध्वनियों का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। लिपि का आविष्कार हो जाने पर भी ध्वनियों का महत्त्व अधिक समझा जाता था। पुस्तकें होते हुए भी शिष्य अपने अध्यापक के मुख से निकलने वाली ध्वनियों से ही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। समाचार पत्रों आदि के होते हुए भी देश के नेता स्थान स्थान पर पहुंच कर अपने व्याख्यानों से ही जनता तक अपना सन्देश पहुंचाते हैं।

ध्वनि

ध्वनि का सामान्य अर्थ आवाज है। वैसे तो किसी भी आवाज को ध्वनि कहा जा सकता है। परन्तु भाषा विज्ञान के अन्तर्गत केवल मानवीय

ध्वनियों को ही ग्रहण किया जाता है। अन्य अव्यक्त ध्वनियों को नहीं[1]। व्यक्त ध्वनियों को हम सार्थक ध्वनियां और अव्यक्त ध्वनियों को निरर्थक कह सकते हैं। भाषा में सार्थक ध्वनियों का ही महत्त्व होता है निरर्थक ध्वनियों का नहीं। इस सीमित अर्थ में भी ध्वनि के दो रूप होते हैं—(१) भाषण-ध्वनि (Speech sound) (२) ध्वनि-ग्राम (Phoneme)।

भाषण ध्वनि (Speech Sound)

ध्वनि और भाषण-ध्वनि में कोई अधिक अन्तर नहीं है। मनुष्य के ध्वनियंत्र द्वारा उत्पादित और श्रावक गुणों से युक्त ध्वनि को ही भाषण-ध्वनि कहा जाता है।[2] भाषण ध्वनि की तीन स्थितियां होती हैं। (१) उत्पादन (Production) (२) वाहन (Transmission) (३) प्राप्ति (Reception)। मनुष्य अपने बोलने के अवयवों के द्वारा ध्वनि को उत्पन्न करता है। वह ध्वनि शब्द-लहरी (sound waves) के द्वारा फैल जाती है और उसी को मनुष्य अपने कानों द्वारा श्रवण करता है। जिस विज्ञान के अन्तर्गत भाषा-ध्वनि का अध्ययन किया जाता है उसे भाषण-ध्वनिविज्ञान (Phonetics) या केवल ध्वनिविज्ञान कहा जाता है। इन तीन स्थितियों के कारण इसके भी तीन विभाग किये जा सकते हैं। (१) शरीर सम्बन्धी (Physiological) (२) शब्द-लहरी-सम्बन्धी (Acoustic) (३) श्रावण सम्बन्धी (Auditory)। इन

---

1. "ध्वनि मनुष्य के विकल्प परिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से गृहीत शब्द-लहरी है। प्रो: डेनियल जोंस (Daniel Jones)

2. डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने Introduction to the Bengali Phonetic Reader में लिखा है—"A sound of definite acoustic quality produced by the organs of speech."

तीन विभागों में से भाषा विज्ञान के सामान्य अध्ययन में शरीर सम्बन्धी भाषा-ध्वनिविज्ञान का अध्ययन तो अनिवार्य सा है। शब्द-लहरी का अध्ययन मूलतया भौतिक-विज्ञान का विषय है। इसके विस्तृत अध्ययन के लिये गणित-शास्त्र और विशेष प्रयोगशाला की आवश्यकता है। भाषा-विज्ञानी इन दोनों की ओर विशेष ध्यान नहीं दे पाते। श्रवण प्रभावों का अध्ययन पूर्णतया वैज्ञानिक ढङ्ग पर नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका सम्बन्ध श्रोताओं के कानों पर पड़ने वाले प्रभाव से है। ध्वनियों का प्रभाव कठोर है या कोमल इसका अथवा इसी प्रकार की अन्य बातों का सर्वाङ्गीण विवेचन नहीं किया जा सकता। इसीलिये इस शाखा का अभी अधिक विकास नहीं हुआ।

ध्वनिग्राम (Phoneme)

सामान्य तौर पर मनुष्य के भाषणावयव से नि:सृत किसी भी ध्वनि को भाषण-ध्वनि कहा जा सकता है। भाषण-ध्वनियां अपरिमित होती हैं। उनकी गणना नहीं की जा सकती। मनुष्य के छोटे से ध्वनियंत्र में अनेक ध्वनियों के बोलने की शक्ति विद्यमान है। प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत इनमें से कुछ ध्वनियों को समझने और बोलने का प्रयास किया जाता है परन्तु जब हम किसी भाषा विशेष का अध्ययन करते हैं तो हमारे सामने अपरिमित ध्वनि समूह में से केवल कुछ ध्वनियाँ ही होती हैं। इन परिमित ध्वनियों का अध्ययन ध्वनिग्राम (Phonemics) के अन्तर्गत किया जाता है। पाइक का निम्न वाक्य इस बात को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है। "ध्वनिविज्ञान कच्चा माल इकट्ठा करता है और ध्वनिग्राम-विज्ञान उसे पकाता है।"

ध्वनिग्राम की परिभाषा करना कोई सरल कार्य नहीं है। किसी भाषा की न्यूनतम इकाई को ध्वनिग्राम कहा जा सकता है। एच ए. ग्लीसन के अनुसार ध्वनिग्राम भाषा के उच्चरित स्वरूप की वह न्यूनतम विशेषता है जिसके द्वारा एक कही गई बात का कही जाने वाली किसी

अन्य बात से अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है।[1] ब्लूमफील्ड के अनुसार ध्वनिग्राम विशिष्ट ध्वनिस्वरूप की लघुतम इकाई है। परन्तु ऐसा भी कहा जा सकता है कि ध्वनिग्राम प्रासंगिक ध्वनि विशेषताओं का न्यूनतम समूह है।[2]

यदि हम ध्वनियों के उच्चारण का सूक्ष्म निरीक्षण करें तो भाषण ध्वनि और ध्वनिग्राम का अन्तर अपने आप स्पष्ट हो जायेगा। कमरा, काल, कितना, कीड़ा, कुत्ता, कूड़ा, कृषि, केला, कैन्ची, कोना, कौमार्य की प्रारम्भिक ध्वनि 'क्' है। इसी प्रकार पक्क, पका, हक्का, बक्का आदि शब्दों के मध्य में भी वही 'क्' ध्वनि है और सम्यक्, पृथक् आदि के अन्त में भी 'क्' ध्वनि ही है। यदि हम उच्चारण की ओर सूक्ष्मता से ध्यान दें तो सभी शब्दों में 'क्' ध्वनि अपनी एक पृथक् विशेषता लिये दिखाई देगी। कमरा और काल में आने वाली क् ध्वनियों में अन्तर है। 'क्' के विभिन्न रूप भाषण ध्वनियां हैं परन्तु इन सब भाषध्वनियों का एक परिवार रूप 'क' ध्वनिग्राम है। इस प्रकार भाषध्वनियों के परिवार को ध्वनिग्राम कहा जा सकता है। यह केवल एक भाषा की सार्थक लघुतम इकाई है। भाषध्वनियों का अन्तर निरर्थक हो सकता है परन्तु ध्वनिग्रामों का अन्तर सार्थक होता है। जैसे यदि 'काल' शब्द में 'कमरा' में आने वाली 'क्' ध्वनियों का भी उच्चारण कर दिया जाय तो अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं आयेगा परन्तु 'क्' के स्थान पर यदि 'ग'

---

1. "We may define a phoneme as a minimum feature of the expression system of a spoken language by which one thing that may be said is distinguished from any other thing which might have been said." See-An Introduction to Descriptive Language, page 9.

2. See-Dictionary of Linguistics. Mario A. Pei and Frank Gaynor, Page 167.

ध्वनिग्राम का प्रयोग कर दिया जाय तो अर्थ में आकाश-पाताल का अन्तर आ जायेगा। भाषणध्वनियां भाषा की सूक्ष्म विशेषतायें समझने में सहायक होती हैं और इन्हीं के आधार पर ध्वनिग्रामों का ढांचा खड़ा किया जाता है। परन्तु, व्यवहार में ध्वनिग्रामों का ही अधिक महत्त्व है।

अध्याय ७

ध्वनि–यन्त्र

सामान्य भाषण ध्वनि को सरलता और संक्षेप की दृष्टि से केवल ध्वनि ही कह दिया जाता है। ध्वनि का उच्चारण शरीर के जिन अङ्गों के द्वारा किया जाता है उन्हें ध्वनि-यन्त्र कहा जाता है। मनुष्य के शरीर के जिन अङ्गों को ध्वनियन्त्र कहा जाता है उनका मूल उद्देश्य ध्वनि का उच्चारण नहीं बल्कि अन्य कार्य हैं। परन्तु अन्य काम करने वाले शरीर के अङ्गों से ध्वनि-उच्चारण का काम भी ले लिया जाता है।

इस ध्वनियन्त्र को सुविधा की दृष्टि से चार भागों में बांटा जा सकता है। (१) आस्य अथवा वाग्यन्त्र (Mouth cavity) (२) नासिका विवर (Nasal cavity) (३) कण्ठमार्ग (Pharynx) और (४) स्वरयन्त्र (Larynx)। इनके अतिरिक्त फेफड़ों (Lungs) और श्वास-नली (Wind-pipe) का भी अपना विशिष्ट स्थान है।

ध्वनियों का उच्चारण श्वासक्रिया पर निर्भर है। हम मुख से या नासिका भाग से सांस को अन्दर फेफड़ों तक लेजाते हैं और फिर उसी मार्ग से उसे बाहर फैंक देते हैं। ध्वनि का उच्चारण उच्छ्वास (Inhalation) और प्रश्वास (Exhalation) दोनों के द्वारा किया जासकता है। उच्छ्वास द्वारा उच्चरित ध्वनियों को क्लिक ध्वनियां कहा जासकता है और विश्व की ज्ञात अधिकांश भाषाओं में इन का अधिक महत्त्व नहीं। अधिकतर ध्वनियों का उच्चारण प्रश्वास अर्थात् फेफड़ों से बाहर निकलने वाली गन्दी वायु से किया जाता है इसीलिये इन ध्वनियों का ही अधिक महत्त्व समझा जाता है।

हमारे शरीर के कण्ठ-मार्ग के दो भाग हैं—(१) श्वास नली (Wind-pipe) और (२) भोजन नली (Food passage)। श्वास नली का कार्य फेफड़ों तक श्वास को ले जाना और उसे मुखविवर या नासिका-विवर से बाहर निकाल देना है। भोजन-नली के मार्ग से भोजन या पानी को पेट में पहुंचाया जाता है। भोजन नली का सीधा सम्बन्ध आमाशय (Stomach), पक्वाशय (Abdomen) और मलाशय (Secretion) के साथ है। हमें यह स्मरण रखना है कि इन स्थानों में भी वायु बनती है परन्तु उसे अपानवायु कहा जाता है और वह नीचे से ही निकल जाती है। कभी कभी डकार के रूप में जो आवाज होती है उस का भी सम्बन्ध इसी के साथ है और यह वायु भोजन-नली के मार्ग से ऊपर की ओर निकल जाती है। श्वास-नली और भोजन नली को अलग अलग रखने के लिये एक झिल्ली की दीवार होती है।

स्वरयन्त्र (Larynx)

फेफड़ों से ऊपर गले की श्वास-नली में स्वरयन्त्र (Larynx) होता है। गर्दन में जो उभरा हुआ सख्त भाग दिखाई देता है उसी को कण्ठ पिटक या टेंटुआ कहा जाता है। यहीं पर स्वर-यन्त्र है। इस स्थान पर श्वास-नली अपेक्षाकृत मोटी होती है। इसमें दो लचीले पर्दे से बने होते हैं जिन में बहुत महान महीन तन्त्रियाँ सी होती हैं जिन्हें स्वर तन्त्रियां (Vocal chords) कहा जाता है। स्वर-तन्त्रियों की चार स्थितियां हो सकती हैं—(१) दोनों पर्दे एक दूसरे से अलग पड़े रहते हैं और मध्य में श्वास के आने जाने का मार्ग खुला रहता है; (२) दोनों पर्दे एक दूसरे के साथ टक्कर खा कर श्वास में स्पन्दन सा पैदा कर देते हैं जिस से घोष या नाद की सृष्टि होती है। कण्ठपिटक पर हाथ रख कर इस कंपन का अनुभव किया जा सकता है; (३) दोनों पर्दे एक क्षण के लिये एक दूसरे के साथ जुड़ कर खड़े हो जाते हैं जिस से श्वास निकलने में थोड़ी देर के लिए बाधा उपस्थित हो जाती है: यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रह सकती

क्योंकि इससे दम घुटने लगेगा ; (४) दोनों पर्दे एक दूसरे के साथ जुड़ जाते हैं परन्तु श्वास के आने जाने के लिये थोड़ा सा मार्ग खुला रहता है। इन चार स्थितियों में मानवीय-ध्वनियों के भिन्न २ स्वरूप हो जाते हैं। स्वर-तन्त्रियों के मध्य में जो खुला मार्ग है उसे काकल या स्वर-यन्त्र मुख (Glottis) कहा जाता है। ऊपर इसका एक आवरण भी है जिसे अभिकाकल या स्वरयन्त्रमुख आवरण (Epiglottis) कहा जाता है। भोजन खाते समय या पानी पीते समय यह आवरण श्वास-नली के मार्ग को बंद कर देता है जिससे भोजन और पानी सीधे भोजन-नली से चले जाते हैं स्वरयन्त्र पूर्णतया सुरक्षित रहता है।

कण्ठ मार्ग (Pharynx)

अभिकाकल के ऊपर एक प्रकार का चौराहा है। यहीं से चार मार्ग श्वास-नली, भोजन-नली, मुखविवर और नासिकाविवर की ओर जाते हैं। इन चारों के मध्य का जो खुला मार्ग है उसी को कंठमार्ग, कंठविवर, कंठबिल आदि कहा जाता है। जिस प्रकार इस कंठमार्ग के नीचे की ओर अभिकाकल है जो श्वास-नली और भोजन-नली को एक दूसरे से अलग करता है उसी प्रकार ऊपर की ओर मुखविवर तथा नासिकाविवर के सन्धि स्थल पर एक लटकता हुआ मांस का छोटा सा टुकड़ा है जिसे अलिजिह्व, कौआ या घंटी (Uvula) कहते हैं। इस अलिजिह्व की तीन अवस्थायें होती हैं—(१) तन जाने से नासिकाविवर का मार्ग बिल्कुल बन्द कर देता है जिस से श्वास वायु मुंह से आती जाती है ; (२) बिल्कुल ढीला पड़ जाता है और मुखविवर को बन्द कर देता है जिस से श्वास वायु एक नासिका विवर से आती जाती है। सांस लेने की स्वाभाविक अवस्था में अलिजिह्व की यही स्थिति रहती है ; (३) इस स्थिति में अलिजिह्व न बिल्कुल तन कर खड़ा होता है और न ढीला पड़ कर नीचे गिर जाता है। यह उसकी मध्यम स्थिति है जिसके कारण श्वास-वायु मुखविवर और नासिकाविवर, दोनों विवरों से आती जाती है। अलिजिह्व को दर्पण के द्वारा मुख खोल

कर अन्तिम भाग पर दृष्टि डालने से देखा जा सकता है।

वाग्यन्त्र (Mouth cavity)

मुखविवर में अनेक भाग ऐसे हैं जो ध्वनि-उत्पादन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन भागों का सामूहिक नाम वाग्यन्त्र है। मुखविवर में ऊपर की ओर एक छत सी बनी हुई है जो एक ओर से अलिजिह्व के साथ जुड़ी हुई है तो दूसरी ओर दांतों के उपरिभाग मसूढ़ों से। इस स्थान को तालु (Palate) कहा जाता है। इस तालु के दो भाग हैं—(१) कठोर तालु (२) कोमल तालु। कोमल तालु कंठ के साथ जुड़ा हुआ कोमल भाग है—कभी कभी इसी को कंठ का नाम भी दे दिया जाता है जो वस्तुतः ठीक नहीं। कठोर तालु के भी दो भाग हैं—(१) मूर्धा ; (२) तालु। ऊपर छत वाला भाग मूर्धा है और नीचे की ओर पर मसूढ़ों से ऊपर का भाग तालु है। वस्तुतः तालु शब्द केवल इसी भाग के लिये रूढ़ है। तालु के नीचे का मांस जो दांतों के साथ जुड़ा हुआ है वर्त्स या वर्त्व (alveoli, teeth ridge) कहा जाता है। इसी के नीचे दाँत (teeth) हैं।

मुखविवर में नीचे की ओर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवयव जीभ या जिह्वा (Tongue) है। यह अत्यन्त कोमल और गतिशील अवयव है। जिह्वा अनेक रूप धारण कर सकती है। मुखविवर के सभी स्थानों का स्पर्श कर सकती है और मुखबिवर से बाहर भी उसे आसानी से निकाला जा सकता है। जिह्वा के विभिन्न रूपों के कारण अनेक ध्वनियों की सृष्टि की जा सकती है। जिह्वा को सुविधा की दृष्टि से पांच भागों में बांटा जाता है—(१) मूल (root) ; (२) पश्च (back dorsum) ; (३) मध्य (middle) ; (४) अग्र (front) ; (५) नोक (tip, apex)। अधिकतर इन में से तीन भागों का हा उल्लेख किया जाता है—अग्र, मध्य और पश्च परन्तु जिह्वा-नोक भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितने जिह्वा के अन्य भाग।

मुख-विवर का आवरण सा बने हुए बाहर की ओर ओंठ हैं। ओष्ठ दो हैं—(१) अधरोष्ठ; (२) उपर्योष्ठ। इनकी भी तीन अवस्थायें हो सकती हैं—(१) दोनों ओष्ठ एक दूसरे के साथ सट कर जुड़ जाते हैं; (२) अधरोष्ठ ऊपर वाली दन्त पंक्ति के साथ संयुक्त हो जाता है; (३) दोनों थोड़े बहुत गोलाकार होकर आगे की ओर उभड़ से आते हैं।

नासिका-विवर (Nasal cavity)

अलिजिह्व के कारण श्वास-वायु का नासिकाविवर से आना जाना नियमित रहता है। केवल नासिका विवर से श्वासवायु का आना जाना स्वाभाविक स्थिति है परन्तु जब अलिजिह्व मध्यम स्थिति में रहता है, तो मुखविवर और नासिका-विवर दोनों से थोड़ी थोड़ी श्वास-वायु निकलती है। इन दोनों स्थितियों में ध्वनियों के उच्चारण में नासिका-विवर भी सहायता पहुँचाता है।

अध्याय ८

ध्वनियों का वर्गीकरण
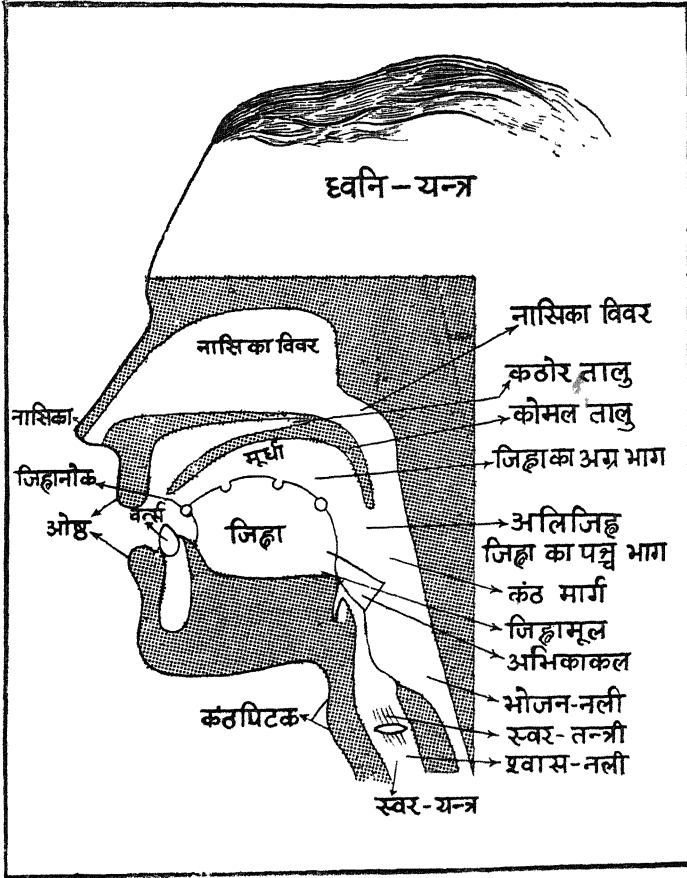
ध्वनि यन्त्र में असङ्ख्य ध्वनियों का उत्पादन करने की शक्ति है। उन सब ध्वनियों का वर्गीकरण तो नहीं किया जा सकता परन्तु कुछेक समानताओं को देखते हुए उन ध्वनियों को कुछ वर्गों में अवश्य बिभाजित किया जा सकता है। ध्वनियों का वर्गीकरण मूल रूप में दो तत्त्वों पर आधारित है—(१) स्थान और (२) प्रयत्न। ध्वनियों के उच्चारण में ध्वनियन्त्र के जिन अवयवों से विशेष सहायता ली जाती है उन्हें उन ध्वनियों का स्थान कहा जाता है और विभिन्न ध्वनियन्त्र के अवयवों द्वारा इन ध्वनियों के उत्पादन में जो विशेष प्रकार का काम किया जाता है उसे प्रयत्न कहते है। प्रयत्न के भी दो भेद माने जाते है—(१) आभ्यन्तर (२) बाह्य। मुखविवर अथवा वाग्यन्त्र में होने वाले सभी प्रयत्न आभ्यन्तर कहलाते हैं और इससे बाहर अर्थात् स्वरयन्त्र आदि में होने वाले प्रयत्न बाह्य कहलाते हैं।

सामान्य तौर पर ध्वनियों का वर्गीकरण दो भागों में किया जाता है-(१) स्वर (Vowels) (२) व्यञ्जन (Consonants)। प्राय: स्वर और व्यञ्जन का अन्तर स्पष्ट करते हुए यह कहा जाता है—स्वर बिना किसी की सहायता के बोला जा सकता है और अक्षर बना सकता है परन्तु व्यञ्जन के उच्चारण में स्वर की अपेक्षा होती है और वह स्वतन्त्र रूप में अक्षर भी नहीं बना सकता। उदाहरण के तौर पर हम 'अ' का स्वतन्त्र रूप में उच्चारण कर सकते है इस लिये यह स्वर है। 'क' के उच्चारण में 'अ' अथवा अन्य किसी स्वर की अपेक्षा रहती है—स्वरहीन 'क्' का उच्चारण असम्भव है इसलिये यह व्यञ्जन है। अति प्राचीन काल से स्वर और व्यञ्जन के यही लक्षण व्याकरण-ग्रन्थों में देखने को मिलते है परन्तु स्वर और व्यञ्जन से सम्बन्धित हमारी यह धारणा सदोष है। जिन्हें साधारण तौर पर व्यञ्जन माना जाता है उनका भी स्वतन्त्र उच्चारण किया जा सकता है जैसे स्, श्, ल् आदि। अंग्रेज़ी के गार्ड॰न् (garden) बॉट्ल (bottle) आदि जैसे शब्दों मे न॰' और 'ल॰' अक्षर बनाने में समर्थ हैं। 'न॰'. और 'ल॰' के नीचे बिन्दु लगा कर उसकी इसी शक्ति को

प्रकट किया जाता है। इस लिये स्वर और व्यञ्जन की र
पर मान्य यह परिभाषा ठीक नहीं है।

आधुनिक ध्वनि विज्ञान के अनुसार स्वर और व्यञ्जन क
भिन्न रूप में की जाती है—स्वर वह ध्वनि है जिसके उत्पादन में
खुला रहता है। जिससे श्वास-वायु बिना रुकावट के बाहर निकल
व्यञ्जन वह ध्वनि है जिसके उत्पादन में श्वास-वायु के निःसरण
न किसी प्रकार का गतिरोध पैदा किया जाता है।[2]

स्वर (Vowel)

यद्यपि स्वर ध्वनि के उच्चारण में किसी प्रकार का गतिरो
नही किया जाता तथापि जिह्वा की स्थिति और ओठों का स्वरूप
जाता है जिसके कारण स्वर-ध्वनियों के उच्चारण में भिन्नता आ
करती है। जिह्वा के मुख्य रूप में तीन भाग हैं—(१) अग्र (२) मध्य
पश्च। इसी के अनुसार स्वरों के भी तीन भेद होते हैं। यदि किसी ध्व
उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग ऊपर की ओर उठे तो वह अग्र
कहलाता है, यदि मध्य भाग उठे तो मध्य स्वर और यदि पश्च
उठे तो वह पश्च स्वर कहलाता है। जिह्वा के ये विभिन्न भाग इतने
ऊपर उठते हैं कि किसी स्थान को छू कर किसी प्रकार का श्वास वायु के
लिए गति-रोध उत्पन्न न करे। जिह्वा के अपेक्षाकृत कम या अधिक ऊपर
उठने से अनेक स्वर-ध्वनियों का उच्चारण किया जा सकता है।

---

1. "A sound produced with a vibration of the vocal cords, by the unobstructed passage of air through the oral cavity." Dictionary of Linguistics. Page 229.

2. "A sound produced by an obstruction or blocking or some other restriction of the free passage of the air, exhaled from the lungs, through the oral cavity." Dictionary of Linguistics. Page 46.

-वायु के निकलने के लिये मुख को अधिकाधिक खोला भी जा
और इतना बन्द भी किया जा सकता है जिस से श्वास-वायु
कम निकले। मुंह के पूरे खुले होने को विवृति कहा जाता है
कांश में बन्द होने को संवृति कहा जाता है। इस आधार पर
स्वरों के चार भेद किये जाते हैं—(१) विवृत (२) अर्धविवृत (३)
(४) संवृत। विवृत स्वरों में मुंह पूरा खुला होता है। अर्धविवृत
खुला होता है। अर्धसंवृत में आधा बन्द होता है। संवृत में
बन्द होता है श्वासवायु के निकलने के लिये बहुत थोड़ा ही स्थान
ोता है। अर्धविवृत और अर्धसंवृत का अन्तर आपेक्षिक है। अर्ध-
स्वर में अर्धसवृत की अपेक्षा मुंह अधिक खुला होता है।

स्वरों का विभाजन आठों की स्थिति पर भी निर्भर है। कुछ स्वरों
च्चारण ओठों को गोल करके किया जाता है और कुछ स्वरों के
रण में ओठों को गोल करने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार
दो प्रकार के होते हैं—(१) वृत्ताकार या गोलाकार (rounded)
अवृत्ताकार (unrounded)। हिन्दी ध्वनि 'ऊ' वृत्ताकार है और
अवृत्ताकार।

न स्वर (Cardinal Vowels)

सभी भाषाओं की ध्वनियां अपनी होती है। विशेष भाषा का अध्ययन
करते समय उसकी विशिष्ट ध्वनियों का वर्गीकरण उपर्युक्त आधार पर
किया जा सकता है जैसे हिन्दी ध्वनियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए
हम कह सकते है कि हिन्दी की 'ई' ध्वनि संवृत अवृत्ताकार अग्र स्वर है.
'ऊ' ध्वनि संवृत वृत्ताकार पश्च स्वर है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं की
ध्वनियों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जिह्वा के ऊपर उठने की
विभिन्न स्थितियों के आधार पर अनेक सूक्ष्म विभाजन किये जाते हैं। इन
विभिन्न स्थितियों का मापने के लिए भाषा के सामान्य अध्ययन के अन्तर्गत
कुछ स्वर माने जाते है जिन्हें हिन्दी में मान स्वर, मूल स्वर या आदर्शस्वर

कहा जाता है। इनकी स्थिति कपड़ा मापने वाले गज़ के समान है। इन मान स्वरों के आधार पर विभिन्न भाषाओं की स्वर-ध्वनियों को मापा जा सकता है। ये मान स्वर आठ हैं। इन में से चार अग्र स्वर हैं और चार पश्च स्वर। कभी कभी एक अन्य मध्य स्वर का भी उल्लेख किया जाता है। ये सब स्वर निम्न चित्र में दिये हुये हैं—

हमने ऊपर दिये हुए चित्र में देवनागरी लिपि के आधार पर मूल स्वरों को निर्दिष्ट किया है। हमें यह स्मरण रखना है कि ये मूल स्वरों का निर्देश करने के लिये चिन्ह मात्र हैं। इन्हें केवल हिन्दी की ध्वनियां मानना ठीक न होगा। हम चाहें तो इन्हें १, २, ३, ४ आदि संख्यावाचक चिन्हों से भी अंकित कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि लिपि (International Phonetic Alphabet) में इन मूल स्वरों को अंकित करने के चिन्ह इस प्रकार हैं—

	Front	Central	Back
Close	i		u
Half-close	e	p	o
Half-open	ɛ		ɔ
Open	a		*a*

स्वरों के अग्र या पश्च होने की परीक्षा उंगली से जीभ को स्पर्श कर के की जा सकती है। इससे यह भी पता चल जायेगा कि स्वरों के उच्चारण में वायु अबाध गति से निकल जाती है और जीभ का किसी अन्य अवयव से स्पर्श आदि भी नहीं होता। आजकल कई बार केवल आठ मूल स्वरों का ही उल्लेख न कर के जिह्वा की विभिन्न स्थितियों और ओठों के गोलाकार होने या न होने के आधार पर बयालीस स्वरों का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है—अधिकांश स्वर-ध्वनियां इन्हीं के अन्तर्गत ही मानी जा सकती हैं। बयालीस स्वरों का चित्र नीचे दिया हुआ है—

	अग्र		मध्य		पश्च	
	वृत्ताकार	अवृत्ताकार	वृत्ताकार	अवृत्ताकार	वृत्ताकार	अवृत्ताकार
उच्च						
निम्न-उच्च						
उच्च-मध्य						
मध्य						
निम्न-मध्य						
उच्च-निम्न						
निम्न						

इन सब स्वरों का उल्लेख करने के लिये विभिन्न चिन्हों का भी प्रयोग किया जाता है—अपनी अपनी लिपि के अनुसार उन चिन्हों का आवश्यकतानसार प्रयोग किया जा सकता है।

इन स्वरों को दो और वर्गों मे भी बाँटा जा सकता है— (१) अनुनासिक (Nasalized) (२) अननुनासिक (Oral)। जिन स्वरों के उच्चारण में अलिजिह्व की मध्यम स्थिति रहे जिसके कारण श्वास वायु मुखविवर और नासिकाविवर दोनों से निकले तो स्वर अनुनासिक (Nasalized) होंगे। जिन स्वरों के उच्चारण में अलिजिह्व तन कर खड़ा हो जाये और नासिकामार्ग सर्वथा अवरुद्ध हो जाये तथा श्वास वायु केवल मुखविवर से निकले तो वे स्वर अननुनासिक (oral) होंगे। अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से स्वरों के और भेद भी किये जा सकते हैं।

व्यञ्जन (Consonants)

व्यञ्जनों के वर्गीकरण के मूल आधार दो हैं (१) स्थान (२) प्रयत्न। जिस ध्वनि के उच्चारण में ध्वनियन्त्र के जिस स्थान पर श्वासवायु से गतिरोध या बाधा उपस्थित हो वही उस ध्वनि का स्थान माना जायेगा। इस प्रकार का गतिरोध कई स्थानों पर किया जा सकता है। स्थान की दृष्टि से व्यञ्जनों के मुख्य भेद निम्नलिखित है।

१. ओष्ठ्य (Labial)

जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वासवायु से गतिरोध ओष्ठों के द्वारा लाया जाये वे ओष्ठ्य ध्वनियां हैं। इन ध्वनियों के तीन उपभेद किये जाते हैं—(१) उभड़ी हुई (Protruded) (२) द्व्योष्ठ्य (Bilabial) (३) दन्त्योष्ठ्य (Dento labial) या (Labio-dental)। उभड़ी हुई ध्वनि में दोनों ओष्ठ आगे की ओर निकल से आते हैं। अधिकांश में ऐसी स्थिति में श्वास वायु के निकलने का मार्ग खुल सा जाता है इसी लिये स्वरों का उच्चारण इस स्थिति में अधिक होता है व्यञ्जनों का नहीं। दोनों ओंठ एक दूसरे के साथ जुड़कर श्वास-वायु को रोक दें तो द्व्योष्ठ्य व्यञ्जन का उच्चारण होता है। अधरोष्ठ और ऊपर की दन्त पंक्ति से जो

गतिरोध पैदा किया जाता है उस से दन्त्योष्ठ्य व्यञ्जन का उच्चारण होता है[1]।

२. दन्त्य (Dental)

जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा नोक और दन्त पंक्ति के स्पर्श से श्वास वायु को रोका जाय वह दन्त्य व्यञ्जन ध्वनि होती है। दन्त्य व्यञ्जन ध्वनि के तीन उपभेद होते हैं— (१) पुरोदन्त्य, प्राग्दन्त्य या अग्रदन्त्य (Predental) (२) अन्तर्दन्त्य (Inter-dental) (३) पश्चदन्त्य (Post-dental) पश्चाद्दन्त्य या दन्तमूलीय। पुरोदन्त्य ध्वनियां वह ध्वनियां हैं जिन का उच्चारण जिह्वानोक और दन्तपंक्ति के अग्रभाग के संसर्ग से हो। अन्तर्दन्त्य ध्वनियों का उच्चारण जिह्वा के दोनों दन्त पंक्तियों के मध्य में आ जाने से होता है। दन्त-मूल और जिह्वा नोक के संसर्ग से पश्चदन्त्य ध्वनियों का उच्चारण होता है।[2]

३. वर्त्स्य (Alveolar)

पश्चदन्त्य ध्वनियों और वर्त्स्य ध्वनियों में विशेष अन्तर नहीं है। दन्त पंक्ति और तालु के मध्य का भाग वर्त्स कहलाता है। सामान्य तौर पर इन्हें मसूड़े कहा जाता है। इसी स्थान से उच्चरित ध्वनियां वर्त्स्य कहलाती हैं। जिह्वानोक के संसर्ग से ही इन ध्वनियों का उच्चारण होता है।[3]

४. तालव्य (Palatal)

मसूड़ों से ऊपर जो कठोर भाग है उसी को तालु कहते हैं। इस

---

1. हिन्दी की 'प', 'फ' आदि ध्वनियां द्व्योष्ठ्य हैं। हिन्दी 'व' ध्वनि का उच्चारण द्व्योष्ठ्य भी है दन्त्योष्ठ्य भी। फ ध्वनि दन्त्योष्ठ्य है।

2. हिन्दी में 'त' 'पुरोदन्त्य' 'थ' अन्तर्दन्त्य और 'न' पश्चदन्त्य है। अंग्रेजी में त और द पश्चदन्त्य हैं परन्तु थ और द अन्तर्दन्त्य ध्वनियां हैं।

3. उदाहरण के तौर पर हिन्दी की 'स', 'ज़' आदि ध्वनियां।

स्थान से उच्चरित ध्वनियां तालव्य होती हैं। अधिकांश में जिह्वा के अग्र-भाग के ससर्ग से ही इन ध्वनियों का उच्चारण होता है ।[1]

५. मूर्धन्य (Cerebral)

कठोर तालु और कामल तालु के मध्य में ऊपर की ओर छत के समान जो भाग है उसे मूर्धा कहा जाता है। जिह्वा के ससर्ग से इस स्थान पर उच्चरित होने वाली ध्वनियों को मूर्धन्य कहा जाता है ।[2]

६. कंठ्य (Velar)

मूर्धा से आगे का कोमल भाग कोमल तालु है। इसी स्थान को गलती से कण्ठ कह दिया जाता है। यही कारण है कि इस स्थान से उच्चरित ध्वनियों को कंठ्य कह दिया जाता है। इन ध्वनियों को कोमल-तालव्य कहना ही अधिक उपयुक्त है। अधिकांश में जिह्वा के पश्च भाग के संसर्ग से ही इन ध्वनियों का उच्चारण होता है ।[3]

७. अलिजिह्वीय (Uvular)

इन ध्वनियों को जिह्वामूलीय भी कहा जाता है। इन ध्वनियों का उच्चारण जिह्वामूल के अलिजिह्व के साथ संसर्ग से होता है। कोमल तालु से आगे लटकता हुआ मांस का छोटा सा टुकड़ा अलिजिह्व है ।[4]

८. उपालिजिह्वीय (Pharyngeal)

अलिजिह्व और नासिका विवर से नीचे की ओर, पर स्वरयन्त्र से ऊपर श्वास नली के भाग को उपरिनालिका (Pharynx) कहा जाता

---

1. हिन्दी की 'च', 'छ', 'श' आदि ध्वनियां।
2. हिन्दी की ट, ठ, ड, ढ आदि ध्वनियां।
3. जैसे हिंदी में क ख आदि ध्वनियां।
4. जैसे अरबी फारसी की क़, ख़, ग़, ध्वनियां। हिंदी में भी अरबी फारसी से आये शब्दों में इनका उच्चारण होता है।

है। इस स्थान से उच्चरित ध्वनियों को उपालिजिह्वीय कहा जाता है।[1]

९. स्वरयन्त्रस्थानीय (Glottal या Laryngl)

स्वर-तन्त्रियों की विभिन्न स्थितियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। स्वर-तन्त्रियों की एक स्थिति यह है कि दोनों पर्दे एक साथ जुड़ कर एक क्षण के लिये श्वास वायु को रोक देते हैं। ऐसी स्थिति में उच्चरित ध्वनियों को स्वरयन्त्रस्थानीय ध्वनियां कहा जाता है। इन्हें काकल्य, उरस्य या स्वरयन्त्रमुखी भी कहा जाता है।[2]

१०. नासिक्य (Nasal)

जिन ध्वनियों का उच्चारण केवल नासिका-विवर से हो उन्हें नासिक्य ध्वनियां कहा जाता है।

व्यञ्जनों के वर्गीकरण का दूसरा आधार प्रयत्न है। ध्वनि-यन्त्र के अवयवों को विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण में अनेक प्रयत्न करने पड़ते है। इन प्रयत्नों मे से कुछ मुख्य प्रयत्नों का उल्लेख नीचे किया जाता है:—

१. स्पर्श (Stop)

व्यञ्जनों के उच्चारण में यह प्रयत्न मुख्य है। यदि दो अवयवों के स्पर्श से श्वास-वायु के निकलने के मार्ग मे बाधा उपस्थित की जाये तो इस प्रयत्न को स्पर्श कहते हैं। इस प्रयत्न में श्वासवायु पहले किसी स्थान पर रुक जाती है और फिर धक्का-सा देकर बाहर निकलती है जिससे स्फोट (Explosion) सा होता है। इस प्रयत्न द्वारा उच्चरित ध्वनियों को भी स्पर्श (Stop) या स्फोट (Explosive) ध्वनियां कहा जाता है।[3]

---

1. जैसे अरबी बड़ी हे (ह) और ऐन (अ़)। हिंदी में इनका उच्चारण नहीं होता।

2. अरबी की हम्ज़ा (ह्) हिंदी में यह ध्वनि नहीं है परन्तु कहीं कहीं उच्चारण में इसका हल्का रूप देखने को मिलता है जैसे भूख में 'ख्' का उच्चारण।

3. हिंदी में कवर्ग, तवर्ग, पवर्ग ध्वनियां स्पर्श ध्वनियां हैं।

२. संघर्ष या घर्ष (Friction)

जब ध्वनि-यन्त्र के दो अवयवों के मिलने से श्वास-वायु रगड़ सी पैदा करती हुई बाहर निकल जाय तो इस प्रयत्न को संघर्ष कहते हैं। स्पर्श प्रयत्न में श्वास-वायु पहले बिल्कुल रुक जाती है फिर स्पर्श करने वाले अवयव के हट जाने से श्वास-वायु बाहर निकलती है परन्तु संघर्ष में यद्यपि दो अवयवों का स्पर्श होता है तथापि श्वास वायु रुकती नहीं बल्कि रगड़ खा कर बाहर निकल जाती है। इसमें दो अवयवों के अलग होने का प्रश्न नहीं उठता इसीलिये इन ध्वनियों का उच्चारण लगातार किया जा सकता है। इस प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होने वाली ध्वनियों को संघर्षी या घर्षी (Fricative, Spirant, Durative) कहा जाता है। प्रवाहमयी गति के कारण इन्हें अव्याहत अथवा अनवरुद्ध (Continuant) भी कहा जाता है।[1]

३. स्पर्श-संघर्ष (Semi- plosion या Affrication)

स्पर्श और संघर्ष के मध्य की स्थिति स्पर्श-संघर्ष है। इस प्रयत्न में दो अवयवों का स्पर्श होता है, अन्य स्पर्श व्यञ्जनों के समान स्फोट भी होता है परन्तु साथ ही हवा थोड़ी रगड़ खाकर इस प्रकार निकलती है जिससे संघर्ष सा प्रतीत हो। इस प्रकार की ध्वनियों को स्पर्श संघर्षी (Affricate या Semi-Plosive) कहा जाता है।[2]

४. पार्श्विकता (Laterality)

इस प्रयत्न में दो अवयवों के स्पर्श से मुख-विवर के अग्रभाग में तो

---

1. हिंदी में स, श. ह, व तथा अरबी फारसी से आई ख, ग़, ज़, फ़, ध्वनियां संघर्षी ध्वनियां हैं। अंग्रेजी की 'थ्, द्, फ़,' ध्वनियां भी संघर्षी ध्वनियां हैं।

2. जैसे हिन्दी की च, छ, ज, झ ध्वनियां।

पूर्ण बाधा उपस्थित की जाती है परन्तु दोनों पार्श्वों में से श्वास-वायु निकल जाती है। अधिकांश में जिह्वा के कठोर-तालु के स्पर्श से इस प्रकार का प्रयत्न देखने को मिलता है। इस प्रकार उच्चरित ध्वनियां पार्श्विक (Lateral) ध्वनियां कहलाती हैं।[1]

५. स्पन्दन (Trill)

इस प्रयत्न में श्वास-वायु के रगड़ खाकर निकलने से जिह्वा, ओंठ या अलिजिह्व का स्पन्दन होता है जिससे इन अवयवों में धड़कन जैसी स्थिति हो जाती है। यदि यह स्पन्दन एक बार हो तो इसे स्पन्दन (trill) नहीं कहा जाता। एक से अधिक बार होने पर ही इसे स्पन्दन कहा जाता है। एक स्पन्दन को थपथपाहट (tap) कहते है। हिंदी 'र्' ध्वनि 'tap' ध्वनि ही है परन्तु अंग्रेज़ी 'र्' ध्वनि स्पन्दित (trill) है। इसके दो भेद होते है— (१) लुठन या लोड़न (Roll) (२) उत्क्षेप (Flap)। लुंठन में स्पन्दन निरन्तर होता रहता है। उत्क्षेप में तेज़ी से झटका सा मार कर संसर्ग करने वाला अवयव हट जाता है। इस प्रकार ये ध्वनियां दो प्रकार की होती हैं— १. लुंठित या लोड़ित[2] (Rolled) २. उत्क्षिप्त (flapped)[3]

६. अनुनासिकता (Nasality)

स्थान की दृष्टि से विचार करते हुए नासिक्य ध्वनि का उल्लेख किया जा चुका है। अनुनासिक ध्वनि के उच्चारण को देखते हुए उस पर स्थान की दृष्टि से ही विचार किया जाना चाहिये परन्तु अनुनासिक ध्वनि के उच्चारण में मुख-विवर का कोई स्थान भी सम्बन्धित होता है। केवल नासिक्य ध्वनियाँ बहुत कम होती हैं। कहा जाता है कि संस्कृत में अनुस्वार

---

1. जैसे हिन्दी की ल्, ल्ह् ध्वनियां।
2. जैसे हिन्दी की र्, र्ह् ध्वनियां।
3. जैसे हिन्दी की ड़्, ढ़्, ध्वनियां। फ्रेञ्च में अलिजिह्वीय स्पन्दित ध्वनि 'इ' है।

नासिक्य ध्वनि थी परन्तु अब उसका उच्चारण लुप्त होगया है। अनुनासिक ध्वनियां अनेक हैं। मुखविवर के स्थान को उन ध्वनियों का स्थान मान लिया जाता है और नासिका से श्वास-वायु के निकलने को उसका प्रयत्न कह दिया जाता है। इन ध्वनियों के उच्चारण में अलिजिह्व की मध्यम स्थिति रहती है।[1]

७. श्वास

व्यञ्जनों का वर्गीकरण श्वास-प्रयत्न की दृष्टि से भी किया जाता है। इस दृष्टि से व्यञ्जनों के दो भेद माने जाते हैं—(१) अल्पप्राण (Unaspirated) (२) महाप्राण (Aspirated)। यदि अन्दर से आती हुई श्वास-वायु थोड़ी हो तो इस प्रकार उच्चरित ध्वनि अल्पप्राण होती है। यदि श्वास-वायु अधिक हो तो इस प्रकार उच्चरित ध्वनि महाप्राण होती हैं। श्वास-वायु की अल्पता और महत्ता का आभास कई रूपों में प्राप्त किया जा सकता है। यदि मुंह के आगे हथेली को रख दिया जाय तो अल्प-प्राण ध्वनि के उच्चारण में श्वास-वायु का वेग या बल कम प्रतीत होगा और महाप्राण ध्वनि के उच्चारण में अधिक। यदि मुँह के पास एक कागज का छोटा सा टुकड़ा रख दिया जाय तो अल्पप्राण ध्वनि के उच्चारण में वह नहीं हिलेगा परन्तु महाप्राण ध्वनि के उच्चारण में वह हिल जायेगा। इस प्रकार का प्रयोग माचिस की तीली से भी किया जा सकता है। यदि माचिस की तीली को जला कर मुँह के पास रखे और अल्पप्राण ध्वनि का उच्चारण करें तो वह नहीं बुझेगी परन्तु महाप्राण ध्वनि के उच्चारण से बुझ जायेगी।[2]

---

1. हिन्दी की ङ्, ञ्, ण् न, म्, आदि ध्वनियां अनुनासिक हैं।

2 किसी भाषा में ध्वनि की अल्पप्राणता और महाप्राणता सार्थक और अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है परन्तु किसी में नहीं। हिन्दी में क, ग च,

(दूसरे पृष्ट पर देखो)

८. घोष

व्यञ्जनों के वर्गीकरण का एक आधार नाद या घोष भी है। इस दृष्टि से व्यञ्जन दो प्रकार के होते हैं—(१) सघोष (Voiced) (२) अघोष (Unvoiced)। पीछे स्वर-तन्त्रियों की जो चार स्थितियां बताई हैं उनमें से दो स्थितियां इस प्रकार हैं—(१) दोनों स्वरतन्त्रियां अलग अलग रहती हैं जिससे श्वास-वायु अबाध गति से मुखविवर की ओर चली जाती है; (२) दोनों स्वर-तन्त्रियां एक दूसरे के साथ मिल कर स्पन्दन सा पैदा करती हैं जिससे दोनों स्वर तन्त्रियों के टकराने से आवाज़ निकलती है। इसी को घोष या नाद कहते हैं। पहली स्थिति में अघोष ध्वनियों का उच्चारण होता है और दूसरी स्थिति में सघोष ध्वनियों का। सभी स्वर सघोष होते हैं परन्तु व्यञ्जन अघोष भी होते हैं और सघोष भी।[1]

ज, ट, ड, त, द, प, ब ध्वनियां अल्पप्राण हैं। इन्हीं ध्वनियों का महाप्राण रूप क्रमश: ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, भ हैं। यदि 'क' के स्थान पर 'ख' का उच्चारण किया जाय तो अर्थ में अत्यधिक परिवर्तन हो जाये गा। जैसे काल, खाल इसी प्रकार गिरना-घिरना, चल-छल जूठ-झूठ, टाट-ठाठ डाल ढाल ताली-थाली, दोना-धोना, पल-फल, बला-भला जैसे शब्दों में आकाश-पाताल का अन्तर है। अंग्रेज़ी या तामिल में ऐसी बात नहीं। अंग्रेज़ी में प्रारम्भिक क्, त्, प् ध्वनियां महाप्राण होती हैं और मध्य या अन्त में अल्पप्राण—जैसे अंग्रेज़ी Can, Tap, Pin का उच्चारण खैन, ठैप, फिन होता है परन्तु यदि इनका उच्चारण कैन, टैप, पिन आदि किया जाय (जैसा कि भारत में किया जाता है) तो अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

1. हिन्दी की क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, स आदि ध्वनियाँ अघोष हैं और ग, घ, ज, झ, ड, ढ, द, ध, ब, भ, ज़ आदि ध्वनियां सघोष हैं।

स्पन्दन का अनुभव कंठपिटक पर हाथ रखने से किया जा सकता है। यदि दोनों कानों में उंगलियां रख दी जायें और फिर क्रमश: "स्" और "ज्" का उच्चारण किया जाय तो अघोष और सघोष का अन्तर स्पष्ट सुनाई देने लगेगा। 'स्' के उच्चारण में नाद या घोष सुनाई नहीं देगा पर 'ज्' के उच्चारण में सुनाई देगा। इस बात की ओर ध्यान रखना है कि व्यञ्जन ध्वनि का उच्चारण करते समय स्वर का उच्चारण न किया जाय। क्योंकि स्वर सघोष हैं इसीलिये स्वर सहित अघोष व्यञ्जन का उच्चारण करते समय भी घोष सुनाई दे जायेगा।[1]

अर्द्धस्वर (Semi-vowel)

साधारणतया ध्वनियों के दो वर्ग ही हैं—१. स्वर २. व्यञ्जन। परन्तु कुछ ध्वनियां ऐसी भी है जिन्हें न तो स्वर कहा जा सकता है न व्यञ्जन। इन्हें स्वर और व्यञ्जन की मध्यवर्त्ती ध्वनियां कहा जासकता है। संस्कृत में ऐसी ध्वनियों को अन्तःस्थ कहा जाता है। इन ध्वनियों में स्वर और व्यञ्जन दोनों की विशेषतायें विद्यमान रहती हैं।[2]

---

1. संस्कृत वैयाकरणों ने प्रयत्न के दो रूप माने हैं – १ आभ्यन्तर २. बाह्य। आभ्यन्तर प्रयत्न पांच हैं—१. स्पृष्ट २. ईषत्स्पृष्ट ३. ईषद्विवृत ४. विवृत ५. संवृत। बाह्य प्रयत्न ग्यारह हैं—१. विवार २. संवार ३. श्वास ४. नाद ५. घोष ६. अघोष ७. अल्पप्राण ८. महाप्राण ९. उदात्त १०. अनुदात्त ११. स्वरित। आजकाल अन्तिम तीन बाह्य प्रयत्नों का उल्लेख ध्वनियों के गुणों के अन्तर्गत किया जाता है।

2. हिन्दी में 'य्, व्' अर्द्धस्वर हैं। संस्कृत में 'र्' 'ल्' ध्वनियां भी अर्द्धस्वर थीं। इन के समानान्तर इ, उ, ऋ, लृ हैं। ऋ, लृ के स्वर रूप में लुप्त होजाने के कारण हिन्दी की र्, ल् ध्वनियां व्यञ्जन ही हैं, अर्द्धस्वर नहीं।

क्लिक ध्वनियां

जिन भाषाओं से हमारा अधिक सम्बन्ध है उनमें प्राय: ध्वनियों का उच्चारण मुख-विवर या नासिका विवर के मार्ग से बाहर निकलने वाली श्वास-वायु से ही होता है। इसलिये अधिकतर ध्वनियों का वर्गीकरण इसी आधार पर किया जाता है। परन्तु अन्दर फेफड़ों की ओर जाने वाली श्वासवायु से भी ध्वनियों का उच्चारण किया जा सकता है। इस प्रकार की ध्वनियों को अन्तर्मुखी ध्वनियां या क्लिक ध्वनियां (Click या Suction-Sounds) कहा जाता है। कभी कभी आश्चर्य दुःख, वेदना, पीड़ा, प्रेरणा आदि भावों को व्यक्त करने के लिये भी क्लिक ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है। अफरीका की कई भाषाओं में ये क्लिक ध्वनियां विद्यमान है। दक्षिणी अफरीका के बुशमैन परिवार की भाषाओं में ये अधिक हैं। भारतवर्ष की सिन्धी भाषा में 'ब' का उच्चारण क्लिक ध्वनि के रूप में भी किया जाता है।

अध्याय ९

ध्वनियों के गुण

हम ध्वनियों का उच्चारण करते समय उन पर अनेक प्रभाव डालते रहते हैं जिन से ध्वनियों के स्वरूप में विशिष्ट अन्तर आ जाता है। इन्हीं प्रभावों को ध्वनियों के गुण (Qualities या modifications) कहा जाता है। इस प्रकार के पड़ने वाले प्रभाव मुख्य रूप में तीन हैं। इसी लिये ध्वनियों के तीन गुण माने जाते हैं—१ मात्रा या परिमाण (Quantity या Degree, या duration) २. बलाघात (Stress) और ३. सुर (Pitch)। कभी कभी इन गुणों को स्पष्ट करने के लिये इन्हें केवल दो वर्गों में भी बांटा जाता है-१. मात्रा २. स्वराघात (Accent)। स्वराघात के तीन रूप माने जाते हैं—१. बलात्मक स्वराघात २ संगीतात्मक स्वराघात ३ रूपात्मक स्वराघात। रूपात्मक स्वराघात के विशेष महत्त्व-पूर्ण न होने के कारण प्रायः स्वराघात के केवल दो ही रूपों पर विचार किया जाता है।

मात्रा

ध्वनि के उच्चारण में जितना समय लगता है वही उस ध्वनि की मात्रा कही जाती है। इस गुण का सम्बन्ध काल की ह्रस्वता और दीर्घता के साथ है। इसीलिये साधारण तौर पर मात्रा के दो भेद माने जाते हैं—१. ह्रस्व (Short) २. दीर्घ (Long)। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मात्रा के केवल यही दो भेद हो सकते हैं। वस्तुतः मात्रा के भेद अनेक हैं। हम किसी ध्वनि के उच्चारण में काल की कम से कम मात्रा निश्चित करके उसी को एक इकाई मान कर उसके अनेक रूपों का निर्धारण कर सकते हैं।

इस प्रकार एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक आदि अनेक रूप माने जा सकते हैं। अधिकांश में एकमात्रिक और द्विमात्रिक का ही प्रयोग होने के कारण केवल ह्रस्व और दीर्घ ये दो भेद ही माने जाते रहे हैं। संस्कृत में त्रिमात्रिक का भेद भी स्वीकार किया जाता है और उसे प्लुत कहा जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हुए काल की मात्रा के आधार पर दो और भेद भी माने जाते है—१. ह्रस्वार्द्ध २. दीर्घार्द्ध। जिस भाषा में जैसा प्रयोग मिले उसी के आधार पर मात्रा का क्रम और स्वरूप निश्चित करना चाहिये।

सामान्य तौर पर ह्रस्व और दीर्घ की दृष्टि से स्वरों का वर्गीकरण किया जाता है परन्तु मात्रा-भेद केवल स्वरों में नहीं बल्कि व्यञ्जनों में भी होता है। एक ही ध्वनि से बने संयुक्त व्यञ्जन वस्तुत: दीर्घ व्यञ्जन ही होते हैं जैसे पता, पत्ता। इसमें से पता का त् एकमात्रिक ह्रस्व है पर पत्ता का त् द्विमात्रिक दीर्घ है। अधिकांश में व्यञ्जन ध्वनियों का उच्चारण काल की मात्रा की दृष्टि से बहुत देर तक नहीं किया जा सकता परन्तु श्, ष्, स्, जैसी ऊष्म या संघर्षी ध्वनियां ऐसी भी हैं जिनका उच्चारण निरन्तर बहुत देर तक किया जा सकता है। इसलिये इनमें काल की मात्रा के अनेक रूप हो सकते हैं। जैसे—रसा—रस्सा। हम चाहें तो रस्सा के स् का उच्चारण बहुत देर तक कर सकते है।

यह आवश्यक नहीं कि ह्रस्व की अपेक्षा दीर्घ में दुगना और प्लुत में तिगुना समय लगे। काल का केवल आपेक्षिक महत्त्व ही देखा जाता है। कभी-कभी एक ही ह्रस्व ध्वनि का उच्चारण विभिन्न स्थानों पर काल की दृष्टि से भिन्न भिन्न होता है। शब्द में उस की जैसी स्थिति होती है वैसा ही उसके उच्चारण में समय लगता है। छोटी छोटी या सूक्ष्म भिन्नताओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। यदि अपेक्षाकृत अधिक समय लगे और वह स्पष्ट समझ में आये तो मात्रा को महत्त्व दिया जाता है अन्यथा नही। कई भाषाओं में मात्रा भेद होते हुए भी उसकी ओर कोई

ध्यान नहीं दिया जाता परन्तु हिन्दी आदि भाषायें ऐसी हैं जिन में इस का बहुत अधिक महत्त्व है। यही कारण है कि देवनागरी लिपि आदि में मात्रा-भेद को बताने के लिए विशेष लिपि-चिन्ह हैं। दूसरी ओर रोमन लिपि में मात्रा-भेद को बताने के लिये लिपि-चिन्ह नहीं हैं क्योंकि सामान्य तौर पर जो भाषायें इस लिपि में लिखी जाती है उनमें मात्राभेद महत्त्वपूर्ण या सार्थक नहीं। यही कारण है कि जब रोमनलिपि में हिन्दी आदि के शब्द लिखे जाते हैं तो मात्रा की दृष्टि से बहुत गड़बड़ी हो जाती है। जैसे रोमन लिपि में लिखे Rama शब्द को राम, रामा, रमा और रम चार रूपों में पढ़ा जा सकता है। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिये रोमन लिपि में कुछ सकेतों का व्यवहार किया जाता है जैसे Ra:ma या Rāma। छन्द:-शास्त्र में ह्रस्व और दीर्घ, जिन्हें लघु और गुरु भी कहा जाता है, को स्पष्ट करने के लिये 'I, S' या '– ˘' इस प्रकार के चिन्हों का भी प्रयोग किया जाता है।

बलाघात

बलाघात का सीधा-सादा अर्थ किसी ध्वनि पर ज़ोर डालना है। यह ज़ोर शब्द-लहरियों के अधिक विस्तार के कारण पड़ता है। इसलिये बलाघात से प्रभावित ध्वनि का उच्चारण अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा होता है। मात्रा से इसका यही अन्तर है। मात्रा में समय अधिक लगता है—उसके ज़ोर से या धीरे बोलने का प्रश्न नहीं उठता। बलाघात में समय उतना ही लगता है परन्तु विशेष ध्वनि पर ज़ोर पड़ने से उसकी आवाज़ कुछ ऊँची हो जाती है।

हिन्दी में बलाघात महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस लिये आवाज़ पर ज़ोर डालने या न डालने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। कहीं कहीं इसका स्वरूप देखने को मिल सकता है जैसे—उसने राम की उपेक्षा की। इस वाक्य में 'की' का प्रयोग दो बार हुआ है परन्तु दोनों के उच्चारण और अर्थ में अन्तर है। यह अन्तर निम्न वाक्य मे आये 'की' शब्दों के साथ तुलना

से और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा—उसने राम की उपेक्षा की बात कही। इस वाक्य में दोनों पर एक जैसा जोर पड़ता है जब कि पिछले वाक्य में अन्तिम 'की' पर अधिक ज़ोर पड़ता दिखाई देता है। हिन्दी के ये उदाहरण फुटकल ही हैं—इनके आधार पर हिन्दी में बलाघात की सत्ता नहीं मानी जा सकती। योरप की अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में इस का विशेष महत्त्व है। इन भाषाओं के शब्दों में प्रत्येक ध्वनि पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जिसके कारण एक ध्वनि को दूसरी ध्वनि से पृथक् माना जाता है। प्रायः भारतीय भाषाओं में बलाघात न होने के कारण भारतीय लोग अंग्रेज़ी बोलते समय बलाघात की ओर कोई ध्यान नहीं देते। अंगेजी में White House (सफेद घर) और White House (राष्ट्रपति का निवास स्थान) का उच्चारण बलाघात की दृष्टि से भिन्न २ होता है। इसी प्रकार black bird (काला पक्षी) और blackbird (एक विशेष पक्षी) उच्चारण की दृष्टि से भिन्न हैं। इसी प्रकार अंग्रेज़ी के record और conduct संज्ञा भी हैं और क्रिया भी। इन दोनों का अन्तर भी बलाघात के द्वारा लाया जाता है।

रोमन लिपि में बलाघात को स्पष्ट करने के लिये एक विशेष चिन्ह ' का प्रयोग किया जाता है। बलाघातहीन ध्वनि पर कोई चिन्ह नहीं होता और बलाघात युक्त ध्वनि पर उपर्युक्त चिन्ह होता है। बलाघात के कुछ और सूक्ष्म भेद भी किये जाते हैं जैसे—(१) सबल (Strong) २. समबल (Medium) ३ निर्बल (Weak)। कई बार इससे भी अधिक सूक्ष्मता को स्पष्ट करने के लिये और भी भेद किये जाते है और उन सब के लिये अलग अलग चिन्हों का भी प्रयोग किया जाता है।

संगीतात्मक स्वराघात

इसी को सुर, स्वर स्वराघात या गीतात्मक स्वर भी कहा जाता है। जिस प्रकार संगीत के विविध यन्त्रों में प्रयुक्त होने वाली तन्त्रियों के आधार पर स्वर में अन्तर पैदा किया जाता है उसी प्रकार ध्वनि यन्त्र की

स्वर तन्त्रियों के आधार पर भी स्वर विभिन्नता पैदा की जा सकती है। इसी को संगीतात्मक स्वराघात कहते हैं। ऊपर सघोष और अघोष ध्वनियों का उल्लेख किया जा चुका है। सघोष ध्वनियों के उच्चारण में ही स्वर-तन्त्रियां एक दूसरे के साथ टकराकर स्पन्दन पैदा करती हैं, अघोष ध्वनियों के उच्चारण में वे कुछ नहीं करतीं। इसलिए संगीतात्मक स्वराघात सघोष ध्वनियों में ही हो सकता है अघोष ध्वनियों में नहीं क्योंकि सभी स्वर सघोष हैं। इसीलिये इसका प्रभाव स्वर ध्वनियों पर अधिक पड़ता है।

हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में इसका विशेष महत्त्व नहीं। फिर भी इसका प्रयोग अवश्य होता है। 'वह दिल्ली जायेगा' इस वाक्य में तीन शब्द हैं। इन शब्दों में ध्वनि सम्बन्धी किसी प्रकार का परिवर्तन न करते हुए भी हम अर्थसम्बन्धी विभिन्नता ला सकते हैं, जैसे—

१. वह दिल्ली जायेगा (निश्चित सूचना)
२. वह दिल्ली जायेगा ? (प्रश्न)

दूसरे वाक्य में संगीतात्मक प्रभाव के द्वारा ही अनेक प्रकार के और भी अर्थ निकाले जा सकते है। जैसे वह कहीं नहीं जा सकता; वह कहीं और जा सकता है परन्तु दिल्ली नहीं जा सकता ; और कोई दिल्ली तो जा सकता है परन्तु वह नहीं जा सकता। इसी प्रकार की विभिन्नता केवल वाक्य में नहीं बल्कि शब्दों में भी लाई जा सकती है जैसे—यदि कोई पूछे आप का क्या नाम है तो उत्तर होगा मोहन। यदि आप मोहन को बुलाना चाहेंगे तो भी कहेंगे मोहन ! यदि आपको किसी व्यक्ति के मोहन होने में सन्देह हो तो भी आप कहेंगे मोहन ? यदि आपको यह नाम पसंद नहीं और आप कहना चाहें यह भी कोई नाम है तो भी आप कह सकते हैं मोहन ? इन चारों शब्दों में ध्वनियां एक जैसी ही हैं परन्तु संगीतात्मक प्रभाव के कारण उनमें अन्तर आ जाता है।

साधारण तौर पर स्वर ऊंचा हो सकता है या नीचा या समान। इस आधार पर वैदिक ग्रन्थों में (क्योंकि वैदिक भाषा में संगीतात्मक स्वराघात

विशेष महत्त्वपूर्ण था) स्वराघात के तीन भेद माने जाते हैं—१. उदात्त २. अनुदात्त ३ स्वरित।[1] इसीके समानान्तर प्राचीन ग्रीक भाषा के भी तीन स्वर माने जाते हैं जिन्हें अंग्रेज़ी में Acute, Grave और Circumflex कहा जाता है। वैदिक भाषा में स्वराघात को बताने के लिये विशेष चिन्हों का प्रयोग किया जाता है। उदात्त के लिये कोई चिन्ह नहीं। अनुदात्त के नीचे रखा अंकित की जाती है। स्वरित के ऊपर एक खड़ी पाई का चिन्ह अंकित किया जाता है। पाश्चात्य देशों में भी निम्न स्वर और समस्वर के लिये विशेष चिन्ह का प्रयोग होता है।

चीन और अफ्रीका की भाषायें संगीतात्मक है। जिन लोगों की भाषायें संगीतात्मक होती हैं उनकी बातें सुन कर विदेशी को ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई गीत गा रहा है। चीनी भाषा में चार प्रकार के स्वर माने जाते है (१) सम (Even) (२) ऊर्ध्वमुख (Rising) (३) अधोमुख (Sinking) (४) प्रवेशमुख (Entering)। चीनी की कुछ बोलियां में इनके और उपभेद भी हो जाते हैं जिसके कारण ६, ८ या ९ सुर भी माने जाते है। जिन भाषाओं में इस प्रकार संगीतात्मक सूक्ष्म विशेषतायें हैं उन्हें लिपि में स्पष्ट करने के लिये कुछ चिन्हों का प्रयोग किया जा सकता है। अथवा १, २, ३, ४, आदि अङ्कों का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर उत्तरी चीनी भाषा में चार सुर हैं—

(१) उच्च सम— [म¹] अर्थात् मां
(२) उच्च ऊर्ध्वमुख [म²] ,, पटुआ
(३) निम्न ऊर्ध्वमुख [म³] ,, घोड़ा
(४) निम्न अधोमुख [म⁴] ,, डांटना

चीन की कंटूनी (कैंटन की बोली) में छः सुर हैं। इन्हें बताने के लिये दो और सख्यावाची अंकों अर्थात् ५ और ६ का प्रयोग किया जा सकता है।

---

1. उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। समाहारः स्वरितः। पाणिनि-अष्टाध्यायी १.२. २९-३१

रूपात्मक स्वराघात

जिस प्रकार संसार में एक जैसे दो रूप नहीं मिलते उसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि एक जैसे दो स्वर भी नहीं मिलते। एक व्यक्ति के स्वर में दूसरे व्यक्ति के स्वर से अन्तर होता है। यही कारण है कि यदि कोई व्यक्ति आकाशवाणी पर बोल रहा हो या ऐसे स्थान पर बैठा हो जहां उसे देखा नहीं जा सकता तो भी हम उसके स्वर से उसे पहचान लेते हैं। जैसे कभी कभी एक दूसरे से मिलते-जुलते रूप देखकर हमें भ्रम हो जाता है उसी प्रकार मिलते जुलते स्वर सुन कर भी भ्रम हो सकता है परन्तु है वह भ्रम ही वास्तविकता नहीं। इसी को रूपात्मक स्वराघात कहते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के बोलचाल की अपनी विशेषता है।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं इस लिये इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

ऊपर दिये हुए उदाहरणों से यह बात स्पष्ट ही है कि कुछ भाषाओं में एक गुण महत्त्वपूर्ण और सार्थक होता है तो कुछ अन्य भाषाओं में दूसरा गुण महत्त्वपूर्ण और सार्थक। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी भाषाओं को सभी गुणों का समान रूप से व्यवहार करना चाहिये। जब ध्वनि का गुण महत्त्वपूर्ण और सार्थक होता है तो उस भाषा में उसका स्थान मूल ध्वनि के समान ही होता है। इसलिये कई विद्वान् ध्वनि के गुणों पर ध्वनियों के अन्तर्गत ही विचार करना पसन्द करते हैं। उनकी बात है भी ठीक। पृथक् विवेचन केवल सुविधा की दृष्टि से ही किया गया है। यदि ध्वनि का गुण महत्त्वपूर्ण हो तो उसे मुख्य ध्वनि (Primary Phoneme) कह दिया जाता है और यदि वह गौण हो तो उसे गौण ध्वनि (Secondary Phoneme) कह दिया जाता है। हिंदी में मात्रा मुख्य ध्वनि है, अंग्रेज़ी में बलाघात मुख्य ध्वनि है और चीनी भाषा में संगीतात्मक स्वराघात मुख्य ध्वनि है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है।

अध्याय १०

संयुक्त ध्वनियां और अक्षर

भाषा की न्यूनतम इकाई ध्वनि है परन्तु ध्वनि अपने आप में अथवा स्वतन्त्र रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि हम 'र्' 'आ' 'म्' 'अ' आदि ध्वनियों का पृथक् २ उच्चारण करते रहे तो इससे कोई विशेष लाभ न होगा। जब ये ध्वनियाँ एक दूसरे के निकट आकर संयुक्त होती हैं तभी 'राम' इस ध्वनि समूह का विशेष अर्थ हमारे मस्तिष्क में स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार एक ध्वनि नहीं बल्कि ध्वनि-समूह का भाषा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके लिये ध्वनियों का एक दूसरे से मिलना अत्यन्त आवश्यक है।

सामान्य तौर पर एक से अधिक ध्वनियों के संयोग को संयुक्त ध्वनि (Cluster) कहा जाता है।[1] वैसे तो स्वर और व्यञ्जन तथा व्यञ्जन और स्वर का संयोग भी संयुक्त ध्वनि कहा जा सकता है परन्तु संयुक्त ध्वनि का इतना व्यापक अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता—हम संयुक्त ध्वनि के केवल दो भेद मान सकते हैं। (१) संयुक्त स्वर (२) संयुक्त व्यञ्जन।

संयुक्त स्वर (Diphthong)

एक से अधिक स्वरों के संयोग को संयुक्त स्वर कहा जा सकता है परन्तु यहाँ भी हमें एक बात की ओर विशेष ध्यान रखना है। यदि दो स्वर एक साथ आयें और उनके उच्चारण में एक स्वर के बाद थोड़ा विराम आजाये तो हम उन स्वरों को सयुक्त स्वर नहीं कह सकते। हिंदी में ऐसे अनेक स्वर मिलते हैं जो व्यञ्जन के व्यवधान के बिना उच्चरित होते हैं

---

1. "In phonetics, a group of phonemes, not necessarily constituting a syllable." Dictionary of Linguistics Page 41.

परन्तु क्योंकि उनकी स्वतन्त्र सत्ता अत्यन्त स्पष्ट होनी है इसी लिये वे संयुक्त स्वर नहीं कहलाते। जैसे कई (क्+अ+ई), आओ, आइए, तइआरी इत्यादि। यदि दो स्वर पृथक् २ उच्चरित न होकर बिना विराम के एक अक्षर के रूप में उच्चरित हों तभी वे संयुक्त स्वर कहलाते हैं। सयुक्त स्वरों को मिश्र स्वर संयुक्ताक्षर और सन्ध्यक्षर भी कहा जाता है जैसे हिन्दी के अनेक शब्दों में 'अइ' और 'अउ' का उच्चारण पृथक् २ न होकर एक साथ होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'अ' और 'इ' तथा 'अ' और 'उ' के उच्चारण में भिन्नता है और इनके उच्चारण में जिह्वा की स्थितियां भिन्न होती है तथापि इन दोनों का उच्चारण इतनी शीघ्रता से किया जाता है कि दोनों मिलकर एक स्वर में ही सुनाई देते है—पैसा, पौना। पैसा के ऐ में 'अ' और 'इ' का संयोग है तथा पौना के औ में 'अ', और 'उ' का संयोग है।

संयुक्त-स्वर में दो मूलस्वर होते हैं। साधारणतया एक स्वर एक अक्षर बनाने के लिये पर्याप्त होता है। इसीलिये अधिकतर स्वरों के आधार पर अक्षरों की गणना कर ली जाती है। परन्तु इस संयुक्त स्वर में दो स्वरों का समूह केवल एक ही अक्षर होता है। एक मूल स्वर मुख्य होता है और दूसरा गौण होता है। यदि संयुक्त स्वर का पहला मूलस्वर मुख्य या प्रबल हो तो उसे अवनायक संयुक्त-स्वर (Falling diphthong) कहा जाता है और यदि दूसरा मूलस्वर मुख्य या प्रबल हो तो उसे उन्नायक संयुक्तस्वर (Rising diphthong) कहा जाता है।

हमें मूलस्वर और सयुक्त-स्वर का अन्तर स्पष्टतया स्मरण रखना चाहिये। दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। मूलस्वर में जिह्वा की स्थिति उच्चारण के प्रारम्भ से अन्त तक एक रहती है परन्तु संयुक्त स्वर में जिह्वा की स्थिति एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर शीघ्रता से जाती है। मूलस्वर के उच्चारण में एकरूपता रहती है परन्तु संयुक्त स्वर के उच्चारण में ऐसा नहीं होता।

संयुक्त-व्यञ्जन

एक से अधिक व्यञ्जन ध्वनियों के संयुक्त रूप को संयुक्त व्यञ्जन कहा जाता है। इसके दो भेद हो सकते है—१. एक रूप व्यञ्जनों का संयोग (२) भिन्न रूप व्यञ्जनों का संयोग। 'पल्ला, गल्ला गन्ना आदि पहले के उदाहरण हैं और पर्दा, दर्द, आर्य, आदि दूसरे के।

भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत विचार करते समय संयुक्त स्वरों का अपना विशिष्ट स्थान है क्योंकि संयुक्त स्वर मूल स्वरों से भिन्न होते है और उन्हें केवल दो स्वरों का संयोग नहीं कहा जा सकता। भाषा में संयुक्त व्यञ्जनों का विशिष्ट स्थान होता है। परन्तु उन सयुक्त व्यञ्जनों को अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता। संयुक्त व्यञ्जनों के एक-रूप संयोग को व्यञ्जन का दीर्घ रूप कहा जा सकता है। उसमे तो केवल मात्रा का अन्तर है जैसा कि इस सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है। एक से अधिक व्यञ्जन ध्वनियों का संयोग केवल सामान्य ध्वनि संयोग माना जा सकता है। संयुक्त स्वरों के समान उनका विशिष्ट स्वरूप नही समझा जा सकता।

ध्वनि-संयोग

ध्वनियो के संयोग के बारे में किसी प्रकार का कोई सामान्य नियम स्थिर नही किया जा सकता। जिस प्रकार प्रत्येक भाषा विशिष्ट ध्वनियों का प्रयोग करती है उसी प्रकार संयुक्त ध्वनियों का निर्धारण भी भाषा की अपनी विशिष्ट सत्ता पर निर्भर है। हम यह नही कह सकते कि किसी भाषा को केवल सयुक्त स्वरों का ही व्यवहार करना चाहिये या केवल सयुक्त व्यञ्जनों का कौन से संयुक्त स्वरों या व्यञ्जनों का व्यवहार करना चाहिये। इस सम्बन्ध में भी कोई सामान्य नियम नहीं। संस्कृत मे संयुक्त व्यञ्जनों का व्यवहार होता है तो प्राकृत में संयुक्त स्वरों का। यही कारण है कि संस्कृत शब्दों में अनेक व्यञ्जनों के संयोग से बने हुए शब्द तो हैं परन्तु एक से अधिक स्वरों के संयोग से बने हुए शब्द नहीं। प्राकृत में इस से बिल्कुल उल्टी बात है।

अक्षर (Syllable)

संयुक्त स्वरों के सम्बन्ध में विचार करते समय अक्षर' शब्द का प्रयोग किया गया है। साधारण तौर पर यह माना जाता रहा है कि केवल स्वर ही अक्षर बनाने में समर्थ होते है इसी लिये स्वर को ही लगभग अक्षर माना जाता रहा है। अक्षर के सम्बन्ध में व्यञ्जनों की सर्वथा उपेक्षा की जाती रही है। यदि किसी शब्द में अनेक व्यञ्जन है तो उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। केवल स्वरों के आधार पर अक्षर की गणना की जाती थी। जैसे 'कात्स्न्र्य' ; यद्यपि इस में व्यञ्जन छः (क्, र्, त्, स्, न्, य्) है तथापि स्वर केवल दो हैं इस लिये यह शब्द दो अक्षरों का बना हुआ है—का और त्स्न्र्य। इस प्रकार अक्षर की व्याख्या करना ठीक नहीं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि केवल स्वर ही अक्षर बनाने में समर्थ नहीं बल्कि व्यञ्जन भी अक्षर बना सकते है। इसलिये व्यञ्जनों की उपेक्षा का प्रश्न नहीं उठता। यदि हम कात्स्न्र्य शब्द के विश्लेषण की ओर ध्यान देते हुए इसे का और त्स्न्र्य में विभाजित करें तो ठीक न होगा क्योंकि उच्चारण करते समय हम 'का' को पृथक् और 'त्स्न्र्य' को पृथक् नहीं करते। केवल लिखित रूप को देख कर ही हम ऐसी गलती कर बैठते है।

अक्षर की वैज्ञानिक परिभाषा इस प्रकार होगी—अक्षर शब्द के अन्तर्गत उन ध्वनियों के समूह की छोटी से छोटी इकाई को कहते हैं जिनका उच्चारण एक साथ हो।[1] इस प्रकार 'राम्' एक अक्षर है यद्यपि लिखित रूप 'राम' को देखते हुए पुरानी परिभाषा के आधार पर इसमें दो अक्षर मानने होंगे। यदि 'राम' शब्द के अन्तिम 'अ' का भी उच्चारण

---

1. "A group of phonemes, consisting of a vowel or a consonant, alone or in combination with a consonant or consonants which represents a complete articulation or complex of articulations constituting a unit of word-formation". Dictionary of Linguistics Page 209.

किया जाय तो इसमें दो अक्षर मानने होंगे क्यों कि 'म' के अग्रिम 'अ' का उच्चारण करने के लिये हमें 'श' पर रुकना होगा।

अक्षर के दो भेद होते हैं—(१) विवृत (Open) (२) संवृत (Closed)। जिस अक्षर के अन्त में स्वर हो उसे विवृत अक्षर कहते हैं। जैसे—उसका में 'का' विवृत अक्षर है। जिस अक्षर के अन्त में व्यञ्जन हो उसे संवृत अक्षर कहते हैं जैसे 'उस का' में उस। 'उस' का उच्चारण-रूप 'उस्' है इसलिये यह व्यञ्जनान्त है स्वरान्त नहीं। इसी प्रकार 'राम्' भी संवृत अक्षर है परन्तु 'राम' के अकारान्त उच्चारण में 'रा' और 'म' दोनों अक्षर विवृत है।[1]

किसी वाक्य या शब्द में आने वाले अक्षरों का विभाजन करना कोई आसान कार्य नहीं। यदि किसी अशिक्षित व्यक्ति से रुक रुक कर बोलने को कहा जाय तो भी वह प्रत्येक अक्षर पर आवश्यक नहीं कि रुकता चला जाय। अक्षर-विभाजन करने के लिये बहुत गहराई से उच्चारण की ओर ध्यान देने की आवश्यकता होती है। कुछेक ध्वनि-समूह तो इतने स्पष्ट होते हैं कि कोई भी उन्हें अलग अलग अक्षरों के रूप में बांट सकता है परन्तु दूसरों में विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जो ध्वनि-समूह सामान्य तौर पर स्पष्ट भी माने जा सकते हैं उन की ओर भी सूक्ष्म ध्यान देने से कई बारीकियां अस्पष्ट सी दिखाई देंगी। उदाहरण के तौर पर सीधे-सादे शब्द 'चाचा' को लिया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति इसमें दो अक्षर मान कर उच्चारण की दृष्टि से उन्हें 'चा' 'चा' इस रूप में बांट देगा। परन्तु उच्चारण की ओर विशेष ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि 'चाचा' का उच्चारण करते समय दूसरे 'चा' का कुछ अंश पहले 'चा' के 'आ' के साथ भी जुड़ा हुआ है।

---

1. "A syllable ending in a vowel is called *open,* one ending in a consonant is called *closed*". Dictionary of Linguistics.

शब्द के लिखित रूप को देख कर कई बार भ्रम हो जाता है—विशेषतया देवनागरी लिपि के अक्षरात्मक होने के कारण इस प्रकार का भ्रम और भी अधिक होता है। जैसे— धर्म'। इसमें दो अक्षर हैं परन्तु इन दोनों का विभाजन 'ध' और 'र्म' के रूप में नहीं होगा बल्कि 'धर्' और म के रूप में। यदि अक्षरों के सूक्ष्म उच्चारण की ओर ध्यान न भी दिया जाय तो भी अक्षरों का इस प्रकार विभाजन अत्यन्त अनिवार्य है। यदि उच्चारण की ओर ही ध्यान दिया जायेगा तो अक्षरों का रूप अपने आप स्पष्ट हो जायेगा।

अध्याय ११

ध्वनि-परिवर्तन

भाषा परिवर्तनशील है—इस सम्बन्ध मे पहले विचार किया जा चुका है। भाषा का विश्लेषण करते समय भाषा के चार अंगों की ओर विशेष ध्यान जाता है—(१) ध्वनि (२) रूप (३) वाक्य (४) अर्थ। भाषा का मूल अंग ध्वनि है—इसमे परिवर्तन स्वाभाविक ही है। यदि हम भाषा सीखने के ढङ्ग की ओर ध्यान दें तो ध्वनि परिवर्तन की स्वाभाविकता और अवश्यम्भाविता का परिचय हमे प्राप्त हो सकता है। हम भाषा अपने आप नहीं सीख जाते बल्कि इसे हमे दूसरो से प्राप्त करना होता है। प्राप्त करने की प्रणाली इस प्रकार है—एक व्यक्ति कुछ ध्वनियो का उच्चारण करता है। वक्ता की ध्वनियो का प्रभाव श्रोता पर पडता है। वह उच्चरित ध्वनियों का चित्र सा अपने मस्तिष्क मे बना लेता है। फिर वह उसी ध्वनि-चित्र का अनुकरण करता है। जिस मे वह ध्वनि को याद रखने का प्रयत्न करता है। अन्ततः वह उसी ध्वनि का उच्चारण करने लगता है। किसी भी भाषा को सीखते समय इन स्थितियों मे से गुज़रना पड़ता है। इन स्थितियो का मूल स्वरूप बच्चे मे विशेषतया देखा जा सकता है। इन स्थितियो को सक्षेप मे इस प्रकार कहा जा सकता है—(१) उच्चरित ध्वनि का श्रवण (२) ध्वनि-चित्र (३) अनुकरण (४) ध्वनि-स्मरण (५) क्रियात्मक रूप अर्थात् उसी ध्वनि का अपने ध्वनि-यन्त्र के द्वारा उत्पादन। अब यदि हम इन पांच स्थितियों की ओर ध्यान दे तो ध्वनि-परिवर्तन की बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी। यदि इन स्थितियों में किसी प्रकार की सदोषता अथवा अपूर्णता न होती तो ध्वनि-परिवर्तन नहीं हो सकता था परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा सम्भव नही। इन स्थितियों में

कदम कदम पर अशुद्धियाँ आ जाने की सम्भावना बनी रहती है। मानव की बलवती अभिलाषा पूर्णता प्राप्त करने की है परन्तु पूर्णता वह काल्पनिक स्वप्न है जिसे अभी तक साकार नही बनाया जा सका। वक्ता जब कुछ ध्वनियों का उच्चारण करता है तो आवश्यक नहीं कि वह उसके सर्वाङ्ग-शुद्ध रूप को ही प्रस्तुत कर सके। यदि कोई वक्ता विशेष अभ्यास से ऐसा करने में सफल हो भी जाय तो सुनने वाला आवश्यक नही कि उसे उसी रूप में सुन सके। यदि वह ठीक सुन भी ले तो भी यह सम्भावना बनी रहती है कि उसके मस्तिष्क में बना ध्वनि-चित्र धूमिल हो जिसके कारण अनुकरण मे कुछ ऐसी विशेषतायें भी आ जायें जो मूल ध्वनि मे विद्यमान नहीं थीं। यदि यह भी मान लिया जाय कि इन सब स्थितियो में ध्वनि की शुद्धता सुरक्षित रहती है तो भी उसका श्रोता द्वार उच्चारण दोषपूर्ण हो सकता है। इनमे से प्रत्येक स्थिति मे उच्चारण में अशुद्धता आ जाने की सम्भावना बनी रहती है—जब यह अशुद्धता व्यापक हो जाती है तो ध्वनि-परिवर्तन अपने आप हो जाता है।

इस मे कोई सन्देह नही कि सामान्य तौर पर शुद्ध भाषा सीखने का प्रयत्न किया जाता है और यथासम्भव त्रुटियों से बचने तथा आ जाने वाली अशुद्धियों को दूर करने का प्रयास भी किया जाता है परन्तु मानव की अपूर्णता उसके मार्ग में एक बहुत बडी बाधा उपस्थित कर देती है। परिणामस्वरूप परिवर्तन अवश्य होता है।

ध्वनि परिवर्तन के कारण

ध्वनि-परिवर्तन के कारण अनेक है—इन मे से बहुत से कारणो का तो पता भी नही लगाया जा सकता। मनुष्य के मन और ध्वनि-यन्त्र पर कई परोक्ष प्रभाव पड़ते है जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। भाषा-परिवर्तन का मूल कारण प्रयत्नलाघव माना गया है—ध्वनि-परिवर्तन का भी यही मूल कारण है। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों में से कुछ विशेष कारण उल्लेखनीय है :—

१. शारीरिक विभिन्नता

इस विभिन्नता के दो रूप माने जा सकते हैं—ध्वनियन्त्र की विभिन्नता और श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता। उच्चारण में अनेक गलतियाँ हो जाती हैं या उच्चारण का कोई सर्वसामान्य स्वरूप स्थिर नहीं किया जा सकता। इसका मूल कारण ध्वनि-यन्त्र की विभिन्नता है। उदाहरण के तौर पर भारतवर्ष के अधिकांश लोग संघर्षी दन्त्योष्ठ्य 'फ़्' ध्वनि का उच्चारण नहीं कर सकते। परिणामस्वरूप अंग्रेज़ी का 'काफ़ी' शब्द उनके उच्चारण में 'काफी' हो जाता है। इस का यह अभिप्राय नहीं कि वे इस ध्वनि का उच्चारण नहीं कर सकते बल्कि केवल इतना ही अभिप्राय है कि वे इस ध्वनि का उच्चारण नहीं करते। उन के ध्वनि-यन्त्र को स्पर्श ओष्ठ्य 'फ्' का उच्चारण करने की आदत पड़ी हुई है इसीलिये वे उसी का उच्चारण करते हैं। यही कारण है कि संस्कृत में 'सप्त' शब्द अवेस्ता में हप्त है। फ़ारसी का बाज हिन्दी में बाज है। बंगाल में 'स्' को 'श्' और अकार के स्थान पर ओकार बोलने की प्रवृत्ति भी इसी का परिणाम है। श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता भी लगभग इसी के साथ सम्बन्धित है। जिन ध्वनियों का उच्चारण करने की आदत हमारे ध्वनि-यन्त्र को होती है—प्रायः श्रवणेन्द्रिय भी उन्हीं ध्वनियों को सुनने की अभ्यस्त होती है। वैसे स्वतन्त्ररूप में भी श्रवणेन्द्रिय का विभिन्नता का प्रभाव ध्वनि-परिवर्तन पर पड़ सकता है।

२. भौगोलिक विभिन्नता

मनुष्य के शरीर पर अनेक प्रभाव पड़ते रहते हैं जिन में भौगोलिक प्रभाव को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव माना जा सकता है। भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी कुछ ध्वनियों के उच्चारण में अपेक्षाकृत अधिक सुविधा प्रतीत होती है और अन्य ध्वनियों के उच्चारण में उतनी सुविधा प्रतीत नहीं होती।

३. सामाजिक प्रभाव

मनुष्य की सामाजिक परिस्थितिया अनेक होती है इसी लिये सामाजिक प्रभाव भी कई प्रकार के हुआ करते है। यदि इन का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो यह अपने आप मे एक स्वतन्त्र विषय ही बन जायेगा। भाषा सामाजिक सम्पत्ति है और समाज के सभी सम्बन्धो को स्थिर रखने मे इसका उपयोग किया जाता है। इसलिये सामाजिक सम्बन्ध के प्रत्येक क्षेत्र मे इस पर प्रभाव पडना स्वाभाविक है।

हमे यहा यह बात स्मरण रखनी है कि भाषा-परिवर्तन के मूलकारण विषय पर विचार करते हुए जिन मतो का उल्लेख किया गया था उन मे शारीरिक विभिन्नता, भौगोलिक विभिन्नता, मनोविज्ञान और सास्कृतिक प्रभाव भी थे। इन्हे भाषा-परिवर्तन का मूलकारण तो स्वीकार नही किया गया था परन्तु इन्हे भाषा-परिवर्तन के अनेक कारणो मे से एक महत्त्वपूर्ण कारण अवश्य स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार ध्वनि-परिवर्तन के ये मूलकारण नही बल्कि मुख्य कारणो मे से एक है।

४. सादृश्य

ध्वनि-परिवर्तन का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण है। किसी एक ध्वनि के आधार पर दूसरी ध्वनि मे भी समानता या एक-रूपता लाई जाती है। उदाहरण के तौर पर फोनो+लॉजी (Phono-logy) शब्द के आधार पर ही मॉर्फोलॉजी (Morphology) शब्द बना लिया गया जब कि इसे मार्फलाजी (Morph + logy) होना चाहिये था, क्योकि ग्रीक मे Phono स्वतन्त्र शब्द है परन्तु Morpho नही। वह शब्द तो Morph ही है। यही बात 'स्वर्ग' के आधार पर 'नरक' को 'नर्क' बनाने मे, सुख के आधार पर 'दु:ख' को 'दुख' बनाने मे, 'द्वादश' के आधार पर 'एकदश' को 'एकादश' बनाने मे देखी जा सकती है।

इन कारणो के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी है जैसे मानसिक

अयोग्यता, बोलने में शीघ्रता, लिखित भाषा का प्रभाव, शब्दों की तोड-मरोड़ और विदेशी ध्वनियों का प्रभाव। एक ही भाषा को बोलने वाले एक ही योग्यता के नही होते। इसीलिये समाज के विभिन्न व्यक्तियों के उच्चारण में भिन्नता आ जाती है और कई बार विशेष वर्ग के व्यक्तियों मे वह भिन्नता व्यापक रूप धारण कर जाती है। 'उसने कहा' के स्थान पर 'वह बोला' या 'उसने बोला' जैसे प्रयोग इसी प्रकार चल पडते हैं। प्रोफेसर साहब को प्रोस्साब कहना बोलने में शीघ्रता के कारण है। साधारणतया कवि लोग तुकबन्दी या सुन्दरता के लिए कुछ ध्वनियों में परिवर्तन कर देते है। रोमन लिपि के कारण हिन्दी के राम, बुद्ध आदि रामा, बुद्धा (Rama, Buddha) आदि बन जाते हैं। इस प्रकार के कारण अनेक है पर मूल कारण प्रयत्न-लाघव ही है।

परिवर्तन की दिशायें

प्रयत्न लाघव अथवा अन्य कारणों से जो ध्वनि-परिवर्तन होते है वे भी अनेक हैं। विशिष्ट भाषाओ में इनके विशिष्ट रूप देखने को मिलते हैं। इनमें से कुछेक परिवर्तनों की दिशाओं का उल्लेख किया जाता है।

१. परस्पर-विनिमय

जब दो ध्वनियां एक दूसरे के स्थान को ग्रहण कर लेती हैं तो उस परिवर्तन को परस्पर-विनिमय (Metathesis) कहा जाता है। यह दो प्रकार का है—१ स्वर-विनिमय २. व्यञ्जन-विनिमय। "अम्लिका>इमली" में मध्य की 'इ' और आदि के 'अ' का परस्पर-विनिमय हुआ है। स्वरों का विनिमय होने के कारण यह स्वर-विनिमय है। चाकू>काचू में 'च' और 'क' का परस्परविनिमय दो व्यञ्जनों का विनिमय होने के कारण व्यञ्जन-विनिमय कहलाता है।

इसी से मिलता-जुलता पर थोडा भिन्न परिवर्तन स्थान-विपर्यय (Epenthesis) है। इस परिवर्तन में ध्वनि अपना वास्तविक स्थान छोड़

कर किसी अन्य स्थान पर बोली जाने लगती है जैसे कार्य>केर। इस परिवर्तन का विश्लेषण करने से पता चलता है - क्+आ+र्+य्+अ। प्राकृत भाषा मे होने वाले ध्वनि-परिवतनों को देखते हुए यह नियम बनाया गया है कि प्राकृत मे आय् के स्थान पर 'ए' हो जाता है। इ' ने अपना स्थान छोड़ दिया और 'क्+ए+र्+अ=केर'' शब्द बन गया।

२. लोप (Elision)

कभी कभी ध्वनि या ध्वनि-समूह का लोप भी हो जाता है। इस परिवर्तन के अनेक रूप है—(१) ध्वनि लोप (२) अक्षर-लोप (३) समाक्षर लोप। ध्वनि लोप और अक्षर-लोप के आदि, मध्य और अन्त की दृष्टि से तीन तीन भेद और है। ध्वनि-लोप के स्वर-लोप और व्यञ्जन लोप की दृष्टि से और भी भेद किये जा सकते हैं। जैसे—

१. आदि स्वर लोप	अपि	>	भी
२. मध्य स्वरलोप	इमली	>	इम्ली
३. अन्त्य स्वर लोप	राम	>	राम
४. आदि व्यञ्जन लोप	स्कम्भ	>	खम्भा
५. मध्य व्यञ्जन लोप	प्रिय	>	पिया
६. अन्त्य व्यञ्जन लोप	आम्र	>	आम्
७. आदि अक्षर लोप	त्रिशली	>	शूली
८. मध्य अक्षर लोप	भंडागार	>	भडार, द्विगुण>दूना
९. अन्त्य अक्षर लोप	सपादिक	>	सवा
१०. समाक्षर लोप	नाककटा	>	नकटा

३. समीकरण

जब दो ध्वनिया एक दूसरे के अत्यधिक निकट होती है तो एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित करती है। इमी प्रभाव के परिणामस्वरूप दो

भिन्न ध्वनिया संमरूप हो जाती है इसीको समीकरण (Assimilation) कहते हैं। यह समीकरण दो प्रकार का होता है—(१) पुरोगामी समीकरण (Progressive assimilation) (२) पश्चगामी समीकरण (Regressive assimilation)। जब पहली ध्वनि अपना प्रभाव जमा कर बाद मे आने वाली ध्वनि को अपने समान कर ले तो पुरोगामी समीकरण होता है जैसे अग्नि>अग्गि; न्' ने पूर्ववर्त्ती 'ग' का रूप ले लिया है। जब अनन्तरवर्त्ती ध्वनि अपने बल के कारण पूर्ववर्त्ती ध्वनि को अपने समान बना ले तो पश्चगामी समीकरण होता है जैसे—सर्प>सप्प; 'र्' ने परवर्त्ती 'प्' का रूप ले लिया है।

४. विषमीकरण

समीकरण का विपरीत रूप विषमीकरण (Dissimilation) है। दो समान ध्वनियां असमान हो जाती है जैसे मुकुल>मउल; 'मुकु' दोनों में समान 'उ' ध्वनि विद्यमान थी परन्तु परिवर्तन मे 'मु' की 'उ' ध्वनि ने विषम 'अ' ध्वनि का रूप धारण कर लिया।

५. स्वरभक्ति

जब दो व्यञ्जन ध्वनियों के मध्य में एक स्वर आ जाये तो स्वर-भक्ति (Vocalic anaptyxis) कहते है। इस प्रकार का परिवर्तन उच्चारण की सुविधा के लिये ही होता है। पजाबी मे स्वर-भक्ति के अनेक उदाहरण हैं। गुरमुखी लिपि मे सयुक्त व्यञ्जनो की संख्या अत्यन्त न्यून होने के कारण स्वर भक्ति को लिखित रूप भी दे दिया गया है जैसे—महात्मा>महातमा, इन्द्र>इन्दर। कभी कभी स्वर-भक्ति के स्थान पर व्यञ्जन-भक्ति भी हो जाती है।

६. प्रागुपजन या अग्रागम

कुछेक ध्वनियों के प्रारम्भ मे एक ध्वनि आ जाती है जिस से उच्चारण में अपेक्षाकृत अधिक सुविधा हो जाती है। उसे प्रागुपजन

(Prothesis) कहा जाता है। जैसे स्त्री<इस्त्री।

७. उभय संमिश्रण

कभी कभी एक ही अर्थ को बताने वाले दो शब्द इस प्रकार जुड जाते है कि वे एक शब्द का रूप धारण कर लेते हैं जैसे दुवे और उभयं ये दोनों शब्द 'दो' अर्थ के द्योतक है। इन दोनों के मेल से एक शब्द दुभयं बन गया।

८. सन्धि

संस्कृत भाषा मे सन्धियों का विशेप स्थान है। सस्कृत व्याकरण-कारों ने सन्धियों के अनेक नियम बताये हुए है जो केवल संस्कृत के साथ सम्बन्धित हैं। परन्तु इसी प्रकार की सन्धियां दूसरी भाषाओं में भी हो सकती है। सन्धि का सीधा सा अर्थ है—दो ध्वनियो का जुड़ कर एक हो जाना। जैसे – रत्न+आकर=रत्नाकर। सपत्नी>सवत>सउत>सौत। सउत का सौत रूप मे परिवर्तित होना सन्धि परिवर्तन है।[1]

९. अनुनासिकता

अननुनासिक ध्वनि का अनुनासिक रूप में परिवर्तित हो जाना अननुनासिकता (Nasalization) है। जैसे सर्प>सप्प>साप>साँप।

१०. ऊष्मीकरण

विशिष्ट ध्वनियों का ऊष्म ध्वनियों (श्, ष्, स आदि) में परिवर्तित हो जाना ऊष्मीकरण (Assibilation) कहलाता है। भारोपीय भाषाओं में इसी ऊष्मीकरण के आधार पर दो वर्ग बनाये गये हैं। एक वर्ग उन

---

1. कई बार सन्धि को अंग्रेजी Juncture का पर्यायवाची मान लिया जाता है परन्तु यह ठीक नहीं। आज् आ और आजा दोनों में ध्वनि सम्बन्धी कोई विभिन्नता नहीं। परन्तु जंक्चर (Juncture) के कारण भिन्नता है।

भाषाओं का है जिन मे ऊष्मीकरण की प्रवृत्ति देखने को नही मिलती। इन भाषाओं को केन्टुम् (Centum) भाषाये कहा जाता है और दूसरा वर्ग उन भाषाओं का है जिनमें अनूष्म ध्वनिया ऊष्म ध्वनियों मे परिवर्तित हो गई हैं। इन भाषाओं को सतम् भाषाये कहा जाता है। केन्टुम् लैटिन भाषा का "सौ" अर्थ को बताने वाला शब्द है और इसी का समानार्थक "सतम्" शब्द अवेस्ता का है। 'क्' का 'स्' रूप मे परिवर्तन ऊष्मीकरण का उदाहरण है। संस्कृत मे 'शतम्' शब्द भी उसी ऊष्मीकरण की प्रवृत्ति का परिचायक है।

११. मात्राभेद

जिन भाषाओं मे मात्रा को विशेष महत्त्व दिया जाता है उनमें मात्रा परिवर्तन की ओर भी विशेष ध्यान दिया जा सकता है। ह्रस्व का दीर्घ, दीर्घ का ह्रस्व आदि हो जाना मात्रा भेद कहलाता है। जैसे हस्त>हाथ।

१२. घोषत्व

इसे घोषीकरण या सघोषीकरण भी कहते है। अघोष ध्वनि का सघोष रूप मे परिवर्तन हो जाना घोषत्व (Vocalization या Voicing) कहलाता है। जैसे काक>काग। अघोष 'क' सघोष 'ग्' मे परिवर्तित हो गया है।

१३. अघोषत्व

अघोषत्व या अघोषीकरण (Devocalization या Unvoicing) में सघोष ध्वनि अघोष होजाती है। जैसे मदद का उच्चारण मदत् किया जाता है। सघोष 'द्' अघोष 'त्' मे परिवर्तित हो गया है।

१४. महाप्राणीकरण

अल्पप्राण ध्वनि के महाप्राण रूप में परिवर्तित हो जाने को महाप्राणीकरण (Aspiration) कहते हैं। जैसे गृह>घर। अल्पप्राण 'ग' ध्वनि महाप्राण घ्' मे परिवर्तित हो गई है।

१५. अल्पप्राणीकरण

यह महाप्राणीकरण का उल्टा रूप है। महाप्राण ध्वनि का अल्प-प्राण ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो जाना अल्पप्राणीकरण (Deaspiration) है। जैसे व्याधि >वोद (काश्मीरी में) 'ध्' ध्वनि अल्पप्राण होकर 'द्' में परिवर्तित हो गई है।

१६. श्रुति

श्रुति को पूर्णतया ध्वनि परिवर्तन की दिशा तो नहीं कहा जा सकता परन्तु ध्वनि परिवर्तन से पूर्व की एक स्थिति अवश्य कहा जा सकता है। हम सामान्य तौर पर भाषा का प्रयोग करते समय अनेक ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। एक ध्वनि के बाद दूसरी ध्वनि—इसी क्रम से अनेक विभिन्न ध्वनियों के संयोग से ही शब्दों या वाक्यों का उच्चारण किया जाता हैं। ध्वनियां स्थान और प्रयत्न की दृष्टि से प्राय: एक दूसरे से भिन्न होती हैं। एक ध्वनि का उच्चारण करने के बाद शीघ्रता से दूसरी ध्वनि का उच्चारण करने की आवश्यकता होती है। इसी लिये उच्चारण अवयव एक स्थिति से अत्यन्त तेजी के साथ दूसरी स्थिति में पहुंचने का प्रयत्न करते हैं। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुंचने तक एक नई अस्पष्ट और अनावश्यक ध्वनि सुनाई देने लगती है इसे श्रुति (Glide) कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर केवल, केरल, केला इन तीनों का प्रारम्भिक अक्षर 'के' ही है परन्तु इन तीनों शब्दों में आने वाले 'ए' में विशेष अन्तर आ जाता है क्योंकि इस के ठीक आगे आने वाली ध्वनियाँ (व्, र्, ल्) एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इन में भिन्नता लाने वाली एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से निकलने वाली परिवर्तन-ध्वनि है। उसी को श्रुति कहा जाता है। श्रुति के दो भेद होते हैं। (१) पूर्वश्रुति (On–Glide) (२) परश्रुति (Off–Glide)। श्रुति परिवर्तन होने से पूर्व केवल अस्पष्ट परिवर्तन-ध्वनि के श्रवण को ही कहते है। जब इनके कारण परिवर्तन हो जाता है तो वह श्रुति न रह कर

परिवर्तित ध्वनि ही कही जा सकती है। पूर्वश्रुति का ही एक परिणाम अग्रागम और परश्रुति का ही एक परिणाम स्वरभक्ति है। स्त्री से पूर्व 'अ' 'इ' या किसी अन्य स्वर का अस्पष्ट रूप में सुनाई देना पूर्वश्रुति है परन्तु 'स्त्री' का 'इस्त्री' या अस्त्री उच्चारण में परिवर्तन हो जाना अग्रागम है। इसी प्रकार पर्वत' की 'र्' ध्वनि के बाद किसी ध्वनि का अस्पष्ट रूप में सुनाई देना पूर्वश्रुति है परन्तु परवत रूप में परिणत हो जाना स्वर-भक्ति है।

१७. अपश्रुति या अक्षरावस्थान

यदि किसी स्वर के स्थान पर दूसरा स्वर आजाने से अर्थ में विशेष परिवर्तन आजाय तो उसे अपश्रुति (Ablout, Vowel-gradation, या Apophony) कहा जाता है। भारोपीय भाषाओं मे इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे Sing, sang, sung, song; यदि इन चारों शब्दों की ओर ध्यान दिया जाय तो चारों मे केवल स्वर [i, a, u, o] का ही अन्तर है। इसी प्रकार मिल और मेल मे केवल स्वर [इ, ए] का ही अन्तर है। इस स्वर-परिवर्तन मे व्यञ्जनो मे परिवर्तन नही होता परन्तु अर्थ मे अन्तर आ जाता है।

१८. अभिश्रुति

किसी स्वर, अर्द्धस्वर और कभी कभी व्यंजन से प्रभावित होकर यदि अपिनिर्हित [Epenthesis] के कारण आये हुए स्वर में कोई परिवर्तन होता है तो उसे अभिश्रुति (Umlaut या Vowel-mutation) कहते है। अपिनिहिति का अर्थ है शब्द के मध्य मे किसी ध्वनि या अक्षर का आ जाना। ग्रिम ने जर्मनिक भाषाओं के अध्ययन में इस स्वर परिवर्तन की ओर विशेष ध्यान दिया। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है। mani>maini>men। maini मे मध्य की इ (i) ध्वनि अपिनिहित स्वर है। प्रभाव डालने वाला स्वर अधिकांश में 'इ' या 'य्' होता है।

ऊपर जिन ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओ का उल्लेख किया गया है केवल यह ही ध्वनि परिवर्नन की दिशायें नही है। इन दिशाओ का उल्लेख केवल निदर्शन के लिये ही है। इमी प्रकार के अन्य कितने ही ध्वनि-परिवर्तन होते रहते है। सभी भाषाओ मे होने वाले सभी प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों की गणना कर सकना सरल कार्य नही।

अध्याय १२

ध्वनि नियम

पिछले अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि ध्वनि-परिवर्तन अनिवार्य सा है। इसके लिये संसार की सभी भाषाओं को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। संसार की ऐसी कोई भी भाषा नहीं जिसमें ध्वनि परिवर्तन न हुआ हो। यही कारण है कि एक देश की प्राचीन भाषा से उस देश की अर्वाचीन भाषा सर्वथा भिन्न है। भारत-वर्ष में आज अनेक भाषायें हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि बोली जाती हैं। परन्तु इन्हीं भाषाओं के प्रदेश में पहले कोई दूसरी भाषा बोली जाती होगी। उस भाषा में ध्वनि-परिवर्तन होने से ही इन भाषाओं का विकास हुआ।

हमें ध्वनि-परिवर्तन की कुछ बातों की ओर विशेष ध्यान रखना है—(१) ध्वनि परिवर्तन बहुत धीरे २ हुआ करता है। भाषा परिवर्तित होती है—यह निश्चित है परन्तु साथ ही भाषा को स्थिर रखने के भी सभी प्रयास किये जाते हैं। यही कारण है कि परिवर्तन की गति तेज़ नहीं हो सकती। आज 'सपत्नी' और 'सौत' की ध्वनियों में विशेष अन्तर है परन्तु सपत्नी शब्द को 'सौत' शब्द तक पहुँचते पहुँचते सैकड़ों वर्ष लग गये होंगे, (२) ध्वनि परिवर्तन व्यापक होता है अर्थात् एक ही भाषा बोलने वाले सभी लोगों के उच्चारण में वह परिवर्तन हो जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि एक व्यक्ति की ध्वनि में तो परिवर्तन न हो और दूसरे की ध्वनि में हो जाय—(३) ध्वनि-परिवर्तन में विशेष परिस्थितियाँ कार्य करती है। परिस्थति का एक अर्थ तो शब्द में ध्वनि की स्थिति है। वह विशेष ध्वनि—जिसमें परिवर्तन हुआ है—शब्द के आदि, मध्य या अन्त में है अथवा उसके आसपास की ध्वनियां किस प्रकार की

हैं इस बात की ओर ध्यान देने की पूर्ण आवश्यकता होनी है। हमें यह स्मरण रखना है कि ध्वनियां अपने आस पास की ध्वनियों को प्रभावित करती रहती है। इस लिये ध्वनि परिवर्तन मे उनका विशेष स्थान रहता है। उदाहरण के तौर पर हम 'गोपा' शब्द की ध्वनियों के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि 'ग' ध्वनि आदि में है इसमे पूर्व कोई ध्वनि नहीं। इसके आगे स्वर ध्वनि है और इसके बाद 'य्' ध्वनि है। परिस्थिति का निर्देश विशेष रूप में भी किया जा सकता है और मामान्य रूप में भी। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में यह कहना कि 'ग्' से पूर्व स्वर है और बाद मे व्यञ्जन तो यह परिस्थिति का सामान्य निर्देश है। परन्तु यह कहना कि 'ग्' से पूर्व 'आ' है और बाद में 'य्' यह विशेष निर्देश है। परिस्थिनि की ओर ध्यान देते समय हमें एक और बात को भी न भूलना चाहिये कि कई बार कई शब्द किसी भाषा के प्रदेश से बाहर के होते हैं परन्तु उस भाषा में किसी न किसी प्रकार से घुस जाते हैं। उन्हे उधार लिये हुए शब्द (Loan-words) कहा जाता है। इम लिये यह ध्यान रखना है कि भाषा के मल शब्दों से उधार लिये हुए शब्द भिन्न होते है और उनमें ध्वनि परिवर्तन भी भिन्न भिन्न रूपों में होता है। परिस्थिति के अन्तर्गत ही समय का भी ध्यान रख लेना चाहिये। एक विशिष्ट समय में जो ध्वनि-परिवर्तन हुआ होगा वह आवश्यक नही कि उसमे पाच सौ या हजार वर्ष बाद भी उसी रूप में हो।

यदि ध्वनि-परिवर्तन की इन बातों की ओर ध्यान रखा जाय तो हम यह कह सकते है कि ध्वनि-परिवर्तन एक वैज्ञानिक परिवर्तन होता है। परिवर्तन की एक निश्चित दिशा होती है। उम निश्चित दिशा की व्याख्या की जा सकती है। ध्वनि-परिवर्तन की इम निश्चित दिशा की व्याख्या करने बाले नियम को ध्वनि-नियम (Phonetic Law) कहा जाता है।

यदि किसी भी भाषा में होने वाले ध्वनि परिवर्तन का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो उस की निश्चित दिशा का निर्धारण किया जा सकता है और उसी के आधार पर नियम भी बनाये जा सकते है। एक

उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जा सकती है। ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता में कुछेक शब्द इस प्रकार हैं—हप्त, अहु, अहुर। अवेस्ता का भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृत भाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि दोनों की मूल भाषा एक ही मानी जाती है जिसका नाम है—भारत ईरानी। उपर्युक्त अवेस्ता शब्दों के समानान्तर शब्द संस्कृत में इस प्रकार हैं–सप्त, असु, असुर। यदि हम दोनों भाषाओं के शब्दों की तुलना करें तो हमें अत्यधिक समानता दिखाई देगी। परन्तु एक ध्वनि में विशेष अन्तर है। संस्कृत में जो 'स्' ध्वनि है उसके स्थान पर अवेस्ता में 'ह्' ध्वनि है। इसी प्रकार के 'स्' ध्वनि वाले अनेक शब्दों की तुलना करने पर यदि हम इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते है कि संस्कृत भाषा का 'स्' अवेस्ता भाषा में 'ह्' होता है तो हम इसे एक ध्वनि-नियम मान सकते है। अब हमें यह बात ध्यान में रखनी है कि यह नियम केवल संस्कृत और अवेस्ता पर ही लागू हो सकता है। इन भाषाओं के अतिरिक्त संसार की अन्य भाषाओं जैसे चीनी, जापानी आदि पर इसे लागू नहीं किया जा सकता। इस के साथ ही हमें कुछ परिस्थितिजन्य सीमाओं पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है अन्यथा यह नियम अपूर्ण रह जायेगा। अवेस्ता में कई शब्द ऐसे मिलते है जिन में संस्कृत 'स्' के स्थान पर 'ह्' नहीं होता जैसे – हजङ्र। संस्कृत का समानान्तर शब्द सहस्र है। उपर्युक्त ध्वनि-नियम के अनुसार प्रथम 'स्' के स्थान पर 'ह्' मिलता है परन्तु 'स्र' के 'स्' के स्थान पर 'ङ्' मिलता है। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा क्यों हो गया ? कोई भी कह सकता है कि यह ध्वनि नियम अपूर्ण रह गया। इस प्रकार की स्थिति को अपवाद कहा जा सकता है परन्तु यदि हम ध्वनियों की परिस्थिति की ओर ध्यान दें तो हम इस अपवाद की व्याख्या कर सकते हैं। 'सहस्र' शब्द के 'स्' में 'स्' संयुक्त ध्वनि के रूप में है और उसके बाद में 'र्' ध्वनि है। अब हम एक और नियम बना लेते हैं कि यदि 'स्' के ठीक बाद में 'र्' ध्वनि होगी तो 'स्' के स्थान पर 'ङ्' हो जायेगा। अपने इस नियम की परीक्षा करने के लिये हम

अवेस्ता के अनेक शब्दो का निरीक्षण करेंगे। यदि सभी शब्दो मे यही बात दिखाई दे जाय तो हम कहेगे कि यह ध्वनि-नियम ठीक है। अवेस्ता मे इसी प्रकार की परिस्थिति मे 'स्' ध्वनि हमेशा 'ङ्' मे परिवर्तित हो जाती है जैसे दस्र संस्कृत का शब्द है और दङ्र अवेस्ता का। इसी से हम यह कह सकते है कि ध्वनि-नियम व्यापक होते हैं। उनके अपवाद हो सकते है परन्तु शब्द मे ध्वनि की स्थिति के आधार पर अपवादो की व्याख्या की जा सकती है। यदि हम अपवाद की व्याख्या नही कर सकते तो इसका एक कारण अज्ञान भी हो सकता है। सम्भव है कि हम परिस्थिति को ठीक तरह से न समझ रहे हो अथवा कोई ऐसी अन्य बात हो गई हो जिसके कारण हम ध्वनि-परिवर्तन को न समझ रहे हों। हमे इस बात को स्मरण रखना है कि ध्वनि-परिवर्तन विशेष भाषा के परम्परा-प्राप्त अपने शब्दों में होता है। यदि एक भाषा किसी दूसरी भाषा से प्रभावित होकर उसके किसी शब्द को आत्मसात् कर लेती है तो उसकी ध्वनियो मे वैसा परिवर्तन नही हो सकता। इसी लिये ध्वनि-नियम बनाते समय हमे दूसरी भाषा से आये हुए शब्दो को अलग कर देना होगा। यदि हम ऐसा नही करेगे तो हमारी कठिनाई बढ जायेगी और हमे कई ऐसे अपवाद दिखाई देगे जिनकी व्याख्या करना हमारे लिये असम्भव हो जायेगा। हमने ऊपर अवेस्ता के उदाहरणो मे केवल एक अपवाद का ही उल्लेख किया है। इसका यह तात्पर्य नही कि अवेस्ता मे इस प्रकार के अन्य अपवाद नही है। ऐसे अपवाद और भी मिलेगे। जैसे अवेस्ता मे ज़स्त शब्द सस्कृत मे हस्त है। इस शब्द मे 'स्' ध्वनि अपरिवर्तित है जिसका कारण अन्य विशेष परिस्थिति है। इसी प्रकार अन्य अपवादो की सत्ता भी स्वीकार की जा सकती है।

अब हम कह सकते हैं कि ध्वनि-नियम शब्द मे विद्यमान नियम शब्द से यह समझ लेना भूल है कि ध्वनि-नियम वैज्ञानिक नियमो के समान निरपवाद और सार्वदेशिक हैं। वस्तुत: ध्वनि-नियमो मे अपवाद बहुत होते है। उन अपवादो की व्याख्या करना भाषा-विज्ञान का कार्य है। परन्तु यह नही कहा जा सकता कि सभी अपवादो की वैज्ञानिक व्याख्या करने की

प्रणाली का आविष्कार हो गया है। एक ही ध्वनि-नियम के इतने अधिक अपवाद मिलते हैं जिनकी व्याख्या कर सकना सरल कार्य नहीं। वैसे ध्वनि परिवर्तन में हमें काल, परिस्थिति, प्रदेश आदि का ध्यान तो रखना ही होता है क्योंकि इसी के कारण एक ही ध्वनि भिन्न भिन्न समय में, भिन्न भिन्न परिस्थितियों में या भिन्न भिन्न प्रदेशों में भिन्न रूप में परिवर्तित होती है। ध्वनि परिवर्तन में सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता जैसी बात नही कही जा सकती। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए भी विशिष्ट भाषाओं के विशिष्ट ध्वनि परिवर्तन की विशिष्ट समस्यायें होंगी और कभी कभी उनका हल ढूंढ निकालना बहुत जटिल कार्य हो जायेगा। अपवादों या समस्याओं की दुर्बोधता और जटिलता को देखते हुए कभी कभी ध्वनि नियम को ध्वनि प्रवृत्ति (Phonetic tendency) भी कह दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी के रूल (Rule) या फार्मूला (Formula) शब्दों का भी व्यवहार किया जाता है परन्तु अपवादों की सत्ता स्वीकार करते हुए ध्वनि परिवर्तन की व्याख्या को ध्वनि नियम कहना ही अधिक उपयुक्त है। जिस परिवर्तन की कोई व्याख्या न की जा सके उसी को ध्वनि प्रवृत्ति कहना ठीक है। हिन्दी में 'रूल' और 'फार्मूला' के लिए भी केवल नियम शब्द ही ठीक है।

ग्रिम नियम

अभी तक हमने ध्वनि नियम की सामान्य बातें कही हैं — केवल एक नियम का आंशिक उदाहरण देकर उसे समझाने का प्रयत्न किया है। हमें इस बात की ओर विशेष ध्यान रखना है कि ध्वनि नियम किसी विशेष भाषा या भाषा समूह तक ही सीमित होता है। संसार की सारी भाषाओं के लिये किसी एक ध्वनि नियम की कल्पना ही नहीं की जा-सकती। इसलिये कोई सामान्य ध्वनि नियम तो प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, परन्तु विशिष्ट भाषा समूह से सम्बंधित नियमों मे ग्रिम नियम का विशिष्ट स्थान है इसीलिये ध्वनि नियम के उदाहरण रूप में उसी का

उल्लेख किया जा रहा है।

पृष्ठभूमि

ग्रिम नियम को समझने से पूर्व हमे इस बात को अवश्य ध्यान मे रखना है कि भाषा-विज्ञान को वैज्ञानिकता का रूप देने वाले ये ध्वनि नियम ही हैं। ग्रिम नियम का निर्धारण होने मे पूर्व और बाद मे भी भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के मस्तिष्क मे एक बहुत बडा प्रश्न उठता रहता है कि क्या एक ही भाषा परिवर्तित होकर अनेक भाषाओ का रूप धारण करती है अथवा अनेक भाषाये ही अनादि काल मे चली आ रही है। स्पष्ट है कि अभी तक इस प्रश्न का उत्तर नही दिया जा सका। ससार की भाषाओ की विविधता और विभिन्नता को देखते हुए अभी तक यह कल्पना तो नही की जा सकती कि ससार की कोई एक आदि भाषा होगी; परन्तु कुछ भाषायें ऐसी है जिनकी पारस्परिक समानता इतनी अधिक है कि यह मानना पडता है कि उनका आदि स्रोत एक ही है। पाश्चात्य देशों मे अर्वाचीन भाषाओ के अध्ययन के अतिरिक्त ग्रीक और लैटिन का अध्ययन तो किया ही जाता था। ग्रीक और लैटिन न केवल साहित्यिक दृष्टि से उन्नत है बल्कि उनका सम्बन्ध योरप की अनेक भाषाओं से है इस लिये इस बात को अधिक से अधिक मान्यता मिलने लगी कि ग्रीक और लैटिन से ही अधिकाश भाषाये निकली हैं। इस जन्य-जनक सम्बन्ध को मान लेने पर ग्रीक और लैटिन का स्थान और भी ऊँचा माना जाने लगा। इसी समय पाश्चात्य देशो का सम्पर्क पौर्वात्य देशों के साथ हुआ। सम्पर्क स्थापित हो जाने पर पौर्वात्य भाषाओ के अध्ययन की ओर भी ध्यान दिया गया। पौर्वात्य भाषाओ मे सब से मुख्य भाषा सस्कृत है इस लिये इसके अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। इस दृष्टि मे रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के अवसर पर कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) के शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिन मे उन्होने

संस्कृत के विशिष्ट महत्त्व को स्वीकार किया और यहां तक कह डाला कि संस्कृत ग्रीक और लैटिन से भी अधिक सुन्दर और पूर्ण है।[1] इसी के साथ उन्होंने यह भी कहा कि इन भाषाओं का मूलस्रोत सम्भवत: एक है।[2] पश्चिमी देशों में अभी तक ग्रीक और लैटिन का ही बोलबाला था परन्तु अब संस्कृत भाषा और वाङ्मय की ओर भी विशिष्ट ध्यान दिया जाने लगा। योरप के अनेक विश्व-विद्यालयों में संस्कृत अध्ययन की व्यवस्था हुई और इसी के कारण विश्व की प्राचीन भाषाओं के रूप में संस्कृत का महत्त्व और भी अधिक माना जाने लगा क्योंकि इस समय तक उपलब्ध साहित्य को देखते हुए इसी भाषा का ही एक ग्रन्थ ऋग्वेद विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। संस्कृत की ग्रीक और लैटिन से तुलना करने पर इन भाषाओं में अत्यधिक समानता दिखाई देने लगी। यह एक आश्चर्य-जनक बात थी और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी। भारतवर्ष में परम्परावादी संस्कृत को अनादि भाषा या दैवी भाषा के रूप में स्वीकार करते आ रहे हैं। उनकी धारणाओं को विशेष बल मिला। अब वे इस आधार पर कह सकते थे कि संस्कृत न केवल भारतीय भाषाओं की जननी है बल्कि वह पाश्चात्य भाषाओं को पैदा करने वाली ग्रीक और लैटिन की भी जननी है। परन्तु संस्कृत का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी पाश्चात्य विद्वानों ने तथा अनेक भारतीय विद्वानों ने भी ग्रीक

---

1. "The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is a language of most wonderful structure, more perfect than the Greek, more copious than the latin and more exquisitely refined than either yet bearing to both of them a strong affinity."

2. "No philologer could examine the Sanskrit, Greek, and Latin without believing them to have sprung from some common source which perhaps no longer exists. There is a similar reason, though not quite so forcible, for supporing that both the Gothic and Celtic had the same origin with the Sanskrit."

लैटिन और संस्कृत के जन्य-जनक सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया। जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् फ़ांस बाप (Franz Bopp) को तुलनात्मक भाषाविज्ञान का जनक (Father of Comparative Philology) कहा जाता है। इन्होंने सस्कृत के महत्त्व को अवश्य चीकार किया परन्तु संस्कृत, ग्रीक, लैटिन और जर्मनिक भाषाओं की विश्लेपणात्मक तुलना करने के बाद यह भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि ग्रीक, लैटिन आदि भाषायें संस्कृत की पुत्रियां नहीं हैं बल्कि बहने हैं। इन सब का मूलस्रोत कोई और भाषा है जो इस समय अस्तित्व में नहीं है[1]। हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि बाप ग्रिम के समकालीन थे और उनके समय तक ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं की तुलना के क्षेत्र मे इतनी प्रगति अवश्य हो चुकी थी।

ग्रीक लैटिन आदि भाषाओं के मूल स्रोत से जर्मनिक भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन किम प्रकार हुए — इसके लिये ग्रिम ने कुछ नियम बनाये। उन्ही नियमों को ग्रिम-नियम (Grimm's Law) कहा जाता है। ग्रिम-नियम मे ग्रिम नाम से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन नियमों को बनाने का एकमात्र श्रेय ग्रिम को ही है। परन्तु यह बात ठीक नही। ग्रिम से पूर्व डेनिश विद्वान् रैज़मस रैस्क (Rasmus Rask) इन नियमों की ओर संकेत कर चुके थे। जैस्पर्सन का तो यहा तक विचार है कि यदि इन नियमों के साथ किसी विशेष व्यक्ति का ही नाम जोड़ना हो तो इन्हें रैस्क-नियम

---

1. "I do not believe that the Greek, Latin and other European languages are to be considered as derived from the Sanskrit in the state in which we find it in Indian books. I feel rather inclined to consider them altogether as subsequent variations of one original tongue which, however, the Sanskrit has preserved more perfect than its kindred dialects." Analytical Comparison of the sanskrit, Greek, Latin and Teutonic Languages.

कहना अधिक उपयुक्त होगा।[1] रैस्क के अतिरिक्त इहरे (Ihre) का नाम भी लिया जाता है परन्तु इस नियम का विस्तृत और व्यवस्थित विवेचन सबसे पहले ग्रिम ने ही किया था। यही कारण है कि इसे किसी और व्यक्ति के नाम से सम्बन्धित न कर ग्रिम-नियम कहा जाता है।

इस नियम को बनाने वाले जैकब ग्रिम (Jacob Grimm) का जन्म सन् १७८५ मे हुआ था। ग्रिम के पिता वकील थे इसी लिए उन्होंने सबसे पहले वकालत का अध्ययन किया। जैकब ग्रिम के विचारों पर कानून विशेषज्ञ सैविग्नी (Sarigny) का विशेष प्रभाव पड़ा। सैविग्नी का विचार था कि सभी वैधानिक संस्थायें जनता की अपनी परम्पराओं से विकसित हुई हैं। इन विचारो से प्रभावित हो कर ही ग्रिम का ध्यान लोक परम्पराओं की ओर आकृष्ट हुआ। ग्रिम ने भाषा विज्ञानियों का ध्यान बोलियों की ओर आकर्षित किया और अपने से पूर्व चली आ रही भाषा विज्ञान की उस परम्परा का भी विरोध किया जिसका आधार स्तम्भ ग्रीक और लैटिन जैसी साहित्यिक भाषायें थी। ग्रिम ने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे नवीन ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाया।

यह है ग्रिम नियम से पूर्व की पृष्ठभूमि का सक्षिप्त विवरण यद्यपि ग्रिम नियम को समझने के लिये इस पृष्ठ भूमि के बिना काम चल सकता है परन्तु इस पृष्ठभूमि को दृष्टिगत रखते हुए हम ग्रिम नियम के महत्त्व को अच्छी तरह समझ सकते है।

ग्रिम-नियम की व्याख्या

ग्रिम-नियम का सम्बन्ध केवल नौ स्पर्श-ध्वनियों के परिवर्तन से है। यहां हमें इस बात को ध्यान में रखना है कि संस्कृत, ग्रीक और लैटिन के आधार पर एक कल्पित भाषा का निर्माण किया जाता है। इसी का एक

---

1. "If any one man is to give his name to this law, better name would be Rask's Law." Language : Its Nature, Development and Origin.

नाम आदिम भाषा भी है। आदिम भाषा का कोई अस्तित्व नहीं है। इसके रूप संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में सुरक्षित माने जाते हैं। इसलिये आदिम भाषा के रूप को बताने का मतलब है संस्कृत, ग्रीक और लैटिन के रूपों की तुलना से किसी सामान्य रूप को कल्पित करना। जर्मनी की प्राचीन भाषा का नाम गाथिक है। यह भाषा आजकल बोलचाल में व्यवहृत नहीं होती। इस भाषा का स्वरूप जानने के लिये केवल एक ग्रन्थ चौथी शताब्दी ईस्वी में उल्फिलास नामक एक पादरी द्वारा लिखे हुए बाइबल के अनुवाद का कुछ भाग है। उल्फिलास का जीवन काल, ३११-३८१ ई० माना जाता है। गाथिक भाषा के सभी रूपों को जानने के लिये यह ग्रन्थ पर्याप्त नहीं। अंग्रेज़ी का सम्बन्ध गॉथिक के साथ है। इसलिये गॉथिक भाषा के अनेक रूप अंग्रेज़ी में सुरक्षित हैं। जहां जहां गॉथिक के प्राचीन रूप नहीं मिलते वहां सुविधानुसार अंग्रेज़ी से उदाहरण दिये जा सकते हैं। गॉथिक के बाद जर्मनी की भाषा के दो वर्ग माने जाते हैं—१. निम्न जर्मन, २. उच्च जर्मन। निम्न जर्मन उत्तर प्रदेश के निम्न स्थलों की भाषा है और उच्च जर्मन दक्षिणी प्रदेश के पर्वतीय स्थलों की भाषा है। निम्न जर्मन वर्ग में ही आज की अंग्रेजी है और उच्च जर्मन के अन्तर्गत पुरानी जर्मन और नवीन जर्मन दोनों हैं।

ग्रिम-नियम का सम्बन्ध इन भाषाओं के साथ है। यह कहा जाता है कि जर्मन भाषाओं में दो ध्वनि-परिवर्तन हुए :—

१. प्रथम ध्वनि परिवर्तन (First Sound-shift)

२. द्वितीय ध्वनि परिवर्तन (Second Sound-shift)

प्रथम ध्वनि परिवर्तन में गॉथिक भाषा आदिम भाषा से पृथक् हो गई। प्रथम-ध्वनि परिवर्तन ईस्वी सन् से बहुत पहले हो चुका था। द्वितीय-ध्वनि परिवर्तन में उच्च जर्मन गाथिक भाषा से भिन्न हो गई। यह दूसरा ध्वनि-परिवर्तन ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग हुआ। वस्तुतः इन दोनों ध्वनि-परिवर्तनों को ध्वनि परिवर्तन न कह कर स्पर्श-व्यञ्जन परिवर्तन

कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल नौ स्पर्श-व्यञ्जन ध्वनियों के परिवर्तन के साथ है। ग्रिम ने स्वर-ध्वनियों अथवा अन्य व्यञ्जन ध्वनियों के परिवर्तन की कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं की।

प्रथम ध्वनि परिवर्तन

प्रथम ध्वनि परिवर्तन को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। निम्न चित्र से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :—

प्रथम-ध्वनि-परिवर्तन

आदिम भाषा से गाथिक भाषा में

प्रथम वर्ग

आदिम भाषा	गाथिक भाषा
क्	ख़् (ह्)
त्	थ्.
प्	फ़्

इसका अर्थ यह है कि आदिम भाषा के (जिन के मूल रूप की कल्पना ग्रीक, लैटिन और संस्कृत से की जा सकती है) क्, त्, प्. ख़् (ह्.), थ्., फ्. में परिवर्तित हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में आदिम भाषा के अल्प प्राण अघोष स्पर्श व्यञ्जन गाथिक भाषा में महाप्राण अघोष संघर्षी ध्वनियों में परिवर्तित हो जाते हैं।

द्वितीय वर्ग

आदिम भाषा	गाथिक भाषा
ग्	क्
द्	त्
ब्	प्

इसका अर्थ यह है कि आदिम भाषा के अल्पप्राण सघोष स्पर्श व्यञ्जन (ग्, द्, ब्) गॉथिक भाषा मे क्रमशः अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यञ्जनों (क्, त्, प्) मे परिवर्तित हो जाते है।

तृतीय वर्ग

आदिम भाषा	गॉथिक भाषा
घ् (ह्)	ग्
ध्	द्
भ्	ब्

इसका अर्थ यह है कि आदिम भाषा के महाप्राण सघोष स्पर्श व्यञ्जन (घ्, ध्, भ्) गॉथिक भाषा मे क्रमशः अल्पप्राण सघोष स्पर्श व्यञ्जनो (ग्, द् ब्) में परिवर्तित हो जाते है ।

द्वितीय ध्वनि परिवर्तन

द्वितीय ध्वनि परिवर्तन को भी तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। इसका सम्बन्ध गॉथिक तथा अन्य सम्बन्धित भाषाओं के साथ है। इसी ध्वनि-परिवर्तन के कारण गॉथिक भाषा उच्च जर्मन मे परिवर्तित हो गई थी। निम्न चित्र से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :—

द्वितीय ध्वनि परिवर्तन

प्रथम वर्ग

गॉथिक (निम्न जर्मन, अग्रेजी आदि)	उच्च जर्मन
क्	ख् (ह्)
त्	थ् (त्स्, स्स्)
प्	फ

इसका अर्थ यह है कि गॉथिक के अल्पप्राण अघोष स्पर्श व्यञ्जन (क्, त्, प्) उच्च जर्मन मे महाप्राण अघोष सघर्षी व्यञ्जन ध्वनियों

(ख़्, थ्, फ़्) में परिवर्तित हो जाते है।

द्वितीय वर्ग

गॉथिक	उच्च जर्मन
ख़् (ह्)	ग्
थ्	द्
फ़्	ब्

इसका अर्थ यह है कि गॉथिक के अघोष संघर्षी महाप्राण व्यञ्जन (ख़्, थ्, फ़्) उच्च जर्मन में सघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यञ्जन ध्वनियों (ग्, द्, ब्) में परिवर्तित हो जाते हैं।

तृतीय वर्ग

गॉथिक	उच्च जर्मन
ग्	क्
द्	त्
ब्	प्

इसका अर्थ यह है कि गॉथिक के सघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यञ्जन (ग्, द्, ब्) उच्च जर्मन में अघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यञ्जन (क्, त्, प्) में परिवर्तित हो जाते हैं।

दोनों का समन्वित रूप

इन दोनों ध्वनि परिवर्तनों को एक दूसरे के साथ सम्बन्धित भी माना जाता है। इन दोनों का समन्वित रूप इस प्रकार है :—

	आदिम	गॉथिक	उच्च जर्मन
प्रथम वर्ग			
	क्	ख़् (ह्)	ग्
	त्	थ्	द्
	प्	फ़्	ब्

द्वितीय वर्ग

ग्	क्	ख् (ह्)
द्	त्	थ् (त्स्, स्स्)
ब्	प्	फ्

तृतीय वर्ग

घ् (ह्)	ग्	क्
ध्	द्	त्
भ्	ब्	प्

यदि हम इस परिवर्तन की ओर ध्यान दें तो हमे यह त्रिकोणात्मक दिखाई देगा।
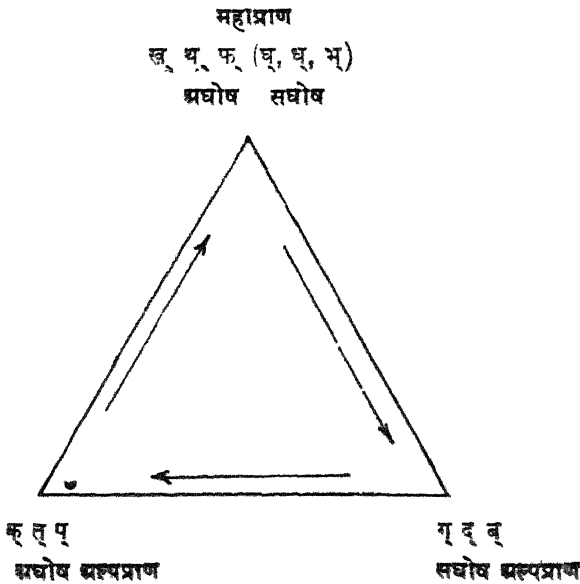
भारतवर्ष में तथा अन्य देशों मे भी 'तीन' की महिमा स्वीकार की जाती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन हैं, लोक तीन है, शिव जी की आँखे तीन है इत्यादि। व्याकरण मे तीन का विशेष महत्त्व है जैसे लिङ्ग तीन होते हैं, वचन तीन होते है, पुरुष तीन होते है, काल तीन होते है इत्यादि। ग्रिम ने भी अपने नियम को इसी तीन की सीमा मे ही रखा है। उसने केवल तीन प्रकार की ध्वनियाँ ली, स्थान की दृष्टि से कण्ठ्य; दन्त्य और ओष्ठ्य; अन्य दृष्टि मे अघोष, सघोष और महाप्राण। इन ध्वनियो को तीन—तीन के तीन वर्गो मे बाट दिया।

नीचे प्रथम ध्वनि परिवर्तन के उदाहरण दिये हुए है :—

	आदिम	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गॉथिक	अंग्रेजी
प्रथम वर्ग						
क्-ख् (ह्)	करद	श्रद् (धा)	कर्द्	कॉर्-द्	हैर्तो	हॉर्ट्
त्-थ्	*त्रैयस्	त्रि	त्रेइम्	त्रेस्	थ्रीस्	थ्री
प्-फ्	*पोद्	पाद्	पोउस्	पेस्	फोटुम्	फुट
द्वितीय वर्ग						
ग् क्	*युगोम्	युग (योग)	जुगोन्			योक्
द्-त्	*देक	दश	डेक	डेकेम्	तेहुन्	टेन्
ब्-प्	*स्लेउब्			लूब्रिकुस्	स्लिउपान्	स्लिप्
तृतीय वर्ग						
घ् (ह्)-ग्	*घोस्तिस्			होस्तिस्	गस्तिज्	गैस्ट गीस्ट (प्राचीन)
ध्-द्	*मेधु	मधु	मेथु	मेदू		मीड्
भ्-ब्	*भ्रातेर्	भ्राता (तृ)	फ्रातेर्	फातेर	ब्रॉथर्	ब्रदर्)

यदि हम इन उदाहरणो की ओर ध्यान दें तो यह बात पूर्णतया

स्पष्ट हो जाती है कि प्रथम ध्वनि-परिवर्तन कितना नियमित है। आदिम भाषा के रूप मिलते नहीं हैं। उनकी कल्पना संस्कृत ग्रीक और लैटिन में उपलब्ध रूपों के आधार पर की जाती है। कल्पित रूप के साथ तारक-चिन्ह (*) लगा दिया जाता है।

द्वितीय ध्वनि परिवर्तन के उदाहरण भी इकट्ठे करने का प्रयत्न किया जाता है परन्तु यह दूसरा ध्वनि-परिवर्तन बहुत नियमित नहीं दिखाई देता। कुछेक उदाहरण नीचे दिये हुए हैं :—

	अंग्रेजी	**उच्च जर्मन**
प्रथम वर्ग		
ख् (ह्) — ग्	हार्ट्	हर्त्स
थ्—द्	थ्री	द्राय
फ़् - ब्	फुट	फ़ुस्स
द्वितीय वर्ग		
क् — ख़् ह्)	योक्	यॉख्
त् - थ् त्स्)	टेन्	त्सेह्न्
प्—फ़्	स्लीप	श्लाफ़न्
तृतीय वर्ग		
ग्— क्	[गिस् (त्र)]-यम् (टर)	कैस्त्रे
द् — त्	डॉटर	तॉख्तर्
ब्—प्	बी	पिम्

ग्रिम-नियम की समीक्षा

अनेक उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रथम-ध्वनि परिवर्तन में कुछ नियमित क्रम है परन्तु द्वितीय ध्वनि-

परिवर्तन में ऐसी बात देखने को नहीं मिलती। वस्तुतः हमें यह बात पूर्णतया ध्यान में रखनी चाहिये कि विभिन्न कालों में होने वाले दो ध्वनि-परिवर्तनों का पारस्परिक सम्बन्ध किसी भी दशा में स्थापित नहीं किया जा सकता। प्रथम ध्वनि-परिवर्तन ईसवी से बहुत पहले हुआ था और दूसरा ध्वनि परिवर्तन सातवीं-आठवीं ईसवी के बाद। इन दोनों में किसी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है—इस बात को किसी भी दशा में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस लिये ग्रिम-नियम केवल प्रथम ध्वनि-परिवर्तन तक ही सीमित माना जाता है। द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन तो केवल जर्मन भाषा की अपनी विशेषता है जिसका अध्ययन जर्मन भाषा के ध्वनि-नियम की दृष्टि से ही किया जाना चाहिये।

अब हम यदि केवल प्रथम ध्वनि-परिवर्तन तक ही अपना ध्यान केन्द्रित करें तो हमें ध्वनि-नियम की सीमाओं की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रिम ने प्रथम ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियम प्रस्तुत करके एक महान् कार्य किया है। इस महान् कार्य की जितनी भी प्रशंसा की जाय उतनी कम है परन्तु दुर्भाग्य से ग्रिम ने अपने ध्वनि-नियम को निश्चित परिस्थितियों की सीमाओं में बांधने का कोई प्रयास नहीं किया। प्रत्येक ध्वनि-नियम के अनेक अपवाद होते हैं। उन अपवादों की व्याख्या करने की आवश्यकता होती है। स्वयं ग्रिम ने भी इस बात का अनुभव किया था। अब यदि हम नीचे दिये हुए उदाहरणों की ओर ध्यान दें तो यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी—

आदिम	**संस्कृत**	**ग्रीक**	**लैटिन**	**गॉथिक**	**अंग्रेजी**
* एस्ति	अस्ति	एस्ति	एस्त	इस्त	इज्
			पिस्किस्	फ़िस्कस्	फ़िश्
	नप्ता		नेप्तिस्		नैफ़्यू
* ओक्तो	अष्टौ	ओक्तो	ओक्तो	अह्तौ	एट

इन उदाहरणों को देखने मे यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि इन में ग्रिम-नियम के अनुसार ध्वनि-परिवर्तन नहीं हुआ। कारण भी स्पष्ट ही है। 'स्त्' 'स्क्' 'प्त्' 'क्त्' संयुक्त ध्वनियां हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पूर्वोक्त संयुक्त ध्वनियों की स्थिति में ग्रिम-नियम लागू नहीं होता।

ग्रासमन का नियम (Grassman's Law)

ग्रिम के प्रथम ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी नियम में कुछ अपवाद थे जिनकी व्याख्या ऊपर की गई है परन्तु धीरे धीरे जब इस ध्वनि-नियम का विस्तृत उदाहरणों के बल पर निरीक्षण किया जाने लगा तो कुछ अन्य अपवाद भी दिखाई देने लगे। इस में से एक अपवाद की व्याख्या ग्रासमन ने की थी इसी लिये उसे ग्रासमन नियम कहा जाता है।

यदि हम निम्न उदाहरण की ओर ध्यान दें तो ग्रिम-नियम में अपवाद स्पष्ट हो जायेगा। ग्रिम-नियम के अनुसार आदिम भाषा के ग्, द्, ब् क्रमश: गॉथिक भाषा में क्, त्, प् में परिवर्तित हो जाते हैं परन्तु संस्कृत में बुध् धातु का प्रथम पुरुष एकवचन वर्तमान काल का रूप 'बोधति' है। इसी का समानान्तर शब्द गॉथिक में 'बिउदन्' है। संस्कृत 'दभ्' धातु का समानान्तर शब्द गॉथिक में 'दाब्म्' है जबकि ग्रिम-नियम के अनुसार गॉथिक रूप 'पिउदन्' और 'ताब्स्' होने चाहिये थे। तुलना के लिये नीचे अन्य रूप भी दिये हैं :—

संस्कृत	ग्रीक	गॉथिक	एँगलो-सैक्सन	अंग्रेजी	जर्मन
बोधति	पिउथितइ	बिउदन्	बिओदन्	बिड्	बिएतेन्
दभ्	तुफ़्लोम्	दाब्म्			
बन्ध्	पेन्थ्	बिन्दान्	बिन्दान्	बाइन्ड	बिन्देन्
बोधामि	पिउथोमइ	अन-बिउदन्			

हर्मन ग्रासमन (Hermann Grassmann) संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने इन दोनों भाषाओं में आने

वाली कुछ ध्वनियों का गहन अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सस्कृत और ग्रीक में महाप्राण ध्वनि के साथ जो अल्पप्राण ध्वनियाँ (संस्कृत ग्, द्, ब् और ग्रीक क्, त्, प्) दिखाई देती है उनका मूल रूप आदिम भाषा मे महाप्राण था। आदिम भाषा में एक समय ऐसी स्थिति थी जब दो महाप्राण ध्वनियां इकट्ठी आसकती थीं परन्तु बाद में एक ऐसी स्थिति आई जिस में दो महाप्राण ध्वनियों में एक अर्थात् पहली ध्वनि अल्पप्राण हो जाती है इसलिये सस्कृत ग्, द्, ब् का मूल आदिम रूप घ्, ध्, भ् था और ग्रीक क्, त्, प् का मूल रूप ख्, थ्, फ् था। हमें ग्रीक के इस नियम को भी ध्यान में रखना है जिसके अनुसार आदिम भाषा की सघोष ध्वनियां ग्रीक में अघोष हो जाती है। इस प्रकार ग्रासमन के अनुसार मूल आदिम रूप भउध्–, भन्ध्– और धाभ् थे। ग्रिम-नियम के अनुसार भ् और ध् का परिवर्तन क्रमशः ब् और द् के रूप में होता है जोकि उपर्युक्त रूपों की तुलना करने से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

जो लोग सस्कृत और ग्रीक मे परिचित है वे हर्मैन ग्रासमन की युक्तियों को बडी आसानी से समझ सकते हैं। वस्तुतः अल्पप्राण ध्वनियों के महाप्राण होने के प्रमाण इन भाषाओ में ही विद्यमान है। संस्कृत की 'बन्ध्' धातु का उदाहरण ही ले लीजिये। इसका एक क्रिया रूप 'अभान्त्सीत्' भी है। इस रूप मे ब्' के स्थान पर 'भ्' दिखाई देता है। इसी प्रकार 'धा' धातु के 'अधात्' और 'दधामि' रूपों की तुलना करने पर तो यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी कि संस्कृत में दो महाप्राण इकट्ठ नहीं आ सकते। 'अधात्' में मूल महाप्राण रूप सुरक्षित है परन्तु द्वित्व में (दधामि) एक अल्पप्राण हो गया है। तुलना के लिये यदि संस्कृत के 'दा' रूपों को देखें तो यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी कि केवल महाप्राण ध्वनियों में ही ऐसा परिवर्तन होता है। 'दा' धातु से बने रूपों में कोई परिवर्तन नहीं होता—अदात्, ददामि। यही स्थिति ग्रीक में देखने को मिलती है ग्रीक में 'मैं दूंगा' इस अर्थ में 'दोसो' का प्रयोग होता है। मैं देता हूं इस अर्थ में द्वित्व का प्रयोग 'ददोमि' होता है। यहां किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु एक

अन्य क्रिया रूप 'थेसो' है। इस का अर्थ है - मैं रखूँगा। द्वित्व रूप 'तिथेमि' है जिसका अर्थ है मैं रखता हूं। स्पष्ट है कि दो महाप्राण ध्वनियां एक साथ आने पर पहली महाप्राण ध्वनि का अल्पप्राणी करण हो गया है। यह नियम ग्रीक और संस्कृत दोनों में अत्यन्त व्यापक दिखाई देता है।

वर्नर नियम (Verner's Law)

ग्रिम-नियम के कुछ अपवादों का निराकरण ग्रासमन ने कर दिया था परन्तु बाद में कुछ अन्य अपवाद भी दिखाई देने लगे जिनकी युक्ति-संगत व्यवस्था कार्ल वर्नर (Karl Verner) ने की थी। उसी को वर्नर नियम के नाम से कहा जाता है। हमें स्मरण रखना है कि ग्रिम-नियम के अनुसार क्, त्, प् के स्थान पर ख्, थ्, फ्, होना चाहिये परन्तु ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिन मे परिवर्तन ऐसा न होकर क्, त् प् के स्थान पर ग्, द्, ब् हो जाता है। नीचे दिये हुए उदाहरणों मे यह बात स्पष्ट हो जायेगी :—

आदिम	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गॉथिक	अंग्रेजी
क् — ग्					
* युवन्कास्	युवशम्		युवन्कुम्	युग्म्	यङ्ग
त् — द्					
* क्m̥तोम्	शतम्	हेक्तोन्	केन्टुम्	हुन्द	हंड्रेड
प् — ब्					
* सप्तन्̥	सप्त	हप्त	सेप्टेम्	सिबुन्	सेवन्

कार्ल वर्नर ने इन अपवादों की व्याख्या की। उनका ध्यान स्वराघात (accent) की ओर गया। यह पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत और ग्रीक में अति प्राचीन काल में स्वराघात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। उसी आधार पर यह कहा जाता है कि इन भाषाओं की जननी आदिम भाषा

में भी स्वराघात विद्यमान था जोकि अपने प्राचीनतम रूप में संस्कृत में अभी भी सुरक्षित है। काल वर्नर ने स्वराघात का पूर्ण अध्ययन किया और इसी के आधार पर यह नियम बनाया :—

(१) यदि आदिम भाषा मे 'क्, त्, प्' से पूर्व बिना किसी अन्य ध्वनि का व्यवधान आये किसी स्वर पर उदात्त सुर हो ;

(२) अथवा 'क्, त्, प्' ध्वनियां आदि में हों और बाद में कोई उदात्त सुर न आये

तो इनके ('क् त्, प्') स्थान पर 'ख्, थ्, फ़्' होता है अर्थात् तभी ग्रिम-नियम लागू होता है अन्यथा नहीं। यदि स्थिति ऐसी न हो अर्थात् जैसे उदात्त स्वर बाद में आजाये तो वर्नर नियम के अनुसार क् त् प् के स्थान पर ग् द् ब् हो जाते हैं जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में देखने को मिलता है।

कार्ल वर्नर ने ग्रिम-नियम की तीन ध्वनियों के अतिरिक्त 'स्' ध्वनि के स्थान पर 'ज्' (जो बाद में 'र्' हो गई) का नियम भी बनाया। उदाहरण के तौर पर आदिम भाषा के एक शब्द * कस की कल्पना की जाती है। प्राचीन गॉथिक में इसके स्थान पर * खज़ बना। प्राचीन अंग्रेज़ी में यही शब्द हर था और आज कल अंग्रेज़ी में यह शब्द हेअर अर्थात् खरगोश है। इसी प्रकार संस्कृत स्नपा, ग्रीक नुओस्, लैटिन नुरुस्, अंग्रेज़ी स्नोरु में भी मूल 'स्' के र्' में परिवर्तित होने का प्रमाण मिलता है। आदिम शब्द * एइस्, सस्कृत अयस्, अंग्रेज़ी आइरन् भी इसी प्रकार का उदाहरण है।

ऊपर ग्रिम-नियम और उसके अपवादों की व्याख्या करने वाले नियमों का उल्लेख किया गया है। उसका यह मतलब नहीं कि अब ग्रिम-नियम सर्वथा शुद्ध और निरपवाद हो गया है। अभी भी बहुत से ऐसे अपवाद मिलते हैं जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। ग्रिमनियम अथवा नियमों की निरपवाद सत्ता के विरोधी इसके अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर

सकते हैं। लैटिन में दिन के अर्थ में दिएम् शब्द है, संस्कृत में दिवस है। परन्तु अंग्रेजी में यह शब्द 'डे' है। ग्रिम-नियम के अनुसार 'द्' के स्थान पर 'त्' होना चाहिये था परन्तु हुआ नहीं। इसी प्रकार :—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	अंग्रेजी
कोकिलः	कोक्कुक्स्	क्यूक्यूलुम्	कूकू

यहां भी 'क्' अपरिवर्तित ही दिखाई देता है। जबकि ग्रिम-नियम के अनुसार 'क्' के स्थान पर 'ख्' होना चाहिये था।

हमे यह स्मरण रखना है कि नियमों के निर्माण में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कितनी ही परिस्थितियां ध्वनियों पर प्रभाव डालती रहती हैं। जब तक पूरी परिस्थितियों की व्याख्या नहीं कर ली जाती तब तक इस प्रकार की कठिनाइयां आती ही रहेंगी। सम्भव है कि संस्कृत दिवस या अंग्रेजी लैटिन दिएम् के 'द्' का मूल रूप 'ध्' ही हो और यह भी सम्भव है कि 'कोकिल' आदि शब्दों में आये 'क्' का मूल रूप 'ग्' ही हो। इस के अतिरिक्त कई शब्द ऐसे भी होते है जो अन्य भाषाओं के साथ संपर्क में आने पर उन्ही भाषाओ से आ जाते है। ध्वनि-नियम किसी भाषा के अपने शब्दों पर ही लगता है। उधार लिये हुए शब्दों पर नहीं। यदि इन सब बातों की पूर्ण व्याख्या की जाये तो इस में कोई सन्देह नहीं कि ग्रिम-नियम एक महत्त्वपूर्ण नियम है।

तालव्यी-भाव का नियम

ग्रिम-नियम के अतिरिक्त एक और नियम भी है जो उतना ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। स्पष्टतया तो यह नहीं कहा जा सकता कि किस ने इस नियम का आविष्कार किया परन्तु अधिकांश में यह नियम 'कालित्ज का तालव्यीभाव नियम' (Collitz Palatal Law) के नाम से प्रसिद्ध है।

ग्रिम नियम में हम ने जिस आदिम भाषा का उल्लेख किया है वह

सारे संसार की भाषाओं की आदिम जननी नहीं है बल्कि उस का सम्बन्ध भारतवर्ष, ईरान और योरप में प्रचलित अनेक भाषाओं के साथ है। इस भाषा का पूर्ण विवरण तो आगे दिया जायेगा। यहां इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इस का अधिकतम प्रचलित नाम भारत-योरोपीय या भारोपीय (Indo-European) है। ग्रिम-नियम भी इसी भाषा के साथ सम्बन्धित है और तालव्यीभाव का नियम भी।

जब भारोपीय भाषाओं (विशेषतया ग्रीक, लैटिन, संस्कृत) का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ हुआ था तो विद्वानों की यह धारणा थी कि मूल भारोपीय भाषा के स्वर अधिकांश में संस्कृत मे सुरक्षित है। संस्कृत के अनेक शब्दों मे जहां 'अ' स्वर ध्वनि है वहां ग्रीक और लैटिन मे 'ए' और 'ओ' स्वर ध्वनियां मिलती है। संस्कृत के ही समान ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता मे ग्रीक और लैटिन के 'ए' ओर 'ओ' के स्थान पर 'अ' मिलता है। इस से यह अनुमान लगाया गया कि मूल भारोपीय भाषा मे 'अ' ध्वनि थी जो इसकी एक शाखा भारत-ईरानी (संस्कृत, अवेस्ता) मे सुरक्षित है। ग्रीक और लैटिन में 'अ' के स्थान पर 'ए' और 'ओ' हो जाता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं जैसे—

संस्कृत	**ग्रीक**	**लैटिन**
अस्ति	एस्ति	एस्त
जनः	गेनोस्	गेनुस्

परन्तु जब भारोपीय भाषाओं की व्यञ्जन ध्वनियों का वैज्ञानिक विवेचन किया गया तो उपर्युक्त अनुमान ठीक नहीं दिखाई दिया। इस लिये तालव्यीभाव के नियम को स्वीकार किया गया।

इस समय तक भारोपीय भाषा पर विचार करने वाले सभी विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि भारोपीय भाषा में तीन प्रकार की कवर्ग

ध्वनियां थीं। इन ध्वनियों के उच्चारण के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत मतभेद अवश्य है परन्तु उसकी यदि उपेक्षा कर दी जाये तो इन तीन श्रेणियों को इस प्रकार लिखा जा सकता है—

१. **तालव्य** *क्′ ख्′ ग्′ घ्′ ङ्′

२. **कंठ्य** *क् ख् ग् घ् ङ्

३. **कंठ्योष्ठ्य** *क्व् ख्व् ग्व् घ्व ङ्व्

हमें यह स्मरण रखना है कि भारोपीय भाषा में मूलतः तालव्य व्यञ्जन ध्वनियाँ नहीं थीं। केवल कवर्ग की एक श्रेणी के रूप में ही तालव्य ध्वनियां थीं। इन ध्वनियों का भारोपीय भाषाओं में विकास विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। प्रथम श्रेणी की तालव्य कंठ्य ध्वनियां ग्रीक और लैटिन में कंठ्य ध्वनियों के रूप में विद्यमान हैं परन्तु भारत-ईरानी (संस्कृत और अवेस्ता) आदि में ये ध्वनियां संघर्षी तालव्य ध्वनियों के रूप में परिवर्तित हो गई हैं।

संस्कृत	**अवेस्ता**	**ग्रीक**	**लैटिन**
जन:	जनो (ज़नो)	गेनोस्	गेनुस
दश	दस	देक	देकेम्

इन उदाहरणों से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि ग्रीक और लैटिन की कवर्गीय ध्वनियों का संस्कृत और अवेस्ता में तालव्यीकरण हो जाता है

कंठ्य ध्वनियों की जो दो अन्य श्रेणियां हैं उनके स्थान पर भी संस्कृत में कहीं तालव्य ध्वनियां हैं तो कहीं कवर्गीय ध्वनियां। नीचे तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से कुछ उदाहरण दिये जाते है —

	संस्कृत	**अवेस्ता**	**ग्रीक**	**लैटिन**
१	√स्थग्		स्तेइगो	तेगो
२	क:	को	पो	क्वोस्
३	च	चा	ते	क्वे
४	चिन्	चिन्		क्विद्

यदि हम ध्यान से उपर्युक्त उदाहरणों की ओर देखें तो एक बात स्पष्ट हो जायेगी कि जहां ग्रीक और लैटिन दोनों में कंठ्य ध्वनि है वहां संस्कृत में भी कंठ्य ध्वनि है जैसा कि पहले उदाहरण √स्थग् में है। हमें ध्यान रखना है कि ग्रीक और लैटिन में 'ग्' के बाद 'ओ' स्वर है। दूसरे उदाहरण में संस्कृत और अवेस्ता में 'क्' ध्वनि है, ग्रीक में 'प्' और लैटिन में 'क्व्' है। ग्रीक के अपने नियम के अनुसार कवर्ग ध्वनि का पवर्गीकरण सम्भव है। इसके अनन्तर आने वाला स्वर अवेस्ता, ग्रीक और लैटिन तीनों में 'ओ' है। इन दोनो उदाहरणों में तालव्यीकरण नहीं हुआ परन्तु तीसरे और चौथे उदाहरण मे तालव्यीकरण देखने को मिलता है। इन उदाहरणों में बाद में आने वाला स्वर 'इ' अथवा 'ए' है। इस प्रकार सूक्ष्म निरीक्षण करने के बाद एक नियम बनाया जा सकता है—भारोपीय भाषा की कंठ्य और कंठ्योष्ठ्य ध्वनियां भारत-ईरानी शाखा (संस्कृत और अवेस्ता) मे तालव्य में परिणत हो जाती है यदि उनके बाद का स्वर 'इ' अथवा 'ए' हो। इसी को तालव्यी-भाव का नियम कहते है।

यदि हम केवल संस्कृत के ही व्याकरणिक रूपों की ओर ध्यान दे तो भी तालव्यीकरण दिखाई देता है जैसे √कृ धातु का लिट् लकार का रूप चकार है और गम् धातु का लिट् लकार का रूप 'जगाम' है। दोनों स्थानों पर कवर्ग का चवर्ग अथवा तालव्य ध्वनि में रूपान्तर दिखाई देता है।[1]

इसी तालव्यी-भाव के नियम के बाद से ही इस बात को भी स्वीकार किया गया कि भारोपीय भाषा में मूलस्वर केवल 'अ' ही नहीं था बल्कि 'ए' और 'ओ' भी थे जो भारत-ईरानी शाखा में केवल 'अ' ध्वनि में विलीन हो गये परन्तु ग्रीक, लैटिन आदि में सुरक्षित रहे।

---

1. पाणिनि ने अष्टाध्यायी में इस नियम को बताने के लिए एक सूत्र भी दिया है—कुहोश्चुः ७/४/३२ अर्थात् 'क्' ग्' और 'ह्' के स्थान पर क्रमशः 'च्' 'ज्' और 'ज्' हो जाते हैं।

ऊपर जो ध्वनि-नियम दिये गये गये हैं उन्हें सामान्य या सार्वदेशिक ध्वनि-नियम नहीं कहा जा सकता। इनका सम्बन्ध केवल भारोपीय भाषाओं के साथ है। क्योंकि आगे चल कर भारोपीय भाषा के सम्बन्ध में विचार करना है इसलिये इन दो नियमों का ध्वनि-नियमों के उदाहरणों के रूप में उल्लेख कर दिया गया है। वैसे ध्वनि-नियम और भी हैं जिनका सम्बन्ध अपनी विशिष्ट भाषा या भाषा-समूह के साथ होता है। संक्षेप में किसी भाषा या भाषा-समूह में होने वाले ध्वनि-परिवर्तन की व्याख्या करने वाले नियम को ध्वनि-नियम कहा जाता है। ग्रिम-नियम और तालव्यीभाव का नियम ध्वनि-नियम के उदाहरण हैं।

अध्याय १३

रूप–विज्ञान

हम अपनी विचार-धारा को प्रकट करने के लिये ही भाषा का प्रयोग किया करते है। विचार-धारा को हम नदी की धारा के समान अखण्ड मान सकते हैं परन्तु जिस प्रकार हम अपनी सुविधा के लिये नदी की धारा को भी कुछ भागों में विभाजित कर लिया करते हैं उसी प्रकार विचारधारा के भी कुछ खण्ड हो सकते है। साधारणतया कोई व्यक्ति बोलते समय किसी प्रकार का विभाजन नहीं करता वह तो अपने विचारों को प्रकट करता चला जाता है। पुस्तक पढ़ते समय या किसी की बात सुनते समय हम विचारों को हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करते हैं न कि उसकी भाषा का खण्डों में विभाजन करने का प्रयत्न। यह विभाजन भाषा के विश्लेषण के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है इसी लिये भाषा को कुछ वाक्यों में विभाजित किया जाता है और वाक्यों को कुछ शब्दों में तथा शब्दों को ध्वनियों में। उच्चारण की दृष्टि से सब से छोटी इकाई ध्वनि है। अर्थ की दृष्टि से वाक्य की सब से छोटी इकाई को शब्द कह सकते हैं। यदि हम 'राम' शब्द को लें तो उच्चारण की दृष्टि से इस शब्द में 'र् आ म् अ' ये चार ध्वनिया हैं परन्तु अर्थ की दृष्टि से 'र्' का पृथक् कोई महत्त्व नहीं। इसी प्रकार आ, म्, अ अपने आप में किसी विशेष अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकते। जब ये सारी ध्वनियाँ मिल कर एक शब्द का निर्माण करती है तभी उसका कोई अर्थ होता है इस लिये हम यह कह सकते हैं कि राम एक शब्द है। यह आवश्यक नहीं कि शब्द में एक से अधिक ध्वनियां हों—केवल एक ध्वनि भी शब्द का निर्माण कर सकती हैं बशर्ते किसी भाषा में उसका कोई

अर्थ हो जैसे हिंदी में 'आ' एक ध्वनि है और इसका एक विशेष अर्थ भी है इसलिये इसे हम शब्द कह कहते है।

साधारणतया 'शब्द' और 'पद' इन दोनों शब्दों को अभिन्न माना जाता हैं परन्तु यह बात ठीक नहीं। किसी भी सार्थक ध्वनि अथवा ध्वनि-समूह को शब्द कहा जा सकता है। प्रत्येक भाषा के शब्द कोष में इस प्रकार के शब्दों का संग्रह मिल सकता है। जब कोई सार्थक शब्द वाक्य में प्रयोग होने के योग्य हो जाता है तो उसे पद कहा जाता है। उदाहरण से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जायेगी। संस्कृत में "अस्मद्"=मैं "पुस्तक" "पठ्"=पढना ये शब्द है परन्तु जब हम इन्हें वाक्य मे प्रयुक्त करते हैं तो 'अहं पुस्तकं पठामि' इस प्रकार कहते हैं। इस वाक्य में आये हुए शब्द 'अहं' 'पुस्तकं' और 'पठामि' 'अस्मद्' 'पुस्तक' और 'पठ्' के ही रूपान्तर हैं "अस्मद् पुस्तक पठ्" कह कर वाक्य का प्रयोग नहीं कर सकते। इस लिये 'अस्मद्' 'पुस्तक' और 'पठ्' सार्थक शब्द है पद नही परन्तु "अहं पुस्तकं पठामि" यह वाक्य तीन पदों से बना हुआ है। इसी प्रकार हिंदी मे मैं, पुस्तक, पढ़ना शब्द हैं और "मैं पुस्तक पढ़ता हूं" इनमें प्रयुक्त 'मैं' 'पुस्तक' 'पढ़ता हूं' ये पद है।

शब्दों के साथ जो प्रत्यय आदि जुड़कर उन्हें वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बनाते हैं उन्हीं को रूप कहा जाता है। इन्हीं रूपों के वैज्ञानिक विश्लेषण को रूपविज्ञान (morphology) कहा जाता है। इस के लिये रूपविचार, पदविज्ञान, पद-रचना-विचार आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।

---

1. पाणिनि ने अष्टाध्यायी में पद का यही लक्षण दिया है — "सुप्तिङन्तं पदम्।" १-४-१४। संज्ञा-शब्दों के सुप् प्रत्यय लगते हैं उन्हें सुबन्त कहा जाता है और क्रिया-शब्दों में तिङ् प्रत्यय लगते हैं उन्हें तिङन्त कहा जाता है। दूसरे शब्दों में वाक्य में प्रयुक्त होने योग्य सुबन्त और तिङन्त शब्द (संज्ञा और क्रिया) पद कहलाते हैं।

पद को दो भागों में बांटा जा सकता है—(१) अर्थ-तत्त्व (२) सम्बन्ध-तत्त्व। पद के केवल अर्थ को बताने वाले अंश को अर्थ-तत्त्व कहते है और पद के वाक्य प्रयुक्त सम्बन्ध-बोधक अंश को सम्बन्ध तत्त्व कहते है—जैसे 'राम. चलति' इस वाक्य मे राम और चल् अर्थ तत्त्व है परन्तु 'राम' के साथ प्रयुक्त विसर्ग और चल् के साथ प्रयुक्त '-अति' सम्बन्ध-तत्त्व हैं।

उपर्युक्त उदाहरण सस्कृत भाषा का है। सभी भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व केवल इसी रूप मे ही नही जुड़ते। सभी भाषाओं की रूपधारा अपनी अपनी होती है इसीलिये विशिष्ट भाषाओं के आधार पर ही विशिष्ट रूपों का विवेचन करना चाहिये। नीचे अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व के परस्पर सम्बन्ध को बताने वाले कुछ रूप दिये जाते हैं जिनका अनेक भाषाओं मे प्रयोग होता है।

१. स्वतन्त्र शब्द

सम्बन्ध-तत्त्व अर्थ तत्त्व के साथ जुड़ा हुआ न होकर उससे पृथक् स्वतन्त्र शब्द होता है जैसे अंग्रेजी मे in, to, on आदि। हिंदी मे ने, को, से आदि।

२. प्रत्यय रूप

सम्बन्ध-तत्त्व अर्थतत्त्व के साथ जोड़ दिया जाता है। इसके तीन रूप हो सकते हैं—(१) आदि प्रत्यय रूप (Prefix) (२) मध्यप्रत्यय रूप (Infix) और (३) अन्त प्रत्यय रूप (Suffix) अंग्रेजी मे de-, re-un-, आदि प्रत्यय हैं जैसे deceive, receive, uncover। सस्कृत मे "अपठत्" में 'अ' आदि प्रत्यय है। मध्य प्रत्यय का अच्छा उदाहरण मुंडा भाषाये है जैसे दल' का अर्थ मारना है पर 'दपल' का अर्थ परस्पर मारना है। 'प' मध्य प्रत्यय है। इसी प्रकार 'मंझि' का अर्थ मुखिया है पर 'मपझि' का अर्थ मुखिया लोग है इसमें भी 'प' मध्य प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। अन्त प्रत्यय का प्रयोग अंग्रेजी, हिंदी, संस्कृत आदि अनेक

भाषाओं में होता है। जैसे अंग्रेज़ी में अन्त प्रत्यय -ly, -ness.-tion से likely, commonness, motion आदि शब्द बनते हैं। संस्कृत के स्य (रामस्य) ; स्मिन् (सर्वस्मिन्) आदि भी अन्त प्रत्यय के उदाहरण हैं। हिन्दी में -ना, -ता, -ती -ते आदि अन्त प्रत्यय है जैसे 'कर' से करना, करता, करती, करते आदि।

कुछ भाषायें ऐसी भी हैं जिन में प्रत्ययों का संयोग अपना विशिष्ट रूप लिये हुए है। नीचे कुछ हीब्रू भाषा के क्रिया रूप दिये हुए हैं :—

जकर्तीहू=मैंने उसे याद किया
जकर्तीका=मैंने तुम्हें याद किया
जकर्नूहा=हमने उसे याद किया
जकर्नूका=हमने तुम्हें याद किया
जकारूहु=उन्होंने उसे याद किया
जकारू=उसने उसे याद किया

इन सब क्रिया रूपों में ज् क्-र् केवल मूल अर्थ-तत्त्व हैं। शेष सब उसके साथ जुड़े हुए प्रत्यय ही हैं।

३. आन्तरिक परिवर्तन रूप

अर्थ-तत्त्व में विद्यमान ध्वनि या ध्वनिगुण के परिवर्तन को आन्तरिक परिवर्तन कहते हैं। इसके द्वारा भी कई भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व को प्रकट किया जा सकता है। संस्कृत में अभ्यन्तर शब्द से बना 'आभ्यन्तर' शब्द इसी प्रकार का है। अंग्रेज़ी के Sing Sang Sung इसी प्रकार के रूप हैं।[1]

---

1. कभी कभी यह आन्तरिक परिवर्तन इतना अधिक हो जाता है कि पूरा का पूरा शब्द बदल जाता है अर्थात् एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द आ जाता है जैसे—अंग्रेज़ी go का भूतकालिक रूप went। Good से better भी इसी प्रकार का उदाहरण है।

४. अभावात्मक

अर्थ-तत्त्व में किसी प्रकार का परिवर्तन न होने पर भी सम्बन्ध-तत्त्व का बोध होना अभावात्मक कहलाता है, जैसे हिंदी में "राम घर जाता है' इस वाक्य मे राम और घर में कोई अन्तर नही हुआ फिर भी राम कर्ता सम्बन्ध का और घर कर्म' सम्बन्ध का बोधक है। अंग्रेजी मे Sheep का प्रयोग एकवचन और बहुवचन दोनों में एक समान होता है यह भी अभावात्मक सम्बन्ध तत्त्व का उदाहरण है।

५. शब्दस्थान (क्रम) रूप

वाक्य में शब्द के स्थान से ही सम्बन्ध-तत्त्व का बोध हो जाता है। चीनी भाषा के सम्बन्ध-तत्व का मूल रूप यही है जैसे न्गो ता नि=मैं तुम्हें मारता हूँ। नि ता न्गो=तुम मुझे मारते हो। इन वाक्यों में न्गो (मैं) और नि (तुम) स्थान भेद से ही विभिन्न सम्बन्ध तत्त्वों को प्रकट करते हैं। अंग्रेजी और हिन्दी में भी कहीं कही इसके फुटकल उराहरण मिल जाते है। जैसे John killed a man. A man killed John जॉन और 'ए मैन' में अन्तर स्थान भेद के कारण ही है। यही बात हिन्दी के "मैं कालेज जाता हूँ। कालेज अच्छा स्थान है।" इन दो वाक्यो में प्रयुक्त कालेज शब्द पर ध्यान देने से भी स्पष्ट हो जायेगा।

६. द्वित्व रूप

मूलशब्द के अथवा उसके किसी भाग को दुबारा लाने से यदि सम्बन्ध तत्त्व का बोध हो तो उसे द्वित्व रूप कहते है। ग्रीक, लैटिन और सस्कृत मे द्वित्व के अनेक उदाहरण मिलते है। ग्रीक में एक मूल क्रिया 'लेप्' है जिसका अर्थ है छोड़ना। 'लेपो' का अर्थ है मैं छोड़ता हूं और 'ले-लोइप' का अर्थ है मै छोड चुका हूं। अन्तिम पद में 'ले' इस शब्दांश की आवृत्ति की गई है। सस्कृत मे भी 'चल्' का अर्थ चलना है इससे एक रूप 'चचाल' बनता है इसमे भी 'च' की आवृत्ति की गई है। लैटिन मे 'चन्-ओ' का

अर्थ है – मैं गाता हूँ। 'चे चिन्-ई' का अर्थ है मैंने गाया। यहां भी आवृत्ति है।

यह आवश्यक नहीं कि एक भाषा सम्बन्ध-तत्त्व के एक रूप को अपनाये और दूसरी भाषा किसी अन्य रूप को। वस्तुत: सभी भाषायें किसी एक या अनेक रूपों का प्रयोग कर सकती हैं। यह बात भाषा के अपने आन्तरिक ढांचे और उस भाषा को बोलने वाले लोगों की अपनी विचार-धारा पर ही निर्भर रहा करती है।

हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि रूप-सम्बन्धी विचार व्याकरण का विषय है परन्तु व्याकरण का दृष्टिकोण भाषा-विज्ञान के दृष्टिकोण से नितान्त भिन्न है। व्याकरण शुद्ध-रूपों का निर्देश करता है और अशुद्ध रूपों से बचने का उपदेश देता है। भाषाविज्ञान व्याकरणिक रूपों का ऐतिहासिक विवेचन और वर्णनात्मक विश्लेषण करता है। एक से अधिक भाषाओं की तुलना करते समय रूपों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है।

रूपों का विश्लेषण

प्रत्येक भाषा के रूप उस भाषा को बोलने वालों की विचार-धारा पर निर्भर हैं इसीलिये इसीके अनुसार रूपो का विश्लेषण करना चाहिये। सभी भाषाओं के रूपों में दो सामान्य बातें प्राय: होती हैं—१. संज्ञा २. क्रिया। इसी लिये सभी पदों को संज्ञारूपों और क्रियारूपों में विभाजित किया जा सकता है। इन दोनों के अन्तर्गत अनेक अन्य रूपों जैसे लिंग, वचन, पुरुष, काल, कारक आदि का विवेचन किया जाता है। नीचे संक्षेप में इन रूपों से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है।

लिंग (Gender)

यदि हम सृष्टि के सभी पदार्थों की ओर ध्यान दें तो हम उनका दो वर्गों में विभाजन कर सकते है – १. चर २. अचर। इन को चेतन और

अचेतन भी कहा जा सकता है। चेतन व्यक्तियों के भी दो वर्ग हैं—१. स्त्री २ पुरुष। इस आधार पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि सृष्टि को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—१ स्त्री २. पुरुष ३. अचेतन। लिंग सम्बन्धी वर्गीकरण सृष्टि के इन तीन वर्गों पर आधारित है। अभी तक ज्ञात भाषाओं में केवल तीन लिंग ही देखने को मिले हैं—१. स्त्री लिंग (Feminine) २. पुल्लिग (Masculine) ३. नपुंसकलिंग (Neuter)। इस प्रकार का वर्गीकरण स्वाभाविक भी है और युक्तिसंगत भी।

इसका यह अर्थ नहीं कि सभी भाषाओं में इसी प्रकार लिंग-विभाजन देखने को मिलता है। यदि ऐसा होता तो भाषा का अध्ययन कितना सरल हो जाता। दुर्भाग्य से ऐसी बात नहीं है। संसार में ऐसी भी भाषायें हैं जिन में लिंग-विभाजन है ही नहीं और ऐसी भी भाषायें हैं जिन में तीन लिंग न होकर केवल दो लिंग ही हैं। जिन भाषाओं में तीनों लिंग विद्यमान हैं उनमें भी शब्दों का वर्गीकरण बिल्कुल युक्तिसंगत रूप में नहीं दिखाई देता। उदाहरण के तौर पर हिंदी में दो लिंग हैं—१. स्त्रीलिंग और २. पुल्लिग। नपुंसकलिंग की कोई सत्ता नहीं है। हिन्दी में 'मैं''वह''जो' आदि सर्वनामों का व्यवहार स्त्रीलिंग में भी हो सकता है पुल्लिग में भी। हम यह नहीं कह सकते कि 'मैं' 'वह' 'जो' आदि पुल्लिग है या स्त्रीलिंग। संस्कृत में तीनों लिंग विद्यमान हैं परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि स्त्रीवाची शब्द स्त्रीलिंग ही होंगे, पुरुषवाची शब्द पुल्लिग ही होंगे और चेतनवाची शब्द नपुंसकलिंग ही होंगे। संस्कृत में 'स्त्री' के अर्थ में तीन शब्दों का प्रयोग होता है—१ दारा:, २. स्त्री, ३. कलत्रम्। इन तीनों में लिंग भेद है।[1] दारा: पुल्लिग

---

१. संस्कृत में लिंग की इस अव्यवस्था को स्पष्ट करने वाली एक मनोरञ्जक सूक्ति भी है।

नपुंसकमिति ज्ञात्वा तां प्रति प्रहितं मनः।
तत्तु तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम् ॥ कुवलयानन्द।

है, स्त्री स्त्रीलिंग है और कलत्रम् नपुंसकलिंग है। इस प्रकार के उदाहरण न केवल संस्कृत में मिलते हैं बल्कि अन्य भाषाओं में भी। संस्कृत के समान जर्मन भाषा में भी तीन लिंग है। इस में हैट के लिये शब्द 'देर् हूत' है जो कि पुल्लिंग है, घड़ी के लिये शब्द 'दी ऊर्' है जो कि स्त्रीलिंग है, घड़ी के लिये शब्द 'दास् हाउस्' है जो नपुंसकलिंग है। युक्ति के आधार पर सोचा जाय तो हैट, घड़ी, मकान ये तीनों शब्द अचेतनवाची है इसलिये ये सब नपुंसकलिंग में होने चाहिये थे। 'देर्' 'दी 'दास्' का प्रयोग जर्मन भाषा में क्रमश: पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग केलिये होता है। फ्रेन्च भाषा में केवल दो लिंग हैं—पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। इस भाषा की स्थिति अत्यन्त विचित्र है। एक ही शब्द पुल्लिंग भी हो सकता है और स्त्रीलिंग भी। ल लीव्र का अर्थ पुस्तक है और ला लीव्र का अर्थ पौंड। 'ल' का प्रयोग पुल्लिंग के लिये होता है और ला का प्रयोग स्त्रीलिंग के लिये। इस प्रकार पुस्तक अर्थ में लीव्र पुल्लिंग है और पौंड अर्थ में लीव्र स्त्रीलिंग है। फ्रेन्च में एक और भी विचित्र स्थिति देखने को मिलती है। शब्द के अन्त में आने वाले प्रत्यय के अनुसार भी लिंग विभाजन होता है। जिस शब्द के अन्त में प्रत्यय होगा वह चाहे पुरुषवाची हो चाहे स्त्रीवाची, वह स्त्रीलिंग ही होगा जैसे Prophete or Pape शब्द फ्रेन्च में स्त्रीलिंग हैं यद्यपि स्वाभाविक तौर पर इन शब्दों को पुल्लिंग होना चाहिये था।

फ़ारसी और मुण्डा भाषाओं में पुरुषवाची और स्त्रीवाची शब्दों की दृष्टि से भी कोई लिंग भेद नहीं है। पुरुषवाची और स्त्रीवाची शब्दों को जोड़ कर ही लिंग-भेद किया जाता है। द्राविड़ भाषाओं में भी यही स्थिति देखने को मिलती है। यह भी आवश्यक नहीं कि जिन भाषाओं में लिंग भेद किया जाता है उनमें यह केवल तीन लिंगों तक ही सीमित हो। कई भाषायें ऐसी भी हैं जिनमें लिंग-विभाजन तीन वर्गों से भी अधिक है। बान्टू परिवार की कुछ भाषाओं में संज्ञाओं के लिंग सम्बन्धी वर्ग बीस तक हैं। कुछ भाषायें ऐसी हैं जिन में लिंग विभाजन केवल संज्ञाओं तक सीमित है और कुछ ऐसी भाषायें भी हैं जिन में लिंग के आधार पर क्रियाओं में

भी परिवर्नन होता है । हिदी में क्रियाओं में भी लिग-परिवर्तन होता है । जैसे वह करता है – पुल्लिग । वह करती है – स्त्रीलिग । अग्रेजी में क्रिया सम्बन्धी ऐसा भेद नही दिखाई देना । जैसे He goes. She goes.

सक्षेप मे हम यह कह सकते है कि लिग का एक युक्तिसगत आधार होते हुए भी ससार की भाषाओं मे अत्यधिक अव्यवस्था देखने को मिलती है । इसका क्या कारण है – यह सामान्य रूप में नहीं बताया जा सकता । प्रत्येक भाषा के विकास में अनेक परिस्थितियां प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में कार्य करती रहती हैं । उन सब परिस्थितियों का विश्लेषण कर सकना बहुत कठिन कार्य है । परन्तु इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि रूप या सम्बन्ध तत्त्व का सीधा सम्बन्ध किसी न किसी अर्थ या विचार-धारा के साथ होता है । किसी भाषा के बोलने वालों की जैसी विचारधारा होती है वैसा ही व्याकरणिक रूप उस भाषा में चल निकलता है । उस विचारधारा के लुप्त हो जाने पर वह रूप भी धीरे धीरे लुप्त होने लगता है अथवा किसी अन्य विचार के साथ जुड़ जाता है । रूप-विकास को देखने के लिये विचार-धारा के विकास की ओर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

इस आधार पर यदि किसी विशिष्ट भाषा के विभिन्न रूपों को लेकर उनकी समीक्षा की जाये तो सम्भव है कि कुछ रहस्य स्पष्ट हो सके। उदाहरण के तौर पर संस्कृत के वृक्ष या पादप शब्द को लिया जा सकता है । संस्कृत में ये दोनों शब्द पुल्लिग है यद्यपि इन दोनों को नपुंसकलिंग होना चाहिये था क्योंकि 'पेड़' के अर्थ में उनका प्रयोग होता है और 'पेड़' एक अचेतन पदार्थ है । यदि हम भारतीय लोगों की विचार-धारा का समझने का प्रयत्न करें तो यह सम्भव प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे जब लोगों को वनस्पतियों मे विद्यमान चेतनता का आभास होने लगा तो उन्होंने इसे चेतन मान लिया। वृक्ष (व्रश्च्+क्स) का अर्थ है काटने पर भी पैदा होने वाला और पादप (पाद+प) का अर्थ है पैरों से पीने वाला। चेतन की क्रियाओं का ही पेड़ पर आरोप कर दिया गया है इस लिये उसे

चेतन मान लिया गया होगा। हमारे देश में कई स्थानों पर पेड़ की पूजा भी की जाती है। इसका अर्थ यह है कि हमारे देशवासी पेड़ में देवत्व का आरोप भी करने लगे थे। इसी कारण यदि वे पेड़ को चेतन मान कर उसका प्रयोग पुल्लिंग के रूप में करने लग जायें तो कुछ असम्भव नहीं दिखाई देता।

संस्कृत में 'आत्मा' शब्द पुल्लिग है। आत्मा तो सभी चेतन पदार्थों में विद्यमान है। चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष। सम्भव है प्राचीन काल में अधिकांश में पुरुषों के ही आत्मसाधना में लीन रहने के कारण अथवा आत्मा में शक्ति-सत्ता का आरोप कर देने के कारण उसे पुरुष या पुल्लिग मान लिया गया हो बाद में जब परमेश्वर को परम पुरुष मान कर जीव को प्रतीक रूप में वधू, बाला या प्रियतमा मान लिया गया तो सम्भव है कि 'आत्मा' शब्द का व्यवहार स्त्रीलिंग के रूप में चल निकला हो। हिंदी में 'आत्मा' स्त्रीलिंग है पुल्लिग नहीं।

ऊपर जो उदाहरण दिये गये है उन्हें केवल कल्पना या सम्भावना भी कहा जा सकता है परन्तु इतनी बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि रूप-विकास में विचारधारा का अधिक महत्त्व रहता है। यही बात अन्य रूपों के सम्बन्ध में भी मान्य है।

वचन (Number)

सृष्टि के सभी पदार्थों को गणना की दृष्टि से दो वर्गों में बांटा जा सकता है—एक और अनेक। इस दृष्टि से भाषा-गत शब्दों के भी दो भेद ही होने चाहियें—१. एकवचन (Singular) २ बहुवचन (Plural)। संसार में बहुत सी ऐसी चीजें भी देखने को मिलती हैं जो युगल रूप में दिखाई देती हैं जैसे स्त्री पुरुष दो हाथ, दो पैर आदि: इन द्वित्ववाची शब्दों को प्रकट करने के लिये द्विवचन (Dual) की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। हिन्दी अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में एकवचन और बहुवचन ही है परन्तु संस्कृत आदि अनेक भाषाओं में तीनों वचन विद्यमान हैं। अफ़्रीका का कुछ भाषायें ऐसी भी हैं जिन में त्रिवचन (Trinal) होता है। जिस प्रकार

द्वित्ववाची शब्दों के लिये द्विवचन का प्रयोग चल निकला उसी प्रकार त्रित्ववाची शब्दों के लिये त्रिवचन का प्रयोग चल निकला होगा।

इन वचनों के अतिरिक्त कुछ भाषाओं मे समूहवाची शब्दो का प्रयोग भी किया जाता है। सस्कृत मे द्वितय, त्रितय, आदि ऐसे शब्द हैं। ज्योतिष ग्रन्थो में इसी से मिलते-जुलते कुछ अन्य प्रकार के शब्दो का भी प्रयोग होता है जसे एक के लिये गणेशदन्त, दो के लिये नेत्र, तीन के लिये राम, चार के लिये वेद आदि। ये भी समूहवाची शब्द ही है।

वचन का प्रयोग संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया सभी के साथ हो सकता है।

कारक और विभक्ति (Cases and Declensions)

प्राय: जब कभी कारक शब्द का प्रयोग किया जाता है उसके साथ ही विभक्तियो का स्वरूप भी स्पष्ट किया जाता है। सस्कृत मे आठ विभक्तिया है इसी आधार पर कभी कभी संस्कृत शब्दों के आठ कारक मान लेने की भी भूल कर दी जाती है। वस्तुतः कारक आठ नही बल्कि छ: है। कारक का सीधा सादा अर्थ सज्ञा और क्रिया के सम्बन्ध को व्यक्त करना है। यह सम्बन्ध छ: प्रकार से सस्कृत में व्यक्त किया जाता है—१. कर्ता (Nominative) २. कर्म (Accurrative) ३. करण (Instrumental) ४. संप्रदान (Dative) ५. अपादान (Ablative) ६. अधिकरण (Locative) इन छ: कारकों के अतिरिक्त सम्बन्ध (Possessive) और सम्बोधन (Vocative) का विभक्ति रूप मे प्रयोग होता है।

आजकल विभक्ति और कारक-चिन्ह इन दो शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। सज्ञा शब्द के साथ जुड़ने वाले प्रत्यय को विभक्ति कह देते है और उससे पृथक् प्रयुक्त होने वाले को कारक-चिन्ह कह दिया जाता है।

भाषा में कितनी विभक्तियां होनी चाहियें और कितने कारक इस सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम नहीं है। संस्कृत में छ. कारक और आठ विभक्तियां हैं तो काकेशी भाषा में २३ विभक्तियों का उल्लेख मिलता है। यह भी आवश्यक नहीं कि सभी भाषायें विभक्तियों का प्रयोग करें। उदाहरण के तौर पर चीनी एक ऐसी भाषा है जिस में (कम से कम आज कल सम्भवतः आदिम काल में वह विभक्ति प्रधान रही हो तो कुछ कहा नहीं जा सकता) विभक्तियाँ नहीं हैं। किसी भी विभक्ति के न लगने को प्रायः शून्य विभक्ति कह दिया जाता है।

किसी भाषा में विभक्ति और कारक-चिन्ह दोनों का प्रयोग होता है और किसी में केवल एक का। संस्कृत में विभक्ति और कारक-चिन्ह दोनों थे परन्तु धीरे धीरे विभक्तियां लुप्त हो गईं और हिंदी में अब केवल कारक हैं विभक्तियां नहीं।

विभक्तियों और कारकों का प्रयोग केवल संज्ञा शब्दों अथवा उन्हीं से सम्बन्धित सर्वनाम और विशेषण के साथ ही होता है, क्रिया के साथ नहीं। इन का प्रयोग प्रायः संज्ञा शब्दों का क्रिया के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित करने के लिये किया जाता है।

क्रिया (Verb)

क्रिया का सम्बन्ध लिंग और वचन के साथ है जिन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त पुरुष (Person) काल (Tense) वाच्य (Voice) आदि अन्य रूपों की दृष्टि से भी क्रिया के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

पुरुष (Person)

संसार में रहते हुए मनुष्य का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध अपने आप से होता है। दूसरे स्थान पर वह व्यक्ति होता है जो उसके सामने हो और तीसरे स्थान पर शेष अन्य व्यक्ति आ जाते हैं। इसी आधार पर ही पुरुष

तीन माने गये हैं – १. उत्तमपुरुष (First Person), २. मध्यम-पुरुष (Second Person), ३ अन्य या प्रथमपुरुष (Third Person)। पुरुषवाचक सर्वनाम जैसे मैं, हम, तू, 'तुम, वह, वे सब आदि होते हैं और इन का प्रभाव क्रिया पर भी पड़ता है। सस्कृत में तीन वचनों और तीन पुरुषों की दृष्टि से सभी क्रियाओं के नौ नौ रूप होते है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सारे संसार की भाषाओं में यही स्थिति रहे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुरुष का सामान्य ढांचा सभी भाषाओं में एक समान ही होगा परन्तु क्रिया पर उसका कोई प्रभाव पड़ना है या नहीं इस दृष्टि से भाषाओं में विभिन्नता है। चीनी भाषा में क्रियाओं पर किसी भी प्रकार का पुरुषगत प्रभाव नहीं पड़ता ।

काल (Tense)

आजकल यदि काल के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो फौरन तीन कालों की ओर ध्यान चला जाता है – १. वर्तमान (Present) २ भूत या अतीत (Past) ३. भविष्य (Future)। काल का यह वर्गीकरण इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्थूल दृष्टि से इसमें किसी प्रकार की विभिन्नता या असम्भाव्यता नहीं दिखाई देती परन्तु यदि सूक्ष्म चिन्तन करते हुए काल पर विचार किया जाय तो काल एक और अविच्छेद्य प्रतीत होगा। काल का तीन भागों में विभाजन हम अपनी सुविधा की दृष्टि से करते हैं वैसे काल एक ही है। युक्ति के आधार पर सोचना शुरू करें तो कम से कम वर्तमान की सत्ता तो किसी भी दशा में स्वीकार नहीं की जा सकती। वर्तमान काल कौन सा है ? इस का उत्तर देने की क्षमता किसी में भी नहीं। मै जो काम करता हूं और जिसे वर्तमान की संज्ञा दी जाती है वह या तो भूतकाल के अन्तगत रखा जा सकता है या भविष्य के अन्तर्गत। मैं खाना खाता हूं। खाना या तो खाया जा चुका है अथवा खाना खाया जायेगा। जब तक रोटी का टुकड़ा हमारे हाथ में है हम कह सकते हैं कि अभी खाने की क्रिया सम्पन्न नहीं हुई अथवा अभी खाना

खाया जाता है। जैसे ही हम उसे खा लेते हैं वह भूतकाल या सम्पन्न-क्रिया में परिवर्तित हो जाता है।

यद्यपि तीन कालों के आधार पर अधिकांश भाषाओं की क्रियाओं को समझने का प्रयत्न किया जाता है तथापि सभी भाषाओं में केवल ऐसा ही वर्गीकरण दिखाई नहीं देता। संस्कृत में केवल भूत काल के ही तीन रूप देखने को मिलते हैं—१. अनद्यतन २. परोक्ष ३. सामान्य। अरबी-हीब्रू आदि भाषाओं में काल की ओर ध्यान नहीं दिया जाता बल्कि क्रिया की सम्पन्नता और असम्पन्नता पर ज़ोर दिया जाता है। अंग्रेज़ी जानने वाले इस तथ्य से परिचित हैं कि यद्यपि अंग्रेज़ी में तीन काल हैं तथापि इन तीन कालों का ढाँचा बहुत उलझा हुआ है।

वाच्य (Voice)

यदि हम हिन्दी के निम्नलिखित तीन वाक्यों की ओर ध्यान दें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इनमें अलग अलग रूप पर ज़ोर पड़ता दिखाई देता है—

१. अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ाता है।
२. विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है।
३. अध्यापक से पढ़ाया नहीं जाता।

पहले वाक्य में 'अध्यापक' अर्थात् कर्ता पर ज़ोर है, दूसरे वाक्य में 'विद्यार्थियों को' अर्थात् कर्म पर ज़ोर है और तीसरे वाक्य में 'पढ़ाया नहीं जाता' अर्थात् क्रिया पर ज़ोर है। इसी आधार पर तीन वाच्य माने जाते हैं—१. कर्तृ वाच्य (Active) २. कर्म वाच्य (Passive) ३ भाव-वाच्य (Impersonal)। भिन्न भिन्न भाषाओं में वाच्य से सम्बन्धित रूप भी भिन्न भिन्न ही हैं।

अन्य रूप

इन रूपों के अतिरिक्त क्रिया के अन्य अनेक रूप भी हुआ करते हैं

जो विशिष्ट भाषाओं में भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। इनमें प्रेरणार्थक (Causal), इच्छार्थक, आवृत्ति आदि का विशेष नाम लिया जा सकता है। संस्कृत में परस्मैपद और आत्मनेपद की दृष्टि से भी धातुओं के दो वर्ग किये जाते है। आशीर्वाद, विधि, आज्ञा आदि की अनेक वृत्तियाँ होती हैं जिनका क्रियाओं के ढांचे पर प्रभाव पड़ता रहता है।

किसी भी भाषा के रूपों पर विचार करते समय अपनी निश्चित धारणाओं के आधार पर वर्गीकरण करना ठीक नहीं। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि सभी भाषाओं में रूप सम्बन्धी पर्याप्त विभिन्नता है इसीलिए केवल विशिष्ट भाषा की रूप रचना के आधार पर ही रूपों का वर्गीकरण करना अधिक उपयुक्त है। रूपरचना पर मनुष्य की विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ता है। सभी भाषा-भाषियों की विचारधारा एक सी है ऐसा नहीं कहा जा सकता इसीलिये रूप-विभिन्नता आना अत्यन्त स्वाभाविक है।

रूप परिवर्तन का कारण

जिस प्रकार भाषा परिवर्तन का मूल कारण प्रयत्नलाघव है उसी प्रकार रूप परिवर्तन का मूल कारण भी प्रयत्नलाघव ही है क्योंकि रूप रचना भाषा का ही तो एक अङ्ग है। रूप परिवर्तन के अन्य अनेक कारण भी हो सकते हैं जिनमें सादृश्य का सबसे अधिक महत्त्व माना जा सकता है।

रूप-परिवर्तन की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं—१. एकरूपता (Uniformity) और २. अनेकरूपता (Diversity)। इन दोनों को रूप-परिवर्तन का कारण भी कहा जा सकता है। एकरूपता का अर्थ रूपों में एकता लाना है। इसके मूल में सादृश्य की प्रवृत्ति काम करती है। किसी भी भाषा के विकास में यह बात स्पष्टतया देखी जा सकती है। उदाहरण के तौर पर संस्कृत में अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त,

ईकारान्त, आदि अनेक प्रकार के शब्द हैं जिन के रूपों में एक दूसरे से पर्याप्त विभिन्नता है परन्तु प्राकृत काल में इन रूपो में बहुत कुछ समानता आने लगी। जैसे संस्कृत में राम (अकारान्त) का षष्ठी एकवचन का रूप 'रामस्य' है। प्राकृत में यह रूप रामस्स हो गया। दूसरी ओर 'अग्नि' (इकारान्त) 'वायु' (उकारान्त) के रूप भिन्न है जैसे क्रमशः अग्नेः और वायोः। परन्तु प्राकृत में रामस्स के आधार पर ही इसके रूप भी अग्गिस्स और वाउस्स हो गये। एकरूपता के कारण भाषा जटिलता से सरलता की ओर जाती है।

एकरूपता से विभिन्न अर्थ को बताने वाला अनेकरूपता शब्द है। कभी कभी एकरूपता भी दिमाग के लिए बोझा बन जाती है तभी अनेक-रूपता की आवश्यकता प्रतीत होती है। वह कर नही सकता और वह कर नहीं पाता। इस प्रकार के प्रयोगों के सादृश्य पर हम यह तो कह सकते हैं कि वह पा नही सकता परन्तु यह नहीं कह सकते कि वह पा नहीं पाता। इसी प्रकार मर से मरा तो कह सकते हैं परन्तु कर से करा नहीं। सादृश्य के कारण बहुत सी विभिन्नतायें मिट जाती हैं। इस प्रकार मिट जाने वाले रूपों को निर्बल कहा जाता है परन्तु अनेक ऐसे रूप होते हैं जो मिट नहीं पाते वही अनेकरूपता को स्थिर रखते हैं और उन्हें सबल कहा जाता है। कई बार एकरूपता इतनी आगे बढ़ जाती है कि अनेकरूपता लाना आवश्यक हो जाता है नहीं तो भाषा में विद्यमान सूक्ष्मताओं को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। संस्कृत के विभक्ति रूपों के लुप्त हो जाने के कारण हिन्दी में बहुत कुछ एक रूपता आ गई परन्तु विभिन्न कारकों की सूक्ष्मताओं को स्पष्ट करने के लिये कारक चिन्हों की अनेकरूपता लाना अनिवार्य सा हो गया। इस प्रकार एकरूपता और अनेकरूपता एक दूसरे के पूरक है विरोधी नही।

अध्याय १८

वाक्य-विज्ञान

ध्वनियो से शब्द और पद बनते है पदो से वाक्य बनते है। पदों से बने वाक्य का वैज्ञानिक विश्लेषण करना वाक्य-विज्ञान Syntax है। हमे यहां इस बात को विशेपतया ध्यान मे रखना है कि रूप-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान की सीमारेखाये अत्य त धूमिल है परन्तु दोनो मे अन्तर है। रूपविज्ञान मे केवल इकाई रूप में आये पदो पर विचार किया जाता है और वाक्य-विज्ञान मे उनके सामूहिक रूप की दृष्टि से विवेचन किया जाता है।

यद्यपि हम ध्वनियों और पदो के द्वारा ही वाक्य-निर्माण करते है तथापि भाषा के उच्चरित स्वरूप मे अधिकाँश मे वाक्यो का ही महत्त्व होता है। साधारणतया वक्ता ध्वनियों और पदो का विश्लेषण नही कर सकता परन्तु यदि उसे अपने वाक्यो को अलग अलग करने के लिये कहा जाय तो इसमे उसे विशेष कठिनाई नही होगी। वस्तुत भाषा मे इन्ही वाक्यों को महत्त्व है। घर, राम, अपना, भोजन, खाना आदि शब्दों का कोई अर्थ नही परन्तु यदि इन्हे वाक्य रूप मे प्रयुक्त किया जाय तो इनका अर्थ स्पष्ट हो जायेगा—राम अपने घर में भोजन खाता है। सुविधा की दृष्टि से हम शब्दों को अलग अलग कर के उनके अर्थ जानने का प्रयत्न करते है परन्तु उनके अर्थ का ठीक स्पष्टीकरण उनके वाक्य मे प्रयुक्त होने के बाद ही होता है। विशिष्ट वाक्यों मे उन शब्दो या पदों के विशिष्ट अर्थ होते है इसा आधार पर ही वह अर्थ उनके साथ जोड़ दिया जाता है।

जैस्पर्सन ने बच्चों की भाषा का विश्लेषण करते हुए बच्चे के

प्रारम्भिक शब्दों को पूरे वाक्य का अर्थ प्रकट करने वाला बताया है।[1] यह है भी ठीक। बच्चा जब 'पा' या 'पानी' कहता है तो उसका अभिप्राय यही होता है "मुझे प्यास लगी है मुझे पानी दीजिये।" कुछ लोग बच्चे के इन शब्दों को पूरा वाक्य मानते हैं परन्तु जैस्पर्सन का यह विचार है कि उन्हें वाक्य नहीं कहा जा सकता। उनका विचार है कि वाक्य में व्याकरणिक रूप-रचना का अस्तित्व आवश्यक है जिस का अस्तित्व बच्चे के शब्दों में देखने को नहीं मिलता।[2]

चाहे कुछ भी हो इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि वाक्य के लिये शब्दों या पदों की संख्या का कोई प्रश्न नहीं उठता। एक वाक्य एक शब्द का बना हुआ भी हो सकता है और अनेक शब्दों का भी, परन्तु अर्थ की दृष्टि से वास्तविक महत्त्व वाक्य का है। शब्द या पद वाक्य-रचना में अपना अपना विशिष्ट स्थान ग्रहण कर उस अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वाक्य व्याकरणिक दृष्टि से व्यवस्थित वह शब्द या शब्द समूह है, जो पूरा अर्थ स्पष्ट कर सके।

किसी भी भाषा के वाक्यों का विश्लेषण करते समय हमें उस भाषा की विशिष्ट वाक्य-रचना या व्याकरणिक धारा की ओर ध्यान देने की

---

1. Language Its Nature Development and Origin P. 133.

2. "When we say that such a word means what we should express by a whole sentence, this does not amount to saying that the child's up" is a sentence or a sentence word, as many of those who have written about these questions have said. We might just as well assert that clapping our hands is sentence because it expresses the same idea for the same frame of mind that is otherwise expressed by the whole sentence, "This is splendid". The word 'sentence' presupposes a certain grammatical structure, which is wanting in the child's utterance. Language : Its Nature Development and Origin P. 134.

आवश्यकता है। किसी एक भाषा की वाक्य रचना देखकर उस का दूसरी भाषा पर वैसा आरोप नहीं किया जा सकता। यहां तक कि हिन्दी की वाक्य रचना संस्कृत की वाक्य-रचना से भिन्न है। हिन्दी में "राम पुस्तक पढ़ता है।" केवल इसी क्रम को अपनाया जा सकता है परन्तु संस्कृत में 'रामः पुस्तक पठति' केवल यही क्रम नहीं है। हिंदी में कर्ता-कर्म क्रिया का क्रम है परन्तु संस्कृत में ऐसी क्रम-व्यवस्था नहीं है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं में भी विभिन्नता है। अंग्रेजी में कर्ता-कार्य का क्रम माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में वाक्य को दो भागों में बांटा जा सकता है। १ उद्देश्य (Subject) २ विधेय (Predicate)। प्रायः वाक्य विभाग करते समय अंग्रेज़ी के व्याकरण-ग्रन्थों में इनका ही उल्लेख किया जाता है। कर्ता को ही उद्देश्य माना जा सकता है और क्रिया को विधेय कहा जा सकता है। इस प्रकार की स्थिति सभी भाषाओं में नहीं हो सकती उदाहरण के तौर पर चीनी भाषा में उद्देश्य और विधेय जैसा विभाजन करना ठीक नहीं होगा।

वाक्यों के भेद

किसी भी भाषा की वाक्य-रचना के विस्तृत विवरण में पड़ते समय कई कठिनाइयों और जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। एक भाषा के वाक्य दूसरी भाषा के वाक्यों से भिन्न होते हैं। प्रत्येक भाषा की वाक्य-रचना की अपनी विशेषता होती है इस प्रकार वाक्यों के भी अनेक भेद हो सकते है। मुख्य रूप में चार प्रकार के वाक्य मिलते हैं। (१) समास-प्रधान (Incorporating) (२) व्यासप्रधान (Isolating) (३) प्रत्यय प्रधान (Agglutinating) ४) विभक्ति प्रधान (Inflecting)। समास प्रधान वाक्यों में शब्द एक दूसरे के साथ इतने अधिक जुड़ जाते हैं कि उनकी पृथक् सत्ता का आभास भी नहीं हो पाता। उत्तरी-अमेरिका की चेरोकी भाषा के वाक्य ऐसे ही होते हैं—जैसे—नाधोलिनिन (हमारे लिये एक नाव लाओ।) व्यास-प्रधान वाक्य समास-प्रधान

वाक्यों से बिल्कुल भिन्न हैं। इनमें शब्दों की सत्ता स्वतन्त्र सी होती है और उनका स्वरूप निश्चित सा होता है। चीनी भाषा के वाक्य व्यास-प्रधान वाक्यों का एक अच्छा उदाहरण हैं। ङगो ता नी (मैं तुम्हें मारता हूँ) या-नी ता ङगो (तुम मुझे मारते हो)। प्रत्यय-प्रधान वाक्यों में प्रत्यय जोड़े जाते हैं। इनका एक उदाहरण तुर्की भाषा के वाक्य हैं। विभक्ति-प्रधान वाक्यों की रचना भी प्रत्यय लगा कर की जाती है परन्तु विभक्ति शब्द में इतनी अधिक विलीन हो जाती है कि दोनों को अलग करना कठिन हो जाता है। संस्कृत के वाक्य इसी प्रकार के हैं। सैमेटिक, हैमेटिक और भारोपीय परिवार की अनेक भाषाओं के वाक्य इस प्रकार के हैं।

ऊपर वाक्यविज्ञान का संक्षिप्त निर्देश किया गया है। यह कहना असङ्गत न होगा कि वाक्यविज्ञान पर अभी तक कोई बहुत बड़ा कार्य नहीं किया गया। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में भी जितना व्यवस्थित रूप ध्वनि-विज्ञान और रूपविज्ञान को मिला है उतना वाक्यविज्ञान को नहीं। अभी वाक्य-विज्ञान के अन्तर्गत सामान्य सिद्धान्तों की दृष्टि से बहुत गम्भीर विवेचन और विश्लेषण की आवश्यकता है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि विशिष्ट भाषाओं की भी वाक्य-रचना पर कोई वैज्ञानिक गवेषणा नहीं की गई। यद्यपि हिन्दी की ध्वनियों और रूपों पर विचार किया गया है तथापि उसकी वाक्य-रचना की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इसी कारण वाक्य-विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों के निर्माण की दृष्टि से अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

अध्याय १५

अर्थ–विज्ञान

गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—"गिरा अर्थ जलवीचि समाना"। जिस प्रकार जल और तरग का अभेद सम्बन्ध है उसी प्रकार वाणी और अर्थ भी एक दूसरे के साथ अभिन्न रूप मे सम्बन्धित है[1]। भापा के दो आधारो का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। भौतिक आधार के अन्तर्गत ध्वनि, रूप और वाक्य का नाम लिया जाता है तो आन्तरिक आधार के अन्तर्गत अर्थ का। ध्वनि, रूप और वाक्य का भापा मे महत्त्व केवल अर्थ के कारण ही है। निरर्थक ध्वनि, रूप और वाक्य भाषा मे कोई स्थान नही रखते। इसलिये अर्थ का विश्लेपण करना भाषा-विज्ञान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। अर्थ के वैज्ञानिक विश्लेषण या विवेचन को अर्थविज्ञान (Semantics या Semasiology) कहा जाता है।

शब्द और अर्थ का अभेद सम्बन्ध है परन्तु इस अभेद सम्बन्ध के कारण कई समस्याये उठ खड़ी होती है। क्या हम अभेद सम्बन्ध के साथ

---

1 रघुवंश के प्रारम्भ में कालिदास ने अर्द्धनारीश्वर (पार्वती और शिव) के अभेद सम्बन्ध को बताने के लिए वाणी और अर्थ की उपमा दी है—

वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस की प्रारम्भिक मङ्गल-वन्दना में भी इसी भाव को स्पष्ट किया है—

वर्णानामर्थसघानां रसानां छन्दसामपि।
मगलाना च कर्तारौ वन्दे वाणी-विनायकौ॥

साथ यह भी कह सकते हैं कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होता है ? वस्तुत: यह एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है और इस प्रश्न पर दार्शनिक दृष्टि से बहुत कुछ विचार किया भी गया है। यदि हम जटिलताओं को छोड़कर थोड़ा सामान्य दृष्टि से विचार करें तो हम शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बताने वाली कुछ बातों को आसानी से हृदयंगम कर सकते हैं। भाषागत प्रत्येक शब्द का कोई न कोई अर्थ होगा। जैसे हिन्दी में 'घोड़ा' शब्द। इस शब्द का इतना ही महत्त्व है कि यह शब्द चार पैर वाले, तीव्र गति वाले, किसी विशेष जानवर के अर्थ को स्पष्ट करता है। यदि नौकर से घोड़ा लाने के लिये कहा जाय तो वह उसी जानवर को ही ले आयेगा किसी और चीज़ को नहीं। घोड़े का पशु विशेष अर्थ हमेशा ऐसा ही रहेगा। ऐसा तो नहीं हो सकता कि हम सवेरे किसी को कहें - घोड़ा लाओ तो वह कोई और चीज़ ला दे और शाम को कहें तो कोई और चीज। इसी प्रकार एक दिन इसका वह कोई एक मतलब समझे और दूसरे दिन इस का कुछ और अर्थ ही निकाले। इसलिये यह कहना पड़ता है कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होता है। घोड़ा घोड़े के अर्थ में ही आयेगा और किसी अर्थ में नहीं।

जहां तक ऊपर के उदाहरण में शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध माना गया है केवल उसी सीमा तक इनका नित्य सम्बन्ध मानना ठीक है इससे अधिक नहीं। नित्य सम्बन्ध का यह अभिप्राय बिल्कुल नहीं कि एक शब्द हमेशा से एक अर्थ बताता रहा है और वह हमेशा उसी अर्थ को बताता रहेगा। वास्तविक बात तो यह है कि शब्द और अर्थ का ऐसा सार्वकालिक सम्बन्ध न कभी रहा है और न रहेगा। 'घोड़ा' नामक जानवर देखने से पूर्व भाषा में इस शब्द की आवश्यकता नहीं रही होगी। आज भी सृष्टि के ऐसे अनेक पदार्थ होंगे जिन से हमारा सम्बन्ध न होने के कारण हमारी भाषा में वे शब्द नहीं हैं। जब किसी पदार्थ को देख लिया जाता है तो उसके लिये एक शब्द बनाया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं कि उस शब्द का और उससे प्रकट किये जाने वाले अर्थ

का कोई ऐसा सम्बन्ध हो जिसके कारण उन दोनों को एक दूसरे से निकाला न जा सके। किसी पदार्थ विशेष को कोई नाम विशेष दे दिया जाता है। जिस प्रकार भाषा के सभी अङ्गों में परिवर्तन होता है उसी प्रकार अर्थ में भी परिवर्तन होता है। इसलिए उस शब्द के उसी अर्थ के उससे पृथक् हो जाने की भी सम्भावना बना रहती है। किसी भी भाषा से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। (अर्थ परिवर्तन की दिशाओं के अन्तर्गत आगे कुछ उदाहरण दिए हुए हैं)। इस प्रकार शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध का अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं कि शब्द और अर्थ का हमेशा से एक प्रकार का सम्बन्ध है और हमेशा वही सम्बन्ध चलता रहेगा। नित्य सम्बन्ध से हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि शब्द का कोई न कोई अर्थ अवश्य होगा। निरर्थक शब्द को हम भाषा-गत शब्द मान ही नहीं सकते।

शब्दों को अर्थ बताने वाले प्रतीक या चिह्न कहा जा सकता है। अपने अमूर्त विचारों को प्रकट करने के लिये हमें शब्दों का सहारा लेना पड़ता है। मुख्य बात तो हमारे विचार है उनके लिये किसी भी शब्द का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। एक ही भाव या विचार को प्रकट करने के लिये विभिन्न भाषायें विभिन्न प्रतीकों अर्थात शब्दों का प्रयोग करती हैं। जब तक वह शब्द अपने इस अर्थ को स्पष्ट करता रहता है तब तक ठीक है जब उसमें ऐसा करने की शक्ति न रहे तो हम कह सकते हैं कि अब वह शब्द उस विशेष अर्थ को प्रकट करने के अयोग्य है। यदि हम हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति को कहें—घोड़ा लाओ तो वह हमारे मुंह की ओर देखता रहेगा। यदि इसी बात को उसकी भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों से कहा जाय तो वह इसका कुछ उत्तर देगा या घोड़ा ले आयेगा। यदि हम एक क्षण के लिए यह कल्पना कर ले कि हिन्दी में घोड़ा शब्द गधे के लिए प्रयुक्त होगा तो घोड़ा उसी अर्थ में ही ग्रहण किया जायेगा जिस अर्थ में उस भाषा के बोलने वालों में रूढ़ है।

हमें एक और बात की ओर भी विशेष ध्यान रखना है। शब्दों की

अपेक्षा अर्थ अधिक व्यापक हैं। यह समझना सरासर भूल होगी कि जितने अर्थ है उतने ही शब्द विद्यमान हैं। मानव की विचारधारा अत्यन्त सूक्ष्म है परन्तु उस सूक्ष्म विचारधारा को प्रकट करने की शक्ति या साधन अत्यन्त स्थूल हैं। प्राय: यह कहते हुए सुना जाता है कि मेरे पास शब्द नहीं हैं; मैं किन शब्दों में अपने भावों को प्रकट करूं इत्यादि। गहन आत्मानुभूति के क्षणों में तो यह कार्य और भी जटिल हो जाता है। यही कारण है कि एक ही विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे जाते हैं फिर भी विषय का पूरी तरह से स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। मनुष्य अपने अन्त:करण में उठने वाले भावों और विचारों को कितना ही क्यों न सूक्ष्मता से व्यक्त करने का प्रयत्न करे कहीं न कहीं शब्द उसे धोखा दे ही जायेंगे। भाषण या वार्तालाप करते समय हमें कई बार ऐसा अनुभव होता है कि हमारे शब्द हमारे अभीप्सित अर्थ को स्पष्ट नहीं कर पारहे। किसी भावविशेष या विचार-विशेष पर जोर डालने के लिये हम कई बार अनेक प्रकार के इंगितों का भी प्रयोग करते हैं। वक्ता बोलते समय हाथ, पैर, मुँह भी हिलाता रहता है और कई बार पास पड़ी हुई मेज पर हाथ पटक कर किसी ज़ोरदार बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी करता है। ये सब इसी बात को ही प्रमाणित करते हैं कि जितने अर्थ हैं उतने शब्द नहीं हैं।

किसी भाषा के अनेक शब्दों को रटते रटते कई लोग ये भूल कर बैठते हैं कि एक ही अर्थ के लिये एक से अधिक शब्द क्यों हैं? वस्तुत: बात ऐसी नहीं है। प्रत्येक शब्द में अर्थ की कुछ न कुछ सूक्ष्मता विद्यमान रहती है। क्या कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि 'घर' और मकान' एक ही अर्थ को बताते हैं या अंग्रेजी के 'होम्' और 'हाउस' शब्द पर्यायवाची हैं? यहां तक कि पर्यायवाची रूप में मान्य शब्दों के बारे में भी ऐसी बात नहीं कही जासकती। प्रत्येक शब्द में अर्थ की एक विशिष्ट सूक्ष्मता होती है। वह स्थूल दृष्टि से भले ही न दिखाई दे परन्तु उसके अस्तित्व का निराकरण नहीं किया जासकता।

दूसरी ओर अनेक ऐसे शब्द हैं जो अनेकार्थक हैं। एक ही शब्द

विभिन्न प्रकरणों में विभिन्न अर्थ प्रकट किया करता है। कोई भी व्यक्ति किसी भाषा के शब्द-कोष को उठा कर इस की सत्यता का अनुमान लगा सकता है परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना है कि केवल शब्दकोष के अर्थ ही किसी शब्द के अर्थ नहीं होते। कई शब्दों के अर्थ काकु, वक्रोक्ति, लक्षणा, व्यञ्जना आदि के द्वारा बदले भी जा सकते है। उदाहरण के तौर पर यदि कोई यह कहे कि "आपने मेरा बड़ा उपकार किया है मै आपका कृतज्ञ हूँ।" इसका सीधा सादा अर्थ स्पष्ट है। इस वाक्य के द्वारा कोई उपकृत व्यक्ति अपने उपकार करने वाले का धन्यवाद प्रकट कर रहा है। परन्तु इसी वाक्य का इससे सर्वथा विपरीत अर्थ में भी प्रयोग किया जा सकता है। किसी ने यदि किसी को बहुत नुकसान पहुंचाया हो तो भी अपने क्रोध को प्रकट करने के लिये यही शब्द कहे जा सकते है परन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर होगा। इसी प्रकार "वह इंगलैण्ड जाने वाला है" यह वाक्य विदेश जाने के सीधे सादे अर्थ को भी प्रकट करता है और कितने ही अन्य अर्थों को भी। सम्भव है कि कोई विद्यार्थी गम्भीर अध्ययन कर रहा हो और किसी छात्रवृत्ति पर इगलैण्ड जारहा हो तो इस वाक्य के साथ यह अर्थ भी जुड़ जाएगा कि वह आज-कल बहुत पढाई कर रहा है क्योंकि उसे इंगलैण्ड जाना है। सम्भव है कि कोई विद्यार्थी परिश्रम तो कुछ भी न करता हो लेकिन हमेशा इंगलैण्ड जाने की बात करता रहता हो। किसी दिन यदि वह सिनेमा देखने चला जाय तो भी व्यंग्य के तौर पर इसी वाक्य का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार के कितने ही उदाहरण सभी भाषाओं से दिये जा सकते हैं। जिन शब्दों का प्रयोग मुहावरों के तौर पर होने लगता है उनके अर्थ में तो कई प्रकार की विभिन्नतायें देखने को मिल जाती है। जैसे आंख का सीधा-सादा अर्थ तो केवल शरीर का अङ्ग विशेष है परन्तु - आंख लगना, आंखें चार होना, आँख आना, आंख का तारा आदि मुहावरों मे इस 'आंख' शब्द के अर्थ कुछ और ही होजाते हैं। इस प्रकार यह बात निश्चित ही है कि शब्दों की अपेक्षा अर्थ अधिक है। किसी भाषा की शब्दावली

कितनी ही अपरिमित क्यों न हो वह अर्थावली को मात नहीं कर सकती ।

उपर्युक्त विवरण से बहुत कुछ यह बात भी स्पष्ट हो गई होगी कि अर्थ की दृष्टि से भाषा में बहुत अधिक अव्यवस्था देखने को मिलती है। कितना अच्छा होता कि एक शब्द का एक ही अर्थ होता और उसकी सीमायें इतनी स्पष्ट होतीं कि दूसरे शब्द के अर्थ के साथ किसी प्रकार की गड़बड़ी न हो पाती परन्तु दुर्भाग्य से किसी भी भाषा में ऐसी बात देखने को नहीं मिलती। इसी कारण कई विद्वानों का यह भी विचार है कि अर्थ की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जासकती इसलिये भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में 'अर्थविज्ञान' का प्रवेश निषिद्ध माना जाना चाहिये ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'अर्थविज्ञान' शुद्ध रूप में वैज्ञानिक अध्ययन नहीं है परन्तु भाषा का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग होने के कारण उसका विवेचन भी उतना आवश्यक है जितना भाषा के अन्य अङ्गों का। मानसिक विचारधारा के क्षेत्र में मनोविज्ञान को वैज्ञानिकता के स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जारहा है सम्भव है कि धीरे धीरे गहन अध्ययन के बाद 'अर्थविज्ञान' को भी वैज्ञानिकता के स्तर पर लाया जा सके इसलिये इस विषय को भाषाविज्ञान के क्षेत्र से बाहर निकाल देना ठीक नहीं।

अध्याय १६

अर्थ-परिवर्तन

जिस प्रकार भाषा के बाह्य आधार ध्वनि, रूप आदि में परिवर्तन होता है उसी प्रकार उसके आन्तरिक आधार अर्थ में भी परिवर्तन होता है। अर्थ विज्ञान के प्रकांड पण्डित ब्रील ने अर्थ परिवर्तन की तीन दिशाये बताई है—१ अर्थ विस्तार (Expansion of meaning या widening) २. अर्थ सकोच (Contraction of meaning या narrowing) ३. अर्थादेश (Transference of meaning)

१. अर्थ-विस्तार

यदि किसी शब्द का अर्थ अपने संकुचित क्षेत्र से बढकर कुछ अधिक विस्तृत हो जाय तो उसे अर्थ-विस्तार कहते हैं। भाषाओं में इस प्रकार के अनेक शब्द मिलते है जिन में अर्थ-परिवर्तन अर्थ-विस्तार की दृष्टि से हुआ हो। संस्कृत **तैल** शब्द तिल से बना हुआ है इसलिये इस शब्द का प्रयोग केवल तिल के तेल के लिये होता था परन्तु अब तेल<तैल शब्द का व्यवहार सभी तेलों के लिये होता है। चाहे वह सरसों का तेल हो और चाहे वह मिट्टी का। 'तेल निकाल लेना' इस मुहावरे में तो इसका अर्थ और भी अधिक विस्तृत हो गया है। संस्कृत **गोष्ठ** शब्द गाय के साथ सम्बन्धित है। गाय बांधने के स्थान को गोष्ठ कहा जाता है परन्तु बाद मे इसका अर्थ इतना विस्तृत हो गया कि किसी भी जानवर के बांधने के स्थान को गोष्ठ कहा जाने लगा। अब तो इस शब्द का अर्थ इतना विस्तृत हो गया है कि हम कवि-गोष्ठी, साहित्य-गोष्ठी आदि शब्दों का भी

व्यवहार करने लग गये हैं। हिंदी **गोहार** शब्द का सम्बन्ध गाय चुराने के साथ है। प्राचीन काल में जब चोर गाय चुरा कर ले जाते थे तो चौकीदार या कोई अन्य व्यक्ति बहुत जोर से पुकारता - गोहार उस पुकार के लिये रूढ़ हो गया परन्तु अब तो किसी भी प्रकार की पुकार के लिये गोहार शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। संस्कृत **कुशल** शब्द का अर्थ कुश काटने वाला है। सभी जानते हैं कि कुश काटने का काम आसान नहीं इसमें विशेष चतुरता की आवश्यकता होती है इस लिये कुशल का अर्थ 'कुश काटने में चतुर' हो गया। बाद में इसका अर्थ इतना व्यापक हो गया है कि जिसने कभी कुश देखे ही न हों उसे भी कुशल व्यक्ति कहा जा सकता है। संस्कृत **प्रवीण** शब्द भी इसी प्रकार का है। इसका स्पष्ट अर्थ 'वीणा बजाने में 'कुशल' है परन्तु अब यह किसी भी काम में कुशल व्यक्ति के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे वह अर्थशास्त्र में प्रवीण है। फारसी **स्याही** शब्द का मूल अर्थ कालिमा है। इसका प्रयोग शुरू शुरू में केवल काले रंग की स्याही के लिये किया जाता था परन्तु अब स्याही नीली भी हो सकती है और लाल भी। 'स्याही' शब्द में तो अर्थविस्तार हुआ परन्तु 'स्याह' शब्द में नहीं। 'स्याह' शब्द केवल 'काले' के अर्थ में ही प्रचलित है। संस्कृत **श्रीगणेश** का मूल अर्थ देवविशेष है। अनेक पूजाविधियों में प्रारम्भिक देवता के रूप में श्रीगणेश की पूजा की जाती है। अब यह शब्द 'देव' अर्थ के साथ साथ प्रारम्भ' अर्थ को भी प्रकट करने लगा है, जैसे आइए आज इस काम का श्रीगणेश कर लें। अरबी **बिस्मिल्ला** शब्द भी इसी प्रकार का है। चलो हो जाय बिस्मिल्ला अर्थात् चलो यह काम प्रारम्भ कर दें। बिस्मिल्ला का मूल अर्थ ईश्वरवाची ही है।

अर्थ-विस्तार में अनेक परिस्थितियां काम करती रहती हैं। कई बार व्यक्ति-वाची नाम इतने महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं कि उनका प्रयोग उस विशेष व्यक्ति के लिये न होकर उसके समान गुणों वाले किसी भी व्यक्ति के लिये होने लगता है। कालिदास और शेक्सपियर ऐसे नाम हैं। "आज-कल हमारे देश में जिधर देखो उधर कालिदास ही दिखाई देते हैं" इस वाक्य

में प्रयुक्त कालिदास का अर्थ संस्कृत के प्राचीन कवि और नाटककार नहीं बल्कि कविमात्र है। "वह तो भारत का शेक्सपियर है।" इस में प्रयुक्त शेक्सपियर भी उसी अर्थ में प्रयुक्त है। काश्मीर एक सुन्दर और उत्कृष्ट स्थान है यदि कोई व्यक्ति काश्मीर न जाकर किसी भी भाग में किसी सुन्दर और उत्कृष्ट स्थान पर पहुंच जाता है तो यह कहा जा सकता है— हम तो काश्मीर पहुँच गये। "काश्मीर भारत वर्ष का स्विटज़रलैण्ड है" इसमें प्रयुक्त स्विटज़रलैण्ड भी स्थान विशेष के भौगोलिक स्वरूप को न बताकर उसकी सुन्दरता और उत्कृष्टता के भाव को ही व्यक्त करता है। अंग्रेज़ी का बॉयकाट शब्द तो इस दृष्टि मे अत्यन्त मनोरञ्जक है। कैप्टन बॉयकाट (१८३२-९७) एक व्यक्ति का नाम था जिसे सन् १८८० में आइरिश लैण्ड लीग से निकाला गया था। अब यह बहिष्कार अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाने लगा है।

अर्थ-विस्तार का एक रूप एक लिंग-वाची शब्द का दूसरे लिंगवाची अर्थ में विस्तार का भी देखा जाता है। जब हम यह कहते है 'वहां बहुत आदमी इकट्ठे हुए थे' तो आदमी से हमारा अभिप्राय केवल पुरुषों से ही नहीं होता बल्कि स्त्रियों से भी। कुत्ता, गधा, घोड़ा आदि से हमारा अभिप्राय कुत्ता-कुत्ती, गधा-गधी, घोड़ा-घोड़ी दोनों मे होता है।

मुहावरेदार भाषा या अन्य प्रकार के आलंकारिक प्रयोगों के कारण भी अर्थ-विस्तार हो जाता है।

१ यह रास्ता सीधा है।

२. यह आदमी सीधा है।

इन दोनों में 'सीधा' शब्द का प्रयोग है। दोनों के अर्थ में अन्तर है। सीधे रास्ते के आधार पर आदमी के सीधे होने की कल्पना की गई है भले ही वह आदमी शरीर से बेढंगा भा क्यों न हो। भोजन खाने की बात तो समझ में आती है परन्तु मार खाना, ग़म खाना, खौफ़ (भय) खाना आदि ऐसे प्रयोग हैं जो 'खाने' के अर्थ को अधिक विस्तृत कर देते हैं। समानता के कारण तो ऐसा अर्थ-विस्तार बहुत होता है।

२. अर्थ-संकोच

जब किसी शब्द का अर्थ अपने विस्तृत क्षेत्र से हटकर संकुचित क्षेत्र में ही सीमित हो जाय तो उसे अर्थ-संकोच कहते हैं। संस्कृत 'घृत' शब्द 'घृ' धातु से बना है। घृ का अर्थ होता है चमकना या सींचना। किसी भी चमकने वाले पदार्थ को घृत कहा जा सकता है परन्तु इसका अर्थ केवल 'घी' अर्थ में ही सीमित है। सस्कृत **'मृग'** शब्द सभी पशुओं के के लिये व्यवहृत होता था। इसी से बने शब्द मृगया, मृगराज आदि अभी भा मृग के उसी सामान्य अर्थ के द्योतक हैं परन्तु अब केवल 'हिरन' अर्थ का ही इससे बोध होता है। संस्कृत **सर्प** का अर्थ 'रेंगने वाला' है यह शब्द √सृप्=रेंगना धातु से बना है परन्तु अब इसका अर्थ रेंगने वाले साँप के अर्थ में ही सीमित हो गया है। संस्कृत **दुर्लभ** शब्द का अर्थ है बड़ी मुश्किल से पाये जाने योग्य। इसी से बना दूल्हा शब्द केवल पति के अर्थ में सीमित हो गया है। सम्भवत: बड़ी मुश्किल से मिलने के कारण ही दूल्हे का यह अर्थ-संकोच हुआ है। यही बात **वर** शब्द में देखने को मिलती है। वर का अर्थ श्रेष्ठ, अच्छा या कोई भी चुनी व मांगी हुई चीज़ है। अब केवल दूल्हा या किसी के द्वारा दिये गये वर के अर्थ में संकुचित हो गया है। पुरानी अंग्रेजी में mete का अर्थ खाना था परन्तु इसी से बना मीट (meat) शब्द अब केवल मांसाहार के लिये प्रयुक्त होता है। पुरानी अंग्रेजी में deor शब्द का अर्थ पशुमात्र था परन्तु इपी से बना डिअर (deer) शब्द केवल हिरन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका अर्थ-संकोच मंस्कृत मृग के समान ही हुआ है। पुरानी अग्रेजी में hund का अर्थ कुत्ता मात्र था परन्तु इसी से बना हाउण्ड (hound) शब्द विशेष प्रकार के शिकारी कुत्ते के लिये ही प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं जो सभी भाषाओं में देखने को मिलते हैं। कुछ लोगों का यह विचार है कि केवल उत्कृष्ट कोटि की जातियों में ही यह अर्थ-संकोच अधिक होता है क्योंकि

ये जातियां सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में इतनी आगे बढ़ जाती हैं कि शब्दों के स्थूल अर्थ की अपेक्षा सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करने लगती हैं। स्थूल मस्तिष्क वाले लोग इस के सूक्ष्म अर्थ की कल्पना नहीं कर सकते। यह बात ठीक नहीं है। अर्थ परिवर्तन भाषा के अन्य परिवर्तन के समान स्वाभाविक गति से होता है। इसके लिये किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती बल्कि यह अपने आप हो जाता है। चाहे कोई जाति उन्नत हो या अवनत, सभ्य हो या असभ्य इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि सभी जातियों के अपने शब्द होते हैं और आवश्यकतानुसार उन में परिवर्तन होते रहते हैं।

३. अर्थादेश

यदि अर्थ का परिवर्तन ऐसा हो कि मूल अर्थ लुप्त होकर उसके स्थान पर एक नया अर्थ आ जाय तो उसे अर्थादेश कहते हैं। इसी को अर्थ-विपर्यय भी कहा जाता है। संस्कृत **दुहितृ** शब्द इस दृष्टि से बहुत मनोरंजक है। संस्कृत दुह धातु का अर्थ दोहना है। इसी से बने इस शब्द का अर्थ दुहने वाली होना चाहिए परन्तु अब इसका अर्थ लड़की है। यदि 'दूरे हिता भवति' यह अर्थ भी किया जाय तो भी यह अर्थादेश का उदाहरण है। संस्कृत **असुर** का मूल अर्थ देवता था। ईरान में 'अहुर' शब्द अभी भी उसी मूल अर्थ में विद्यमान है परन्तु अब अर्थादेश से संस्कृत में इसका अर्थ राक्षस हो गया है। संस्कृत **देव** का मूल अर्थ देवता है। यह इसी अर्थ में संस्कृत में अब तक व्यवहृत होता है परन्तु प्राचीन ईरानी भाषा में दएव का अर्थ राक्षस है। संस्कृत **मौन** शब्द 'मुनि' से बना है जिसका अर्थ मुनि की साधना या आचरण है परन्तु अब अर्थादेश से मौन का अर्थ चुप्पी लिया जाता है। संस्कृत **शौच** शब्द पवित्र' अर्थ वाचक शुचि से बना है परन्तु अब इसका सम्बन्ध शौच-कर्म अर्थात् दैनिक क्रिया से हो गया है। संस्कृत लघुशङ्का और दीर्घशङ्का शब्द भी इसी प्रकार के हैं। आजकल अनेक लोग इसी दैनिक क्रिया के साथ 'पाकिस्तान' शब्द

को जोड़ देते हैं। 'मैं पाकिस्तान जा रहा हूं'। संस्कृत **उद्धार** शब्द से हिन्दी उधार शब्द बना परन्तु दोनों के अर्थ में मौलिक अन्तर है।

मूल रूप में अर्थ परिवर्तन की ये तीन दिशायें हैं परन्तु यदि व्यापक रूप में विचार किया जाय तो अनेक प्रकार की अर्थ-परिवर्तन की दिशायें देखने को मिलेंगी। उन सब दिशाओं का अन्तर्भाव इन तीन मूल दिशाओं के अन्तर्गत किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर प्रो० ह्विटने (Whitney) ने अर्थ-परिवर्तन को दो वर्गों में बांटा है—१. साधारणीकरण या सामान्य-भाव २. असाधारणीकरण या विशेष-भाव। साधारणीकरण में विशेष अर्थ में सीमित शब्द सामान्य अर्थ में प्रचलित हो जाता है और विशेषीकरण में सामान्य अर्थ में प्रचलित शब्द विशेष अर्थ में संकुचित हो जाता है। इन्हें क्रमशः अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकोच कहा जा सकता है इसलिये इन पर अलग से विचार करने की विशेष आवश्यकता नहीं रहती।

उत्कर्ष और अपकर्ष

अर्थ-परिवर्तन की दिशाओं का वर्गीकरण एक और रूप में भी किया जा सकता है—१. अर्थोत्कर्ष (ascending of meaning या elevation) २. अर्थापकर्ष (descending of meaning या degeneration)। अर्थोत्कर्ष में अर्थ परिवर्तन ऐसा होता है कि मूल निकृष्ट अर्थ उत्कृष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से अंग्रेजी का **नाइट** (knight) शब्द बहुत दिलचस्प है। प्राचीन अँग्रेजी में cnight का अर्थ लड़का या नौकर था। जर्मन में knecht शब्द अभी भी नौकर अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसीसे व्युत्पन्न शब्द नाइट कितने उत्कृष्ट अर्थ को बताता है यहां तक कि नाइट' एक सम्मानित पदवी मानी जाती है। हिन्दी **कपड़ा** शब्द संस्कृत कर्पट से बना है। कर्पट का अर्थ फटे पुराने कपड़े था परन्तु अब कपड़ा शब्द फटे पुराने के अर्थ में व्यवहृत न होकर अच्छी किस्म के या घटिया किस्म के भी कपड़े के लिये व्यवहृत होता है।

संस्कृत **साहसी** शब्द आज कितने अच्छे अर्थ में व्यवहृत होता है परन्तु मूल रूप में इसका अर्थ डाकू, व्यभिचारी आदि था[1]। अर्थापकर्ष में उत्कृष्ट अर्थवाची शब्द का अर्थ निकृष्ट हो जाता है। प्राचीन अंग्रेजी में cnafa का अर्थ लड़का या नौकर था परन्तु इसीसे बना knava शब्द धूर्त अर्थ में प्रयुक्त होता है। **पिल्लइ** एक जाति का नाम है। इस जाति के अनेक लोग अभी भी भारत के दक्षिण तथा वहां से अन्य स्थानों में बिखरे हुए हैं परन्तु हिन्दी में पिल्ला शब्द कुत्ते के बच्चे के लिये व्यवहृत होता है। अंग्रेजी का **सिल्ली** (silly) शब्द आजकल मूर्ख अर्थ का द्योतक है परन्तु पहले इसका अर्थ ऐश्वर्यशाली था। संस्कृत में **असुर** शब्द और ईरानी में **दएव** शब्द भी अर्थापकर्ष के उदाहरण हैं। हमारे देश में प्राचीन काल में विशेष धर्मानुयायियों के लिये **पाषंडी, नग्न** और **लुंचित** शब्दों का प्रयोग होता था परन्तु आज पाखण्डी, नंगा और लुच्चा शब्द निकृष्ट अर्थ को ही बताते हैं। संस्कृत शाक्त शब्द का अर्थ शक्ति का पुजारी है परन्तु इसी से बना 'शाकट' शठ अर्थ में व्यवहृत होता है। संस्कृत **'देवानां प्रियः'** का मूल अर्थ देवताओं का प्यारा था। इस अर्थ में इसका प्रयोग सम्राट् अशोक के साथ होता था। 'देवानां प्रियः प्रियदर्शी अशोकः'। परन्तु बाद में संस्कृत में ही इसका अर्थ मूर्ख हो गया।

मूर्त्तीकरण : अमूर्त्तीकरण

एक और दृष्टि से विचार करने पर अर्थ परिवर्तन की दिशाओं के दो वर्ग और किये जा सकते हैं—(१) मूर्त्तीकरण (२) अमूर्त्तीकरण। जब अमूर्त्त अर्थवाची (क्रिया, गुण, भाव आदि को बताने वाला) शब्द मूर्त्त (स्थूल वाची) अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है तो उसे मूर्तीकरण कहते हैं। सस्कृत के जनता और देवता शब्द लोगों के भाव या देव का भाव

---

१. **मनुष्यमारण स्तेयं परदाराभिमर्षणम् ।**
पारुष्यमनृतं चैव साहसं पंचधा स्मृतम् ।।

इस अर्थ में प्रयुक्त होते थे। जन और देव के साथ जुड़ा हुआ 'ता' प्रत्यय भाव अर्थ को ही व्यक्त करता है, जैसे महत्ता, वीरता आदि में, परन्तु अब देवता देव के अर्थ में और जनता जन के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। हिन्दी के मिठाई और खटाई शब्द भी ऐसे ही हैं। इन का अर्थ मीठा-पन और खट्टा-पन है क्योंकि इन के साथ जुड़ा हुआ 'आई' प्रत्यय भावद्योतक ही है। परन्तु अब मिठाई और खटाई का प्रयोग मूर्त्त पदार्थ के लिये होता है। यह अर्थ का मूर्त्तीकरण है। यदि इस के विपरीत मूर्त्त पदार्थ का द्योतक शब्द अमूर्त्त अर्थ में प्रचलित हो जाये तो उसे अमूर्त्तीकरण कहते हैं। जैसे संस्कृत के कपाल और हृदय शब्द शरीर के मूर्त्त अङ्गों को ही बताने वाले थे परन्तु अब ये भाव-वाची हो गये हैं। इसी प्रकार छाती और कलेजा शरीर के अंग होते हुये भी 'मेरी छाती बड़ी है' या 'मेरा कलेजा बड़ा है' इन वाक्यों में भाव-वाची हो गये हैं। इसी को अर्थ का अमूर्त्तीकरण कहते हैं।

यदि हम और भी सूक्ष्मता से विचार करते जायें तो अर्थ-परिवर्तन की अनेक दिशायें देखने को मिल जायेंगी परन्तु जैसा कि पहले भी कहा गया है कि अर्थ परिवर्तन की मूल दिशायें तीन ही हैं।

अध्याय १७

अर्थ परिवर्तन के कारण

अर्थ का सम्बन्ध मानव के विचारों के साथ है। मनुष्य के विचारों में कई प्रकार की विभिन्नतायें देखने को मिलती है। यही कारण है कि अर्थ में भी इतनी विभिन्नताये है। जैसे जैसे विचारों में परिवर्तन आता है वैसे वैसे अर्थ मे भी परिवर्तन लाना स्वाभाविक है। इस लिये अर्थ-परिवर्तन का मूल कारण विचार-विभिन्नता माना जाता है।

मानव की विचार विभिन्नता के स्वरूप अनेक हैं। साधारण तौर पर हम यह कह देते है कि आप के और हमारे विचार मिलते-जुलते हैं परन्तु यदि हम सभी विचारों का विश्लेषण कर तो हमें पता चलेगा कि हम जिन विचारों में एकता भी समझ रहे थे उन में कहीं न कहीं विभिन्नता अवश्य है। वैसे तो मानव कई अंशों में रहस्यमय है फिर भी उस का मानसिक अश तो और भी अधिक रहस्यमय है। सारी ज़िंदगी अपने साथ रहते हुए भी मनुष्य अपने आप को नहीं समझ पाता। दूसरे को समझ पाने की बात तो बहुत दूर की है। इस में कोई सन्देह नहीं कि मनोविज्ञान द्वारा इस दुर्बोध मन के वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयत्न किया जा रहा है। विज्ञान की प्रगति के साथ साथ यह सम्भावना भी की जा सकती है कि हम किसी न किसी दिन उस के अगम्य धरातल तक पहुच कर उस का वास्तविक स्वरूप देख सकेंगे। परन्तु अभी तक इस प्रकार की सफलता के कोई विशेष चिह्न नहीं दिखाई देते। अर्थ-परिवर्तन का सम्बन्ध इसी रहस्यात्मक मानसिक अश के साथ होने के कारण इस का वैज्ञानिक विश्लेपण किया जा सकना बहुत कठिन कार्य है।

कोई भी व्यक्ति भाषा सीखते समय अर्थ की रहस्यात्मकता का परिचय प्राप्त कर सकता है। यह बात विशेषतया बच्चे के उदाहरण से अच्छी तरह समझी जा सकती है। बच्चा जब अपने मां बाप को पहिचानने लगता है तो उस के मस्तिष्क में उन का धुंधला सा चित्र होता है। जब वह बोलने लगता है तो 'पापा' या 'मामा' शब्द का उच्चारण करता है। उस के मस्तिष्क में पापा का अर्थ केवल उस का अपना बाप होता है और मामा का अर्थ केवल उस की अपनी माँ। धीरे धीरे उस के मस्तिष्क में पापा और मामा के अर्थ में परिवर्तन आता है और वह समझने लगता है कि पापा और मामा शब्द सामान्य हैं तब वह कहने लगता है कि ये तेरे पापा हैं और वे मेरे पापा हैं। इसी प्रकार किसी भी पदार्थ के या तो वह सामान्य अर्थ को ग्रहण करता है या विशेष अर्थ को। धीरे धीरे जब उस के विचारों का विकास होता है तो वह पदार्थों की विभिन्नता को समझने लगता है। उसी से वह अर्थों की विभिन्नता कर सकता है। बैल और गाय, सुराही और घड़ा आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जिन में भेद करने की शक्ति उस में धीरे धीरे आती है।

यह स्थिति केवल बच्चों तक सीमित नहीं। वस्तुतः हम बच्चे के पहले पहले बैल, भैंस, घोड़ा आदि सभी को गाय कह देने पर हंस सकते हैं परन्तु हम अपने ही शब्दों की ओर ध्यान दें तो हम समझ सकते हैं कि हम भी इसी प्रकार की गलतियां करते हैं। शुरू शुरू में व्यक्ति ज्ञानी और विद्वान् इन शब्दों में कोई अन्तर नहीं कर पाता। यदि हम कहें कि शङ्कराचार्य ज्ञानी थे तो हम यह भी कह सकते हैं कि शङ्कराचार्य विद्वान् थे। इन दोनों शब्दों के अन्तर को वही व्यक्ति समझ सकता है जो दोनों के विभिन्न अर्थ से परिचित है। हम यह तो कह सकते हैं कि कबीर ज्ञानी थे परन्तु यह नहीं कह सकते कि वह विद्वान् थे। यहीं से हमें ज्ञानी और विद्वान् का विशेष अन्तर समझ में आने लगता है। इस प्रकार के अनेक शब्द सभी भाषाओं में होते हैं। अंग्रेज़ी पढ़ने वाले जब शब्दों के जोड़ों (pairs of words) का अध्ययन करते हैं तो उन्हें पता चलता

है कि शब्दों के अर्थ में कैसी विभिन्नता होती है। मनुष्य सारी उम्र शब्द और उनके अर्थ को जानने का प्रयत्न करता रहता है परन्तु फिर भी उसे इस कार्य में पूरी सफलता नहीं मिलती। कई बार लिखते या बोलते समय हम किसी विशेष अर्थ में किसी विशेष शब्द का प्रयोग करते हैं परन्तु हमें अपने आपको यही महसूस होता रहता है कि इससे यदि कोई और अच्छा शब्द होता तो ठीक रहता। किसी विशिष्ट योग्यता से सम्पन्न व्यक्ति के लिये केवल 'बुद्धिमान्' शब्द का प्रयोग हमें अच्छा नहीं लगता। सम्भव है कि 'प्रतिभाशाली' शब्द से हमारा सन्तोष होजाय परन्तु हम चाहते हैं कि इससे भी कोई अच्छा शब्द होता। किसी एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करते समय यह बात बहुधा देखने को मिलती है। हमें यह स्मरण रखना है कि एक भाषा में जितने शब्द हैं उनका एक विशिष्ट अर्थ है और ऐसे बहुत से विचार हैं जिनके लिये हमारे पास कोई शब्द नहीं, इसी लिये हम अपनी भाषा में विद्यमान किसी एक शब्द से उन विचारों को प्रकट करने का काम भी चला लेना चाहते हैं।

यही कारण है कि हम अपने विचारों को ठीक उन्हीं शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाते जिन शब्दों में हम करना चाहते हैं और इसके साथ ही वक्ता जिस अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग करता है, आवश्यक नहीं कि श्रोता भी उसे उसी अर्थ में ग्रहण करे। उदाहरण के तौर पर संस्कृत उद्धार शब्द को ही ले लिया जाय। आर्थिक विषमताओं से पीड़ित व्यक्ति सम्भवत: किसी मित्र या स्वजन के पास गया होगा और मेरा उद्धार कीजिये' इस अर्थ में उसने 'उद्धार' शब्द का प्रयोग किया होगा। मित्र या स्वजन द्वारा दी हुई आर्थिक सहायता अपने उद्धार अर्थ को छोड़ कर धीरे धीरे उधार में परिणत होगई होगी क्योंकि सम्भवतः आर्थिक सहायता लेने वाले व्यक्ति ने उसे पुराने उद्धार अर्थ में ग्रहण न कर नवीन 'उधार' अर्थ यानी वापिस देने की भावना से लिया होगा। इसी व्यक्तिगत अर्थ-विभिन्नता या विचार-विभिन्नता के कारण जो अर्थ परिवर्तन होता है वह यदि उस समाज में चल निकलता है तो वह उसी अर्थ में रूढ हो जाता

है। यदि सारे समाज में मान्य नहीं हो पाता तो वह अपने आप में कहीं खोजाता है परन्तु इतना निश्चित है कि व्यक्तिगत अर्थ-विभिन्नता या विचार-विभिन्नता अर्थ परिवर्तन में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करती रहती है। इसीलिये अर्थ-परिवर्तन के सभी कारणों का निर्देश कर सकना अत्यन्त असम्भव कार्य है। केवल संकेत निर्देश की दृष्टि से कुछेक कारणों को बताया जा सकता है। इन कारणों से अर्थ परिवर्तन की वैयक्तिक विचार-विभिन्नता और जटिलता का भी थोड़ा बहुत अनुमान किया जा सकता है।

१. नामकरण

इस बात का वर्णन किया जा चुका है कि भाषा के परिवर्तन का मूल कारण प्रयत्न लाघव है। अर्थ परिवर्तन में भी इस का कम महत्त्व नहीं। यदि हम थोड़ी देर के लिये सृष्टि के पदार्थों के नामकरण की ओर ध्यान दें तो हमें प्रयत्न लाघव की यह प्रवृत्ति दिखाई दे जायेगी। यदि हम यह कल्पना करें कि हमने सृष्टि के पदार्थों का कोई नामकरण नहीं किया तो हमें स्पष्टतया दैनिक कार्यों में जटिलता दिखाई देगी। उदाहरण के तौर पर जब बच्चा पैदा होता है तो वह किसी का पुत्र, किसी का भतीजा, किसी का भानजा, किसी का पोता, किसी का दौहित्र आदि कितने सम्बन्धों में बंध जाता है परन्तु उसे इन सभी सम्बन्धों से नहीं पुकारा जा सकता क्योंकि इससे तो काम बहुत बढ़ जायेगा। इसीलिये उस का कोई न कोई नाम अवश्य रख दिया जाता है। भले ही किसी स्थायी नाम के लिये कुछ समय लग जाये परन्तु पप्पू, बब्बू, बबुआ, काका, टिड्डी, बिन्नी आदि नाम तो उसी समय ही रख लिये जाते हैं। यही प्रवृत्ति केवल बच्चे के नामकरण में ही नहीं दिखाई देती बल्कि सृष्टि के सभी पदार्थों के नामकरण में दिखाई देती है। हम सृष्टि के सभी पदार्थों का कोई न कोई नाम अवश्य रख दिया करते हैं जिससे हमारे परस्पर व्यवहार में बहुत आसानी हो जाती है।

नामकरण में आवश्यक नहीं कि किसी पदार्थ या व्यक्ति के सभी गुण आजायें। कभी किसी एक गुण को देख कर और कभी कुछ भी न देखकर भी नामकरण किया जाता है। ज़रा इस लोकोक्ति की ओर ध्यान दीजिये। आंखों के अन्धे और नाम नैन सुख। नैन सुख का सीधा सा अर्थ है आंखों का सुख प्राप्त करने वाला। यदि यह नाम किसी सूरदास का रख दिया जाय तो यह अपने वास्तविक अर्थ को छोड़ कर किसी व्यक्ति विशेष के अर्थ को बताने लगता है। जिन्दगी में कदम कदम पर ठोकरें खाने वाले व्यवित का नाम भाग्यवान् या भगवान् तक हो सकता है। सृष्टि के पदार्थों के नाम इस प्रकार आकस्मिक भी हो सकते हैं और किसी एक विशेष अर्थ के कारण भी रखे जा सकते हैं परन्तु नामकरण हो जाने के बाद वह उसी व्यक्ति या पदार्थ के नाम के रूप में ही रूढ़ हो जायेगा। 'गोपाल' नाम सुनकर उससे यह पूछना कि आपने कितनी गाय पाली हुई हैं अथवा 'सूर्य प्रकाश' नाम सुनकर रात के समय उससे रोशनी की आशा करना व्यर्थ होगा। यास्क ने अपने निरुक्त में वैदिक शब्दों की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की है जैसे हस्तो हन्तेः[1], मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः[2]। सभी मारने वालों को हस्त और सभी जाने वालों को मृग कह देना ठीक नहीं होगा। इन शब्दों के नाम के साथ जुड़ कर आने वाले मूल शब्द अपना मूल अर्थ खो बैठे हैं और उनका अर्थ-परिवर्तन उसी रूढ़ अर्थ में देखा जा सकता है।

इसका यह स्वरूप कई शब्दों में देखा जा सकता है। संस्कृत कर का अर्थ हाथ है। हाथी की सूंड को भी लम्बे हाथ के रूप में देखकर 'कर' नाम दे दिया गया और सूर्य की किरणों को भी लम्बे लम्बे हाथों के रूप में

---

१. दे. निरुक्त १-३-७। 'हन्' का अर्थ मारना है। पैर आदि से भी मारा जा सकता है परन्तु यास्क का कहना है—प्राशुर्हननेः। मारने में सब से पहले हाथ ही उठता है।

२. दे. निरुक्त १.६.२०। 'मृज् का अर्थ है जाना।

फैलते हुए देखकर 'कर' शब्द से बताया जाने लगा। इसी कर से संस्कृत करिन् शब्द 'हाथी' में रूढ़ हो गया। इसी प्रकार का हाथी अर्थवाची शब्द हस्तेन मृग: - हस्ती भी है। सभी हाथ वालों को हाथी नहीं कहा जा सकता। विशेष जानवर के नाम के साथ जुड़कर 'हाथी' 'हस्ती' या 'करिन्' शब्द अपने मूल अर्थ को खो बैठा है और उसी अर्थ में रूढ़ होगया है। इसी प्रकार हवा में जाने वाले प्रत्येक प्राणी या पदार्थ को 'वायुयान' नहीं कहा जाता, सभी पानी देने वालों को 'जलद' नहीं कहा जाता, पानी में पैदा होने वाले सभी पदार्थों को 'जलज' नहीं कहा जाता।

नामकरण में प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति तो है ही इससे भी आगे नामकरण में संक्षिप्तीकरण का भी प्रयत्न किया जाता है। घर में बच्चों के नामों से ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी। राजेन्द्र कुमार को राजू कहना, जगत नारायण को जगु कह देना इसी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप ही है। इससे कई बार अर्थ में बहुत परिवर्तन आ जाता है। रेल का अर्थ पटरी है और रेलगाड़ी का अर्थ रेल यानी पटरी पर चलने वाली गाड़ी है परन्तु इसे संक्षिप्त करके केवल रेल ही कह दिया जाता है जिस से रेल के अर्थ में परिवर्तन होगया। इसका एक अर्थ पटरी है। तो दूसरा अर्थ गाड़ी भी। भारतवर्ष में अखिल भारतीय कांग्रेस है और अमरीका में विधान सभा के दोनों भवनों को कांग्रेस कहा जाता है। कांग्रेस का सीधा अर्थ सभा है परन्तु आजकल संक्षिप्तीकरण के कारण अखिल भारतीय कांग्रेस को भी केवल कांग्रेस कह दिया जाता है। इसी प्रकार रेल्वे टिकट, बस टिकट, डाकखाने के टिकट, सिनेमा के टिकट सभी टिकट ही कहलाते हैं।

२. प्रकरण अथवा साहचर्य

अर्थ-परिवर्तन के कारण में इसका सब से अधिक महत्त्व है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और अलग अलग प्रकरणों में उनका वही अर्थ ही चलता है। यदि हम 'अर्थ' शब्द को ही लें तो व्याकरण या भाषा-विज्ञान में इसका एक मतलब है तो अर्थशास्त्र में दूसरा। भाषा-विज्ञान के

अन्तर्गत अर्थ-विज्ञान, अर्थ-परिवर्तन आदि विषय पढ़ते समय कोई व्यक्ति अर्थ के 'धन' अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाता। इसका कारण यही है कि भाषाविज्ञान का प्रकरण 'अर्थ' के अन्य सब अर्थों से मस्तिष्क को हटा कर केवल भाषाविज्ञान में अभिप्रेत अर्थ तक ही सीमित कर देता है। इसी प्रकार आय-कर देते समय कोई व्यक्ति कर का अर्थ हाथ नहीं समझता।

जो शब्द जिस प्रकरण में अधिक प्रचलित हो जाता है प्रायः वह उसी प्रकरण के अर्थ को ही अपना लेता है। उदाहरण के तौर पर फारसी का बू शब्द और संस्कृत का गन्ध शब्द मूल अर्थ की दृष्टि से अच्छे या बुरे दोनों प्रकार के अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है। यही कारण है कि फारसी में बद-बू और खुश-बू तथा संस्कृत में सुगन्ध और दुर्गन्ध अलग शब्द हैं परन्तु 'बू' और 'गन्ध' शब्द अधिकांश में 'दुर्गन्ध' प्रकरण में ही प्रयुक्त होने के कारण उसी अर्थ में ही रूढ होगये हैं। 'गवेषणा' शब्द का अर्थ है गाय की इच्छा या खोज परन्तु केवल 'खोज' प्रकरण में प्रचलित होजाने के कारण 'गवेषणा' का अर्थ केवल खोज होगया है।

३. सादृश्य

भाषा के सभी अंगों के परिवर्तन में सादृश्य एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण है। अर्थ-परिवर्तन के कारणों में भी इस का विशिष्ट स्थान है। उदाहरण के तौर पर पाद का अर्थ पैर है। पशुओं के चार पैरों की समानता के आधार पर छन्द के चार अंशों को भी पाद कहा जाने लगा। खाट के भी चार भाग होते हैं उन्हें भी पाद (पाया) कहा जाता है। पट का अर्थ वस्त्र भी है द्वार भी। यह भी सादृश्य के कारण है। दाँतों के समान होने के कारण आरी के अग्रिम नुकीले भागों को दाँत कह दिया जाता है। आंखों के समान होने के कारण अनानास की आखें कह दी

जाती हैं, मूंछों के समान होने के कारण नारियल की मूंछ (दाढ़ी भी) कही जाती है। जानवरों की पूंछ के समान होने के कारण पतंग की पूंछ कह दी जाती है।

४. विशिष्ट भाव

मानव के हृदय में कितनी ही भावनायें उठा करती हैं। कुछ भावों को तो वह सीधे-सादे ढंग से व्यक्त कर देता है परन्तु कई बार उसे भावों में कुछ विशिष्टता लाने की आवश्यकता प्रतीत होती है इसीलिये वह उपलब्ध शब्द-भण्डार में से ही उन्हें व्यक्त करने के लिये उनके अर्थ में कुछ न कुछ परिवर्तन कर देता है। इस प्रकार के कारण अनेक होते हैं। जैसे मनुष्य अशुभ या अवाञ्छनीय पदार्थों के नाम नहीं लेना चाहता तो वह उनके लिये अनेक शब्दों को बना लेता है जो मूल रूप में तो किसी अच्छे अर्थ को बताते हैं परन्तु उनका अर्थ दूसरे रूप में ग्रहण किया जाता है। 'वह मर गया' यह कहना कुछ ठीक नहीं जंचता ; विशेषतया उन लोगों के लिये जो हमारे अपने हैं और जिनके प्रति हमारी श्रद्धा है। इस लिये उसका स्वर्गवास होगया, कैलाशवास होगया या वे पंचतत्त्व में मिल गये (संस्कृत में–पञ्चत्वं गत:) इत्यादि वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। दुकान बन्द करना अशुभ सा जंचता है इस लिये दूकान बढाना' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। आत्मीयों की बीमारी की बात मुंह से नहीं निकाली जा सकती इसीलिये उर्दू में दुश्मनों की तबीयत नासाज़ या ठीक न होने की बात कही जाती है।

विनम्रता और शिष्टाचार के भी कुछ भाव ऐसे होते हैं जिनके कारण शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाया करता है। इसी लिये किसी भी अन्धे व्यक्ति को सूरदास कह दिया जाता है, नीच जाति के लोगों के लिये रैदास, खलीफा, हरिजन आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उर्दू में दूसरे के घर के लिये दौलतखाना और अपने घर के लिये गरीबखाना शब्द का प्रयोग किया जाता है। शिष्टाचारवश ही तो 'अपने' 'घर' को

आपका घर और अपने बच्चों को 'आपके बच्चे' कह दिया जाता है। उत्तर प्रदेश में राजा' शब्द का प्रयोग और पञ्जाब में 'बादशाहो' शब्द का प्रयोग भी इसी शिष्टाचार के कारण सामान्य लोगों के अर्थ में होने लगा है। आजकल बहुत से मित्र एक दूसरे के लिये 'लार्ड' 'यूअर मैजेस्टी' आदि शब्दों का प्रयोग भी करने लगे हैं।

कभी कभी भावातिरेक में भी अर्थ परिवर्तन हो जाता है। जब प्यार में बच्चे को कहा जाता है तुम नालायक हो, बेवकूफ हो, शैतान हो या इसी प्रकार उल्लू, गधा, कुत्ता आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो ये अपना मूल अर्थ खोकर वास्तव में प्यार के भाव को ही जताने वाले हो जाते हैं। शब्दों में आलंकारिकता, लाक्षणिकता अथवा व्यञ्जना के द्वारा भी ऐसी शक्ति पैदा की जा सकती है जिससे वे अपना मूल अर्थ खोकर अन्य अर्थ को बताने लगते हैं। "आप तो बिल्कुल गौ हैं" इस वाक्य में प्रयुक्त गौ शब्द पशु विशेष अर्थ को न बताकर 'सीधा' अर्थ का द्योतक हो गया है। "आप जैसे अक्लमंद तो दुनिया में बहुत कम मिलते हैं।" व्यङ्ग्य में अक्लमंद का अर्थ मूर्ख माना जा सकता है। आपने तो हमारा उपकार किया, इस वाक्य में उपकार का अर्थ अपकार भी हो सकता है।

५. सामाजिक

अर्थ-परिवर्तन में सामाजिक कारण अनेक होते हैं। यहां समाज का व्यापक अर्थ ही अभिप्रेत है। इसी के अन्तर्गत ही सांस्कृतिक, राजनैतिक और धार्मिक कारण भी माने जा सकते हैं। इन्हीं कारणों से उष्ट्र का अर्थ भैंसा से बदल कर ऊंट हो गया। ईरान में 'दएव' का अर्थ राक्षस और भारत में 'असुर' का अर्थ राक्षस होना इन्हीं सामाजिक कारणों से है। इस में देश-भेद और काल-भेद का नाम भी लिया जा सकता है परन्तु मूल-रूप में ये कारण सामाजिक ही हैं। 'देवानां प्रियः' का मूर्ख अर्थ हो जाना भी इसी कारण से है। जब किसी समाज में किसी शब्द का

अधिक प्रयोग होने लगता है तो भी उसके अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। हिन्दी के श्रीमान्, बाबू, महाशय ऐसे ही शब्द हैं।

६. अज्ञान

अर्थ परिवर्तन में अज्ञान या असावधानी का भी विशेष महत्त्व है। कई शब्दों का प्रयोग किसी विशेष अर्थ में केवल ग़लती के कारण चल पड़ता है और फिर उसी को अपना लिया जाता है। हिन्दी में पाव रोटी शब्द का प्रयोग डबल रोटी के लिए होता है। पाव और रोटी दोनों एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। यह पुनरुक्ति केवल अज्ञान या गलती के कारण की जाती है। महाराष्ट्र प्रदेश में अभी भी केवल 'पाव' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है। उसके साथ रोटी का नही[1]। हिमाचल पर्वत, विन्ध्याचल पर्वत आदि का प्रयोग भी पुनरुक्ति का ही उदाहरण है। उर्दू में फ़िज़ूल का अर्थ व्यर्थ होता है और 'बे' उपसर्ग का प्रयोग नकारात्मक होता है परन्तु ग़लती से बेफ़ज़ूल का अर्थ भी व्यर्थ मान लिया जाता है। हिन्दी में निराश का अर्थ आशाहीन होता है परन्तु जायसी ने इसका प्रयोग 'जिसको किसी से आशा न हो' इस अर्थ में किया है। इसी प्रकार उन्होंने बिसासी (विश्वासी) शब्द का प्रयोग विश्वासघाती अर्थ में किया है। यह प्रयोग इतना चल निकला कि घनानन्द ने भी इसे उसी अर्थ में प्रयुक्त किया है—"कबहूं वा बिसासी सुजान के आंगन मो अँसुवानहि लै बरसो"।

अन्य कारण

अर्थ परिवर्तन के कारण अनेक हैं। मुहावरे, लोकोक्तियां और कहावतों मे आये हुए शब्द अपना मूल अर्थ खो बैठते हैं; जैसे—काला अक्षर

---

१. बम्बई के होटलों में कईयों ने सुना होगा 'साहब का पाव काटो और मस्का लगाओ'। हिन्दी बोलने वालों को 'पाव' को पांव समझ कर चौंकने की जरूरत नहीं। पाव का अर्थ रोटी ही है।

भैंस बराबर। शब्दों के मूल अर्थ को लिया जाय तो कोई भी बात स्पष्ट न होगी। आठ आठ आंसू रोना का मतलब आंसुओं की गिनती आठ तक खत्म कर देना नहीं है। हुक्का पानी खुलणा और बन्द होना में भी यही बात है। अंग्रेजी के I call a spade a spade का अर्थ 'मैं फावड़े को फावड़ा कहता हूं।' यह न होकर 'मैं स्पष्ट बात कहता हूँ' इस प्रकार हो जाता है। यही कारण है कि एक भाषा के मुहावरे या लोकोक्तियों का दूसरी भाषा में शब्दानुवाद बहुत हास्यास्पद प्रतीत होता है। हिन्दी के 'मेरा सर चक्कर खा रहा है' का अंग्रेजी अनुवाद my head is eating circle अथवा इसका बाप भी टूटेगा' का अंग्रेज़ी अनुवाद 'Its father will break' बहुत अटपटा लगता है क्योंकि मुहावरे के रूप में प्रयुक्त 'चक्कर खाना' या 'बाप टूटने' का अर्थ अपना मूल अर्थ बिल्कुल खो बैठा है। एक ही शब्द भिन्न भिन्न भाषाओं में जा कर अपना मूल अर्थ खो बैठता है। फ़ारसी में दरिया का अर्थ नदी है, भारत की अनेक भाषाओं में इसका यही मूल अर्थ ग्रहण किया जाता है परन्तु गुजराती में इसका अर्थ समुद्र है और भूषण ने भी दरिया शब्द का प्रयोग समुद्र अर्थ में ही किया है। फ़ारसी में मुर्ग का अर्थ पक्षी है परन्तु हिन्दी में यह केवल 'मुर्ग' के लिये ही प्रयुक्त होता है। संस्कृत वाटिका से व्युत्पन्न शब्द वाड़ी हिन्दी में मूल अर्थ को ग्रहण किये है परन्तु बंगला में इसका अर्थ 'घर' हो गया है[1]। प्रत्येक शब्द का कोई विशेप अर्थ होता है। कभी कभी उस अर्थ के किसी विशेप भाग पर ज़ोर पड़ने से भी अर्थ

---

१. एक बार मैंने अपने एक तामिल मित्र से उस नाटक के बारे में पूछा जो वह देख कर आये थे कि आपको वह नाटक कैसा लगा तो उन्होंने उत्तर दिया 'परवा नहीं'। फ़ारसी का परवाह शब्द हिन्दी में उसी मूल अर्थ उपेक्षा के रूप में ही प्रयुक्त होता है। मुझे यह उत्तर अजीब लगा परन्तु तामिल में 'परवा इल्ले' (नहीं) ऐसा कहने का मतलब है कि वहुत अच्छा नहीं तो बहुत बुरा भी नहीं।

परिवर्तन हो जाता है। 'जुगुप्सा' का मूल अर्थ 'गाय पालना' था, बाद में इसका अर्थ छिपाकर पालना हुआ, फिर केवल छिपाना अर्थ हुआ और अब यह शब्द केवल घृणा अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। एक ही शब्द के जब दो रूप हो जाते हैं तो उनके अर्थ में भी परिवर्तन हो जाया करता है, जैसे गर्भिणी शब्द का प्रयोग मानवों के लिये होता है तो गाभिन का पशुओं के लिये। साधु और साहु शब्द के अर्थ में तो आकाश पाताल का अन्तर है।

अध्याय १८

बौद्धिक नियम

भाषा का आन्तरिक आधार अर्थ है। इसे भाषा का विचार पक्ष भी कहा जा सकता है। मनुष्य जो कुछ सोचता है, अनुभव करता है उसी को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान का मनोविज्ञान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि जैसे विचार या भाव होंगे वैसा ही भाषा का रूप होगा और विचारों का विश्लेषण मनोविज्ञान का विषय हैं। मनोविज्ञान के आधार पर हम यह तो कह सकते हैं कि मानव की मन:स्थिति का प्रभाव सभी क्षेत्रों पर पड़ता है। विशेषतया भाषाविज्ञान के आन्तरिक पक्ष अर्थ पर तो उसका बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है इसलिये अर्थ-परिवर्तन की सभी दिशायें मनुष्य के विचारों और भावों के साथ घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं परन्तु मानवीय प्रकृति कुछ ऐसी जटिल और अगम्य है कि उसे कुछ नियमों के अन्तर्गत विभाजित नहीं किया जा सकता। सबसे अधिक मानव का मन दुर्बोध्य है जिसे भारतीय दार्शनिक 'दुर्निग्रह' भी कहते हैं।[1] इस मन को नियमों के शिकंजे में बांधना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसकी प्रवृत्तियां विचित्र हाती हैं इस लिये भाषाविज्ञान के जिन अंगों पर इसका अनिवार्य प्रभाव पड़ता है उन्हें किसी नियम में नहीं बांधा जा सकता।

---

१. 'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। श्रीमद्भगवद्गीता ६-३५

बुद्धि को (चाहे मन का ही दूसरा रूप मान लिया जाय अथवा उसे मन से भी परे मान लिया जाय)[1] किसी प्रकार के नियमों में अभी तक नहीं बाँधा जा सकता परन्तु फिर भी कुछेक ऐसी बाते हैं जो बौद्धिक दृष्टि से अवश्य समझाई जा सकती हैं। विचारधारा का एक निश्चित या नियमित स्वरूप होता है। भले ही हम भावनाओं के सम्बन्ध में ऐसा न कह सके। अर्थ का सम्बन्ध अधिकांश में बिचारधारा के साथ होता है इस लिये उसके सम्बन्ध में भी किसी निश्चित स्वरूप की बात कही जा सकती है। बुद्धि के द्वारा किये जाने वाले अर्थ-परिवर्तन की प्रवृत्ति को समझाने वाले नियम को बौद्धिक नियम कहते हैं।

बौद्धिक नियम में आने वाले नियम शब्द से यह नहीं समझना चाहिये कि वस्तुत: बुद्धिगत विचारधारा को कुछ नियमों में बांध लिया गया है। ऐसा कम से कम अभी तक तो सम्भव नहीं दिखाई देता। इसे बौद्धिक प्रवृत्ति कहना ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। किस प्रकार हमारी बौद्धिक प्रवृत्ति अर्थ में परिवर्तन करती है केवल इसी नियम का समावेश बौद्धिक नियम के अन्तर्गत किया जाता है। यह नियम बिल्कुल ठीक और निर्दोष होगा ऐसा दावा नहीं किया जा सकता।

ध्वनि-नियम और बौद्धिक नियम में मौलिक अन्तर है। ध्वनि-नियम के सम्बन्ध में निश्चित सीमायें निर्धारित की जाती हैं उसे विशेष भापा या भापा-समूह, देश या काल की सीमाओं के अन्तर्गत रहना पड़ता है परन्तु बौद्धिक नियम के सम्बन्ध में ऐसी सीमायें निर्धारित नहीं की जातीं। मानव की बौद्धिक व्यापकता को मान कर बौद्धिक नियम को भी व्यापक माना जा सकता है। ये नियम सभी भाषाओं पर समान रूप में लगा सकते हैं। इतना होते हुए भी ध्वनि-नियम की वैज्ञानिकता तो मानी जा सकती है परन्तु बौद्धिक नियम की नहीं। ध्वनि का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है — बौद्धिकता का नहीं। नीचे कुछ नियम दिये गये हैं।

---

१. ''मनसस्तु परा बुद्धिः'' श्रीमद्भगवद्गीता ३-४२।

१. विशेष भाव का नियम

अनेक शब्दों से खिंच कर किसी एक विशेष शब्द में ही अर्थ प्रकट करने की शक्ति आ जाना विशेष भाव (Law of specialization) कहलाता है। प्रत्येक भाषा में सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। धीरे धीरे वे शब्द लुप्त होने लगते हैं और उनके भाव को प्रकट करने का कार्य कोई विशेष शब्द ही ग्रहण कर लेता है। संस्कृत में विशेष भावों को प्रकट करने के लिये अनेक प्रकार के प्रयोग होते थे। इनमें प्रत्ययों और विभक्तियों का विशेष स्थान था। प्रत्ययों के संसर्ग से अनेक प्रकार के भाव प्रकट किये जा सकते थे जैसे (degree) को प्रकट करने के लिये तर, तम; ईयस्, इष्ठ। तुलनात्मक अवस्था (comparative degree) को व्यक्त करने के लिये तर और ईयस् प्रत्ययों का प्रयोग होता था। जैसे गुरुतर, लघुतर, गरीयस्, लघीयस् आदि। श्रेष्ठ अवस्था (superlative degree) को व्यक्त करने के लिये तम और इष्ठ का प्रयोग होता था। गुरुतम, लघुतम, श्रेष्ठ, घनिष्ठ आदि। संस्कृत में ही इन प्रत्ययों में कुछ विशेषता आने लग गई थी परन्तु आधुनिक आर्य भाषाओं हिन्दी, गुजराती आदि तक पहुंच कर तो ये प्रत्यय अधिकांश में लुप्त हो गये हैं और इनका भाव किसी विशेष शब्द से व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के तौर पर हिन्दी में इन भावों को व्यक्त करने के लिये, कम, अधिक, अपेक्षा, बढ़िया जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है—

राम सोहन से कम शैतान है।
पप्पू अपनी आयु के बच्चों से अधिक समझदार है।
उसकी अपेक्षा यह माल अच्छा रहेगा।
यह सब से बढ़िया है।

इस प्रकार संस्कृत विभक्तयों की भी स्थिति थी। संस्कृत में कारक-प्रयोग में आठ विभक्तियां प्रयुक्त होती थीं परन्तु हिन्दी में आकर विभक्तियां तो लुप्त हो गईं परन्तु ने, को से, के लिये, का-के-की, पर आदि परसर्गों के

द्वारा उन भावों को प्रकट किया जाता है। यह सब विशेषीभाव के नियम के अन्तर्गत ही है।

२. भेदीकरण का नियम

प्रत्येक भाषा में कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिन्हें समानार्थक या पर्यायवाची (Synonym) कहा जाता है परन्तु यदि उनके प्रयोगों की ओर ध्यान दिया जाय तो यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि उन समानार्थक शब्दों में भी अर्थ की सूक्ष्म भिन्नता है। अर्थ की इस भिन्नता को रखने वाला नियम भेदीकरण का नियम कहलाता है। अंग्रेजी कि होम (Home) और हाउस (House) ऐसे ही शब्द हैं जिन के समानान्तर हिंदी के घर और मकान भी अर्थ की विभिन्नता रखे हुए हैं। हिंदी में देखना और दर्शन करना दो समानार्थक क्रियायें हैं परन्तु इन में भी अर्थ की सूक्ष्म भिन्नता विद्यमान है। 'दर्शन करना' का प्रयोग आदर में होता है और 'देखना' का सामान्य रूप में। मैंने महात्मा जी के दर्शन किये परन्तु नाई को देखा। इन दो वाक्यों में अर्थ की सूक्ष्मता स्पष्ट ही है।

इस नियम की आवश्यकता उस समय बहुत अधिक प्रतीत होती है जब एक ही अर्थ को बताने वाले शब्द अनेक भाषाओं में से एक भाषा में आ जाते हैं। उन सब में अर्थ की भिन्नता रखना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के तौर पर हिंदी में पढ़ाई के स्थान के लिये कितने ही शब्द हैं—विद्यालय, पाठशाला, महाविद्यालय, स्कूल, कालेज, मदरसा, मकतब। किसी स्कूल के विद्यार्थी से यदि यह कहा जाय कि पाठशाला जा रहे हो तो फौरन कहेगा कि मैं पाठशाला नहीं जाता, स्कूल जाया करता हूं। इसी प्रकार कालेज के स्थान पर मदरसा या मकतब का प्रयोग ठीक प्रतीत नहीं होगा। हिंदी में चिकित्सक के लिये वैद्य शब्द है मुसल्मानी प्रभाव के कारण हकीम शब्द भी हिंदी में विद्यमान है। ये दोनों समानार्थक हैं परन्तु वैद्य से आयुर्वैदिक चिकित्सक की प्रतीति होती है और हकीम से यूनानी चिकित्सक की। अंग्रेज़ी का डाक्टर शब्द भी इनका समानार्थक है परन्तु इसका प्रयोग अन्य

प्रकार के चिकित्सक के लिये होता है। यदि आप वैद्य को बुलाना चाहते हैं तो हकीम या डाक्टर शब्द का प्रयोग नहीं करेंगें। इसी प्रकार पंडित, मुल्ला और पादरी एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं परन्तु इनमें बहुत अधिक भिन्नता है। पंडित मन्दिर के पुजारी के लिये आता है, मुल्ला मस्जिद के साथ सम्बन्धित इस्लामी मत के अनुयायी के लिये आता है और पादरी का सम्बन्ध गिरजाघर के साथ है। यह भी स्मरणीय है कि यदि इस प्रकार की अर्थ विभिन्नता नही होगी तो शब्दों का लुप्त होना नितान्त अनिवार्य है। शब्दों के जीवित रहने के लिये उनका विभिन्नार्थक होना अत्यन्त आवश्यक है।

३. उद्योतन का नियम

यदि किसी विशेष शब्द के साथ कोई विशेष रूप जोड़ देने से वह किसी अच्छे या बुरे अर्थ को व्यक्त करने लग जाय तो उस अर्थ-परिवर्तन करने वाले नियम को उद्योतन का नियम (Law of Irradiation) कहा जाता है। उद्योतन का अर्थ है किसी भाव को प्रकट करना। वह अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि केवल किसी रूप विशेष का किसी शब्द विशेष के साथ जुड़ना ही पर्याप्त नहीं बल्कि यह अत्यन्त आवश्यक है कि उससे ऐसा अर्थ परिवर्तन हो जो किसी अच्छे या बुरे अर्थ को व्यक्त करे। गवर्नरी, साहबी, नवाबी कुछ ऐसे ही शब्द हैं। अन्त में 'ई' प्रत्यय जुड़ने से ये अपने मूल अच्छे अर्थ को छोड़ कर घमण्ड के बुरे अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं। जैसे तुम्हारी गवर्नरी यहां नहीं चलेगी। अपनी साहबी या नवाबी किसी और को दिखाओ। कोई व्यक्ति कालेज में दाखिल होकर घर वालों पर रौब जमाने लगे तो प्रायः कह दिया जाता है—तुम्हारी कालजी से काम नहीं चलेगा। कोई किसी दफ्तर में नौकर हो कर घर वालों पर गुस्सा करने लगे तो कहा जाता है—बड़ा आया है अफसरी दिखाने वाला। पोथी से बना पोथा, घटी से बना घंटा भी ऐसे ही शब्द है।

४. विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम

किसी भाषा में कुछ भावों को व्यक्त करने के लिये यदि कुछ विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है और कालान्तर में वे विभक्तियां लुप्त हो जाती हैं तो साधारणतया यह मान लिया जाता है कि उस भाषा में अब विभक्तियां नहीं रहीं परन्तु यह भी देखने में आया है कि वे विभक्तियां पूर्णतया नष्ट नहीं हो जातीं बल्कि उन का प्रयोग कुछ फुटकल शब्दों में चलता रहता है । इसी को विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम (Survival of Inflections) कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर संस्कृत में अनेक विभक्ति-रूप थे परन्तु हिंदी में उनका लोप हो चुका है। फिर भी हिंदी के फुटकल उदाहरणों में अनेक भाग्नावशेष देखे जा सकते हैं। जैसे पूर्णतया, साधारणतया, वस्तुत:, अत:, दैवात् आदि।

५. मिथ्या प्रतीति का नियम

अज्ञान या असावधानी के कारण जो अर्थ-परिवर्तन होता है उसे मिथ्या-प्रतीति के नियम (Law of Perception) के अन्तर्गत रखा जा सकता है। किसी गलत बात को अज्ञान के कारण ठीक मान लेना ही मिथ्या प्रतीति है। संस्कृत का असुर शब्द ऐसा ही है। संस्कृत में आदि प्रत्यय 'अ' का अर्थ 'नहीं' होता है—जैसे अभाव अकाम आदि। इसी के आधार पर गलती से 'असुर' के 'अ' को भी 'नहीं' वाची मान लिया गया। परिणाम स्वरूप सुर का अर्थ देवता और असुर का अर्थ जो देवता न हो अर्थात् राक्षस कर लिया गया। हिंदी के पाव रोटी, विन्ध्याचल आदि के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। अंग्रेज़ी का आक्सन् (Oxen) शब्द भी ऐसा है। इस शब्द का सम्बन्ध संस्कृत उक्षन् के साथ है जो एकवचन का रूप है परन्तु Children के सादृश्य पर गलती से अन्तिम शब्दांश -en को बहुवचन का प्रत्यय मान लिया गया और आज Ox का प्रयोग एकवचन में तथा Oxen का प्रयोग बहुवचन में होता है। अंग्रेज़ी के अनेक शब्दों में बहुवचन के प्रत्यय -es या -s का प्रयोग होता है इसी लिये गलती

से मूलरूप में एकवचन रूप में प्रयुक्त शब्दों चेरीज़् (Cherries) और पीज़् (Peas) को भी बहुवचन मान लिया गया।

६. उपमान का नियम

भाषा के परिवर्तन में सादृश्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है—ध्वनि, रूप, अर्थ सभी के परिवर्तन में यह काम करता है। किसी समानता के आधार पर जो अर्थ-परिवर्तन होता है उसे उपमान के नियम (Law of Analogy) के अन्तर्गत रखा जाता है। उपमान के कारण भाषा की अनेक जटिलतायें दूर हो जाती हैं और भाव प्रकट करने के साधनों में स्पष्टता या सरलता आती है। यदि हम संस्कृत की ओर ध्यान दें तो उसमें कितने ही जटिल प्रयोग दिखाई देते हैं परन्तु हिंदी में वैसी जटिलता नहीं है। संस्कृत में मूल रूप में संज्ञारूप और क्रियारूप थे। संज्ञारूपों में भी बहुत अधिक विभिन्नता थी। सर्वनाम के रूप संज्ञा रूपों से भिन्न थे। उनके अतिरिक्त कारक चिह्नों का भी प्रयोग होता था। तीन वचन, तीन लिंग आदि के रूपों में भी समानता थी परन्तु हिंदी में उनका लोप हो गया और ऐसी समानता आई कि हिंदी में केवल दो रूप ही रह गये—विकारी और अविकारी। एक रूप के लुप्त हो जाने पर समानता के आधार पर दूसरे रूप भी लुप्त होने लगते हैं और इसके कारण नये रूपों का विकास भी हो जाया करता है। विभक्ति रूपों के लुप्त होजाने पर परसर्गों का विकास हुआ।

कुछेक विद्वान् इन छः नियमों के अतिरिक्त दो और नियमों का भी निर्देश किया करते हैं–(१) नये लाभ और (२) अनुपयोगी रूपों का विनाश। परन्तु इन दोनों का अन्तर्भाव इसी नियम के अन्तर्गत हो जाता है क्यों-कि उपमान या सादृश्य के कारण नये रूप आते हैं और पुराने अनेक रूप लुप्त हो जाते हैं। भारोपीय भाषा के उदाहरण से यह बात पूर्णतया स्पष्ट होजायेगी। भारोपीय भाषा के विद्वानों का विचार है कि भारोपीय भाषा की क्रियाओं के कर्तृवाच्य (Active Voice) उत्तमपुरुष एकवचन के

प्रत्यय दो थे— -मि -ग्रौर -ओ । इन दोनों प्रत्ययों में विभिन्नता थी । कुछ क्रियाग्रों के साथ -मि का प्रयोग होता था और कुछ क्रियाग्रों के साथ -ओ का प्रयोग होता था । धीरे धीरे इस प्रकार की विभिन्नता लुप्त होगई ग्रौर ग्रीक तथा संस्कृत में समानता के आधार पर केवल एक रूप को ही अपना लिया गया है । ग्रीक में -ओ रूपों की समानता के ग्राधार पर प्राय: -ओ रूप को ग्रपना लिया गया है ग्रौर -मि का अधिकांश में लोप होगया है । दूसरी ओर संस्कृत में स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है । संस्कृत में -मि रूपों की समानता के आधार पर -ओ रूपों के स्थान पर भी -मि रूप का प्रयोग किया जाता है । संस्कृत क्रियारूप 'भरामि' है तो ग्रीक क्रियारूप 'फेरो'। कहीं कहीं दोनों भाषाग्रों में प्राचीन लुप्त रूपों के भग्नावशेष भी विद्यमान हैं जैसे वैदिक सस्कृत में ब्रवा ग्रौर ग्रीक में एइमि या एह्मि जोकि संस्कृत अस्मि के समानान्तर हैं । ग्रीक क्रियारूप हिस्टेमि (=मैं ठहराता हूं) इसी -मि प्रत्यय के भग्नावशेष का उदाहरण है ।

अध्याय १९

भाषाओं का वर्गीकरण

पीछे भाषाविज्ञान के तीन रूप बताये गये हैं (दे अध्याय १. पृ. १२)—१. वर्णनात्मक २. तुलनात्मक ३ ऐतिहासिक। भापा के वर्णनात्मक अध्ययन के लिये किसी एक भाषा को ग्रहण करके ही उसका विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है। उसके लिये हमें अन्य भाषाओं के ज्ञान की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती परन्तु भाषा के तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन के लिये किसी एक भापा के साथ साथ दूसरी भाषाओं का अध्ययन भी अनिवार्य हो जाता है। कम से कम उन भाषाओं का अध्ययन तो अत्यन्त आवश्यक है जो उस भापा के साथ अत्यधिक सम्बन्धित हैं। इस अध्ययन के लिये संसार की भाषाओं का वर्गीकरण अपेक्षित है।

आधार : देश

वर्गीकरण का मुख्य आधार कौन सा होना चाहिये? वर्गीकरण का सब से पहला और मुख्य प्रश्न यही है। प्रारम्भ में देशों के आधार पर भापाओं का वर्गीकरण किया गया, जैसे—भारत की भाषायें, योरप के विभिन्न देशों की भाषायें आदि। परन्तु यह वर्गीकरण ठीक प्रतीत नहीं होता। यह आवश्यक नहीं कि विभिन्न देशों में बोली जाने वाली भाषायें एक दूसरे से अलग हों और यह भी आवश्यक नहीं कि एक ही देश में बोली जाने वाली भाषायें एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हों। उदाहरणतया ग्रीक, लैटिन, संस्कृत और अवेस्ता (ईरानी) भाषाओं का क्षेत्र अलग अलग देश हैं परन्तु वे एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित

हैं और दूसरी ओर भारत वर्ष में ही बोली जाने वाली तामिल, तेलगु मलयालम और कन्नड़ भाषायें भारत की अन्य भापाओं जैसे—हिंदी, गुजराती, मराठी आदि से भिन्न हैं। इस प्रकार देशों के आधार पर वर्गीकरण ठीक नहीं।

धर्म

न केवल भारतवर्ष में बल्कि अन्य देशों में भी प्राचीन काल से धर्म की महत्ता स्वीकार की जाती रही है। जातियों का वर्गीकरण भी धर्म के आधार पर किया जाता था और इसी लिये उन की भाषाओं के वर्गीकरण का आधार भी धर्म को मान लिया गया। इसी आधार पर ही वैदिक या आयभाषायें, इस्लामी या मुस्लिम भापायें तथा ईसाई भाषायें कहने की प्रथा चल पड़ी। जब एक देश के लो। एक ही प्रकार की भाषा नहीं बोलते तो विभिन्न देशों में फैले हुए एक धर्म के अनुयायी एक भाषा कैसे बोल सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी प्राचीन धर्मों का एक विशेष धर्मग्रन्थ है और मूल रूप में वह केवल एक ही भाषा में है। परन्तु क्या सभी अपने धमग्रन्थ की भाषा का व्यवहार करते हैं? ईसाइयों की बाइबल मूल रूप में हीब्रू में लिखी गई थी परन्तु विश्व के अनेक स्थानों में बिखरे हुए ईसाई हीब्रू भाषा का व्यवहार तो क्या उसका साधारण परिचय भी नहीं रखते। वे तो अपनी अपनी भाषा का व्यवहार करते हैं जिनका हीब्रू के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं। यही बात इस्लाम धर्म के पवित्र ग्रन्थ कुरान की अरबी भाषा के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस प्रकार धर्म के आधार पर वर्गीकरण भी ठीक प्रतीत नहीं होता।

आकृति

भाषा के वर्गीकरण का तीसरा आधार रूप-रचना है, उसे आकृति-मूलक या रूपात्मक वर्गीकरण (Morphological classification) कहा जाता है। पीछे (देखो अध्याय १३, रूपविज्ञान) रूप-रचना के

सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। वाक्य में प्रयुक्त किसी भी उच्चरित ध्वनि-समूह को दो भागों में बांटा जा सकता है। (१) अर्थ-तत्त्व (२) सम्बन्ध-तत्त्व। 'राम पढ़ेगा' में राम और पढ़ अर्थ-तत्त्व हैं और -एगा सम्बन्ध-तत्त्व। यही सम्बन्ध तत्त्व उसका रूप-तत्त्व है। जिन भाषाओं में रूप-तत्त्व की समानता मिलती है उन भाषाओं को एक ही वर्ग मे बांटने को आकृतिमूलक वर्गीकरण कहते है। वस्तुत: इस में अधिकतर वाक्य-रचना पर ध्यान दिया जाता है अर्थात् किस प्रकार पद एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं इसी ओर ही विशेप दृष्टि जाती है इसी लिये इसे वाक्यमूलक वर्गीकरण (Syntactic classification) भी कहा जाता है। परन्तु व्यवहार में आकृतिमूलक शब्द का ही अधिक प्रयोग होता है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण की दृष्टि से भाषाओं को चार मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता है।

१. अयोगात्मक (Isolating)
२. अश्लिष्ट योगात्मक (Agglutinating)
३. श्लिष्ट योगात्मक (Inflecting)
४. प्रश्लिष्ट योगात्मक (Polysynthetic)

रूप-विज्ञान के अन्तर्गत ही अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व के परस्पर जुड़ने के कुछ रूपों पर विचार किया गया था। इन चारों वर्गों का आधार केवल दोनों का संयोग अथवा वियोग है।

अयोगात्मक

यदि किसी भाषा में सभी शब्द अपने आप में स्वतन्त्र हैं, वे एक दूसरे के साथ जुड़े हुए नही हैं तो वह भाषा अयोगात्मक होगी। हमें यह ध्यान रखना है कि रूप या सम्बन्ध-तत्त्व दो प्रकार के हो सकते हैं— १. स्वतन्त्र-

रूप (Free form) २ सम्बद्ध रूप (Bound form)[1] । अयोगात्मक भाषाओं में केवल स्वतन्त्र रूप ही होते हैं सम्बद्ध रूप नहीं अर्थात् प्रत्येक की अपनी पृथक् सत्ता होती हैं और वह किसी भी रूप में दूसरे के ऊपर निर्भर नहीं रहता।

चीनी भाषा अयोगात्मक भाषा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें सभी शब्दों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। 'न्गो (मैं) ता (मारता हूँ) नी (तुम्हें)"; और "नी (तुम)·ता (मारते हो) न्गो (मुझे)"। केवल स्थान भेद से ही अर्थ में परिवर्तन आया है शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता दोनों में विद्यमान है। किसी भी शब्द या प्रकृति में किसी प्रकार विकार (प्रत्यय, विभक्ति आदि के द्वारा) नहीं लाया गया। इस प्रकार ता (बड़ा) जिन (आदमी ; और जिन (आदमी) ता (बड़ा है)" इन वाक्यों में भी प्रत्येक शब्द की स्वतन्त्र सत्ता स्थिर है।

यद्यपि अंग्रेज़ी और हिंदी सर्वथा अयोगात्मक भाषायें नहीं हैं तथापि अयोगात्मकता के चिह्न कहीं कहीं अवश्य मिल जाते हैं जैसे अंग्रेज़ी में Rama killed Sohan और Sohan killed Rama अर्थात् राम ने सोहन को मार डाला और सोहन ने राम को मार डाला। इन वाक्यों में राम और सोहन दोनों स्वतन्त्र रूप में आये हैं। हिंदी में भी यही बात है राम सोहन को पढ़ाता है या सोहन राम को पढ़ाता है।

इन भाषाओं को मुख्य रूप में अयोगात्मक कहा जाता है परन्तु उनके लिये कुछेक अन्य नामों का भी प्रयोग किया जाता रहा है। इनमें से कुछ नाम इस प्रकार है—

---

१ स्वतन्त्र रूप वे होते हैं जो बिना किसी की सहायता के अपने आप वाक्य में प्रयुक्त हो सकें जैसे हिन्दी में राम, कृष्ण आदि। संबद्ध रूप वे होते हैं जिनका प्रयोग स्वतन्त्र रूप में नहीं किया जा सकता जैसे हिंदी में -एगा -एगो। इनका प्रयोग करेगा, करेगी आदि में हो हो सकता है।

व्यासप्रधान, निरवयव, निरिन्द्रिय, निपात-प्रधान, एकाक्षर, एकाच्, धातुप्रधान, निर्योग आदि। सभी के मूल में बात एक ही है इस लिए इन में से किसी भी शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। साधारण तौर पर अन्य तीन वर्गों के लिये योगात्मक शब्द का प्रयोग होने के कारण इन भाषाओं को अयोगात्मक कहने की ही प्रथा चल पड़ी है।

अश्लिष्ट योगात्मक

यदि किसी भाषा में अर्थ तत्त्व (प्रकृति) और सम्बन्ध-तत्त्व (प्रत्यय) का परस्पर योग हो परन्तु वे दोनों स्पष्ट रूप में दिखाई दें तो ऐसी भाषा को अश्लिष्ट योगात्मक कहा जाता है। इस प्रकार की अश्लिष्ट योगात्मक भाषा में स्वतन्त्र रूप भी होते हैं, और सम्बद्ध रूप भी। सम्बद्ध रूप इस प्रकार बंधे होते हैं कि यद्यपि उन की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती तथापि उनकी सत्ता अत्यन्त स्पष्ट होती है। तुर्की भाषा अश्लिष्ट योगात्मक का बहुत अच्छा उदाहरण है। यदि हम तुर्की भाषा के इन शब्दों की ओर ध्यान दें तो बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी।

सेव् = प्यार करना।
सेव्मेक् (सेव् + मेक्) प्यार करना।
सेविस्मेक् (सेव् + इस् + मेक्) = परस्पर प्यार करना।
सेव्दिर्मेक् (सेव् + दिर् + मेक्) = प्यार करवाना।
सेविल्मेक् (सेव् + इल् + मेक्) = प्यार किया जाना।
सेव्दिरिल्मेक् (सेव् + दिर् + इल् + मेक्) = प्यार करवाया जाना।

इन शब्दों या वाक्यांशों की यज़् = लिखना के रूपों से तुलना कीजिये।

यज़्मक् (यज़् + मक्) = लिखना।
यज़िस्मक् (यज़् + इस् + मक्) परस्पर लिखना।
यज़्दिर्मक् (यज़् + दिर् + मक्) = लिखवाना।
यज़िल्मक् (यज़् + इल् + मक्) लिखाया जाना।
यज़्दिरिल्मक् (यज़् + दिर् + इल् + मक्) लिखवाया जाना।

स्पष्ट ही है कि इन दोनों उदाहरणों में प्रकृति-रूप अथवा अर्थतत्त्व सेव् और यज् हैं। शेष 'इस्' 'दिर्' 'इल्' आदि प्रत्यय हैं जोकि प्रकृति अथवा अर्थतत्त्व के साथ ऐसे जुड़े हुए हैं कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता पूर्णतया स्पष्ट है।

हिन्दी और अंग्रेज़ी को भी अधिकांश में अश्लिष्ट योगात्मक भाषायें कहा जा सकता है। हिंदी के कुछ क्रिया रूपों की ओर ध्यान दीजिये।

करना (कर्+ना)
कराना (कर्+आ+ना)
करवाना (कर्+वा+ना)
करता (कर्+ता)
करेगा (कर्+एगा)
करवाता (कर्+वा+ता)
करवायेगा (कर्+वा+ये+गा)

इसी प्रकार पढ़ना आदि अन्य क्रिया के रूपों का भी विश्लेषण किया जा सकता है परन्तु हिंदी में कई स्थानों पर इस प्रकार प्रकृति से प्रत्यय को पृथक् करना कठिन भी हो जाता है जैसे करना के भूतकाल रूप 'किया' और जाना के भूतकाल का रूप 'गया'। साधारण तौरपर भूत काल का रूप–'आ' है जैसे पढ़ा (पढ़्+आ), मरा (मर्+आ) चला (चल्+आ) परन्तु किया और गया में किस को प्रकृति रूप माना जाय और; किसे प्रत्यय रूप, इस सम्बन्ध में विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

अंग्रेज़ी की स्थिति भी बहुत कुछ हिन्दी जैसी ही है। अंग्रेज़ी के निम्न क्रिया रूपों की ओर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी —

Re-ceive (रि+सीव)=प्राप्त करना या करते हैं।
To re-ceive (टुरि+सीव्)= प्राप्त करना।
re ceive-s (रि+सीव्+ज़)=प्राप्त करता है।
re-ceiv-ing (रि+सीव्+इङ्)=प्राप्त कर रहा।

परन्तु अंग्रेज़ी के drink drank drunk और sing sang sung जैसे रूप भी हैं जिन्हें सर्वथा अश्लिष्ट योगात्मक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन रूपों में प्रकृति और प्रत्यय को अलग करना कोई सरल कार्य नहीं। अंग्रेज़ी में अश्लिष्ट योगात्मकता के उदाहरण तो मिलते है परन्तु सभी उदाहरणों में अश्लिष्टता नहीं मिलती।

भाषाओं में प्रत्यय जोड़ने के विभिन्न रूप हैं। सामान्य तौर पर प्रत्ययों के तीन भेद माने जाते है—१. पूर्व प्रत्यय (Affix) २. मध्य प्रत्यय (Infix) और ३. अन्त प्रत्यय (Suffix)। कभी कभी ऐसी स्थिति भी आजाती है कि प्रत्यय पूर्व, मध्य और अन्त तीनों स्थानों पर जोड़े जाते हैं इस प्रकार एक चौथा भेद पूर्वान्त प्रत्यय (Prefix-Suffix) भी माना जा सकता है। इसी आधार पर अश्लिष्ट योगात्मक भाषा के चार उपभेद माने जा सकते हैं।

१. पूर्वयोगात्मक (Prefix agglutinative)
२. मध्ययोगात्मक (Infix agglutinative)
३. अन्तयोगात्मक (Suffix agglutinative)
४. पूर्वान्तयोगात्मक (Prefix-suffix agglutinative)

पूर्वयोगात्मक

दक्षिणी अफ्रीका में बांटू परिवार की भाषायें बोली जाती हैं। ये भाषायें पूर्वयोगात्मक हैं। इस परिवार की भाषाओं को तीन समूहों में वांटा जाता है—(१) पूर्वी (२) मध्यवर्त्ती (३) पश्चिमी। पूर्वी भाषाओं में काफ़िर और जुलू मुख्य हैं। ये दोनों भाषायें पूर्वयोगात्मक हैं। उदाहरण के तौर पर काफ़िर भाषा में 'कु' उपसर्ग है जिस का अर्थ है—को। ति (हम) नि(उन) आदि सर्वनाम हैं। इनका परस्पर योग इस प्रकार होता है।

कु-ति = हमको
कु-नि = उनको
कु-जे = उसको

इसी प्रकार उमु और अब भी उपसर्ग हैं जिनका प्रयोग क्रमशः एक-वचन और बहुवचन के अर्थ में होता है। -न्तु का अर्थ है आदमी। यदि एक आदमी कहना हो तो 'उमन्तु' और यदि बहुत से आदमी कहना हो तो 'अबन्तु' का प्रयोग होता है।

संस्कृत में अनेक उपसर्गों का प्रयोग होता है जैसे गच्छति = जाता है। अवगच्छति = जानता है। जय और पराजय। संस्कृत से आये हिंदी शब्दों में भी ये उपसर्ग उसी रूप में विद्यमान हैं। हिंदी के अपने भी कुछ उपसर्ग हैं। जैसे अनजान में अन - उपसर्ग के रूप में है। इसी प्रकार अंग्रेज़ी में भी कुछ उपसर्ग हैं जैसे un-natural में un - और re-ceive, de-ceive, con-ceive, per-ceive आदि में re-, de-, con-, per- आदि पूर्व प्रत्यय ही तो है। इसी प्रकार की भाषाओं को पुरःप्रत्यय-प्रधान भी कहा जाता है।

मध्ययोगात्मक

मलाया (इडोनेशियाई) परिवार की मुख्य भाषा फिलिप्पाइन की टगलॉग (Tagalog) या 'टगल' भाषा मध्ययोगात्मक का अच्छा उदाहरण है। निम्न उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

सूलत् = लेख।
सुमूलत् (स् + उम् + ऊलत्) = लिखने वाला।
सिनूलत् (स् + इन् + ऊलत्) = लिखा गया।

स्पष्ट ही है कि -उम् -और -इन्- मध्य प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है। भारतवर्ष की मुंडा भाषाओं में भी मध्ययोग के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जैसे संथाली में मंझि का अर्थ है मुखिया और मपंझि का अर्थ है मुखिया गण। स्पष्ट है कि 'प' मध्य प्रत्यय का प्रयोग बहुवचन के लिये हुआ है। इसी प्रकार 'दल्' का अर्थ है मारना और 'दपल्' का अर्थ है—परस्पर मारना। इस क्रिया में 'प' मध्य प्रत्यय का प्रयोग परस्पर अर्थ में हुआ है।

अंग्रेज़ी में सम्भवत: मध्ययोग के उदाहरण नहीं मिलते परन्तु हिंदी में कहीं कहीं मध्ययोग के उदाहरण मिलते हैं जैसे—करता, कराता, करवाता में '-अ-' और '-वा-' मध्य प्रत्यय के ही तो उदाहरण हैं।

अन्तयोगात्मक

पीछे तुर्की भाषा से जो उदाहरण दिये गये हैं वह अन्तयोगात्मक के ही हैं। हिंदी के भी पीछे दिये हुए उदाहरणों में अधिकांश में अन्तयोगात्मकता ही देखने को मिलती है। यही स्थिति अंग्रेज़ी की भी है। भारतवर्ष के द्राविड़ परिवार की भाषाओं (साधारणतया दक्षिणी भाषाओं के रूप में कही जाने वाली कन्नड़, मलयालम आदि) में अन्तयोगात्मकता देखने को मिलती है। कन्नड़ भाषा में सेवक शब्द से सेवकरु (कर्ता), सेवक-रन्नु (कर्म), सेवक-रिन्द (करण), सेवक-रिगे (संप्रदान), सेवक -र (सम्बन्ध), सेवक-रल्लि (अधिकरण) आदि रूप बनते हैं। ये सब बहुवचन के रूप हैं और रु, रन्नु रिन्नु रिन्द, रिगे आदि प्रत्यय अन्त में जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार मलयालम के भी बहुवचन के रूप इस प्रकार हैं—सेवकन्-मार् (कर्ता), सेवकन्-मारे (कर्म), सेवकन्-माराल् (करण), सेवकन् मारकु (सम्प्रदान), सेवकन्-मारुटे (सम्बन्ध), सेवकन्-मार-इल् (अधिकरण)। इन भाषाओं को पर-प्रत्ययप्रधान भी कहा जाता है।

पूर्वान्तयोगात्मक

प्रशान्त महासागर चक्र की पापुआई परिवार की भाषाओं में इसके अच्छे उदाहरण मिलते हैं। मलाया और पालीनेशिया के मध्यवर्ती न्यूगिनी द्वीप की एक भाषा का नाम मफ़ोर है इसमें प्रकृति और प्रत्यय के संयोग का रूप इस प्रकार है—

म्नफ़=सुनना।
जम्नफ़ (ज+म्नफ़)=मैं सुनता हूं।
जम्नफ़उ (ज+म्नफ़+उ)=मैं तेरी बात सुनता हूं।

वम्नफ़ (व+म्नफ़)=तू सुनता है।

इम्नफ़ (इ+म्नफ़)=वह सुनता है।

सिम्नफ़ (सि+म्नफ़)=वे सुनते हैं।

सिम्नफ़इ (सि+म्नफ़+इ)=वे उसकी बात सुनते हैं।

स्पष्ट ही है कि ज- व- इ- सि- पूर्व प्रत्यय हैं और -उ तथा -इ अन्त प्रत्यय हैं। जम्नफ़उ तथा सिम्नफ़इ पूर्वान्तियोगात्मक के उदाहरण हैं। इन भाषाओं को सर्वप्रत्ययप्रधान भी कहा जाता है।

द्वित्वप्रत्ययात्मक

इनके अतिरिक्त प्रत्यय जोड़ने का एक और रूप भी हो सकता है जिसे द्वित्व (Reduplication) कहा जाता है। फिलिपाइन की टगलाग या टगल भाषा में मध्योगात्मकता के साथ द्वित्व भी देखने को मिलता है। द्वित्व का अर्थ है मूल शब्द की या उसके किसी अंश की आवृत्ति। उदाहरण के तौर पर–

सूलत्=लेख।

सू-सूलत्=लिखने वाला (भविष्य अर्थ में-वह जो लिखेगा)।

गामित्=उपयोगी चीज।

गा-गामित्=उपयोग करने वाला (वह जो उपयोग करेगा)।

स्पष्ट ही है कि इन दोनों उदाहरणों में 'सू' और 'गा' के द्वित्व प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार की भाषा को द्वित्व प्रत्ययात्मक कहा जा सकता है। उत्तरी अमरीका की एक भाषा फाक्स (Fox) में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

वापमैव=वह उसकी ओर देखता है।

वा-वापमैव=वह उसकी परीक्षा करता है।

वाप-वापमैव=वह उसकी ओर देखे जाता है।

स्पष्ट है कि 'वा' और 'वाप' के द्वित्व से ही अर्थ परिवर्तन लाया गया है।

हमें इस विषय में यह ध्यान रखना है कि ग्रीक और संस्कृत में भी द्वित्व के रूप देखने को मिलते हैं,जैसे

ग्रीक

फइनेइ = यह चमकता है।

पम्-फइनेइ = यह बहुत चमकता है।

संस्कृत

भरति = उठाता है।

बिभर्त्ति-

भरिभर्त्ति-

परन्तु द्वित्व के कारण जो ध्वनि परिवर्तन हुआ है उससे प्रकृति और प्रत्यय को एक दूसरे से पृथक् करना आसान नहीं इस लिये यद्यपि ये भाषायें द्वित्वात्मक तो हैं परन्तु अश्लिष्टयोगात्मक नहीं क्योंकि इन में प्रकृति और प्रत्यय की स्वतन्त्र सत्ता स्पष्ट नहीं है।

अश्लिष्टयोगात्मक भाषाओं को प्रत्यय प्रधान भी कहा जाता है।

श्लिष्ट योगात्मक

यदि किसी भाषा में अर्थ-तत्त्व के साथ सम्बन्ध-तत्त्व को जोड़ा जाय और वह स्पष्ट रूप में झलकता भी हो, साथ ही अर्थ-तत्त्व में ऐसा ध्वनि परिवर्तन हो जिसके कारण कुछ अस्पष्टता आ जाय तो उस भाषा को श्लिष्टयोगात्मक कहा जाता है। ऊपर जो ग्रीक और संस्कृत के उदहरण दिये गये हैं वे वस्तुत: श्लिष्टयोगात्मकता के ही हैं। मुख्य रूप में ग्रीक और संस्कृत श्लिष्टयोगात्मक भाषायें हैं। संस्कृत के 'मानसिक, भौतिक, पारिवारिक' आदि शब्द ऐसे ही उदाहरण हैं। अन्त में -इक प्रत्यय जुड़ने से मनस्, भूत, परिवार आदि मूल शब्दों में भी ध्वनि-परिवर्तन देखने को मिलता है। यही स्थिति पौर्वात्य, पाश्चात्य आदि शब्दों में हैं। -य प्रत्यय

जुड़ने से पूर्व और पश्चात् में भी ध्वनि-परिवर्तन हो गया है। अरबी भाषा के क् त् व (=लिखना) मूल शब्द से बने किताब्, कुतुब्, कातिब्, मक्तूब्, और क् त् ल् मूलशब्द से बने क़तल्, क़ातिल्, क़िल्, यक़्तुल्, क़ितल आदि भी इसी के उदाहरण है।

इन भाषाओं को विभक्ति प्रधान या सहित भाषाये भी कहा जाता है।

प्रश्लिष्ट योगात्मक

यदि किसी भाषा में से प्रकृति और प्रत्यय को अलग कर पाना असम्भव सा दिखाई दे तो इस प्रकार संयुक्त भाषाये प्रश्लिष्ट योगात्मक कहलाती है। उत्तरी ध्रुव क्षत्र में बोली जाने वाली एस्किमो भाषा ऐसी ही है।

आक्लिस-उत्-इस्स् ? अर्-सि-निअर्पु-ङ

इसका अर्थ है मै मछली पकड़ने के लिये किसी उपयुक्त चीज़ की खोज कर रहा हूँ। दक्षिणी अमरीका की चैरोकी भाषा भी प्रश्लिष्ट योगात्मक है।

नाधोलिनिन=हमारे पास नाव लाओ।
(नातेन=लाओ, आमोखोल=नाव, निन=हम)।
बास्क भाषा भी प्रश्लिष्ट योगात्मक है।
दकार्क ओत=मै इमे उसके पास ले जाता हूँ।
नकार्सु=तुम मुझे ले जाते हो।

संस्कृत मुख्य रूप में श्लिष्टयोगात्मक है परन्तु प्रश्लिष्ट-योगात्मकता के लक्षण भी अनेक दिखाई देते है। जैमे—"तैरभिप्रेतार्थसाधनेऽभिनवकौशल प्रदर्शनङ्कृतमासीत्"—अर्थात् उन्होंने अपना मतलब सिद्ध करने में नई कुशलता दिखाई। इस प्रकार की भाषाओं को बहुसहित भी कहा जाता है।

हमें यह ध्यान मे रखना है कि अश्लिष्ट, श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं की एक सामान्य विशेषता है कि वे संयोगात्मक है अर्थात् इनमे प्रकृति (अर्थ तत्त्व) और प्रत्यय (सम्बन्ध-तत्त्व) का सयोग होता है। वस्तुतः कभी कभी किसी सयोगात्मक भाषा को देखकर आसानी से निर्णय नही किया जा सकता कि यह भाषा अश्लिष्ट, श्लिष्ट या प्रश्लिष्ट है, विशेपतया श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट की सीमा-रेखा तो बहुत ही अस्पष्ट और धूमिल है। इसी लिये भाषाओं के दो वर्ग भी किये जा सकते है।– (१) सयोगात्मक, योगात्मक या समास प्रधान और (२) वियोगात्मक, अयोगात्मक या व्यास प्रधान। योगात्मक के ही तीन उपवर्ग हुए (१) अश्लिष्ट (२) श्लिष्ट (३) प्रश्लिष्ट। निम्न चित्र में भाषाओं का यह वर्गीकरण सक्षिप्त रूप में बताया गया है—

भाषा
- अयोगात्मक, चीनी आदि
- योगात्मक
  - अश्लिष्ट
    - पूर्वयोगात्मक काफ़िर आदि
    - मध्ययोगात्मक टगलॉग आदि
    - अन्तयोगात्मक तुर्की आदि
    - पूर्वान्तियोगात्मक मफ़ोर आदि
    - द्वित्व प्रत्ययात्मक फ़ॉक्स आदि
  - श्लिष्ट, संस्कृत, ग्रीक आदि
  - प्रश्लिष्ट, एस्किमो आदि
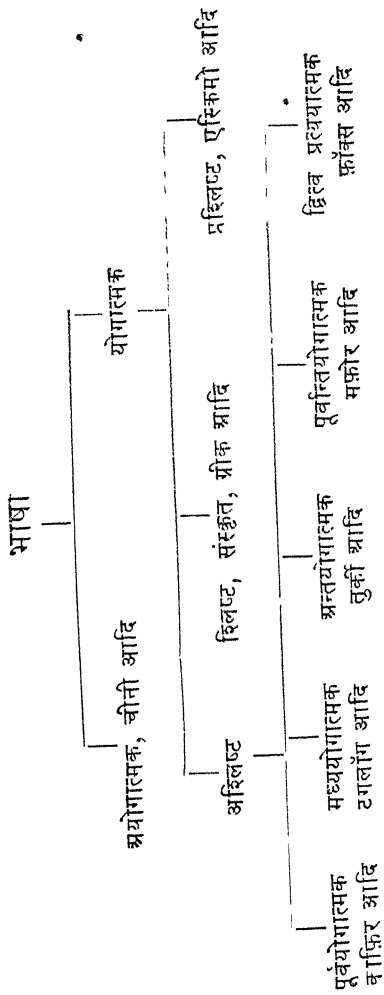
आकृतिमूलक वर्गीकरण की समीक्षा

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आकृतिमूलक वर्गीकरण कई वर्षों तक मान्य रहा है इससे बहुत कुछ लाभ भी हुआ है। रूप विश्लेषण भाषा-विज्ञान का एक प्रमुख अंग है, आकृतिमूलक वर्गीकरण इसी रूप-विश्लेषण पर आधारित है परन्तु इस वर्गीकरण से भाषाओं का समुचित वर्ग-विभाजन नहीं हो पाता। सब से पहली बात तो यह है कि सारे संसार की भाषाओं को मुख्य रूप में दो वर्गों में बांट कर कुछेक भाषायें अयोगात्मक में रखनी पड़ती हैं और शेष अन्य योगात्मक के अन्तर्गत। योगात्मक भाषाओं के उपसर्गों की सीमा-रेखायें इतनी धूमिल हैं कि एक ही भाषा अश्लिष्ट, श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट हो सकती है। उदाहरण के तौर पर हिंदी को ही ले लीजिये। कई अंशों में हिंदी अयोगात्मक है तो दूसरे कई अंशों में योगात्मक। हिंदी से ही अश्लिष्ट और श्लिष्ट दोनों प्रकार के संयोग के उदाहरण मिल सकते हैं। इस प्रकार एक ही भाषा को विभिन्न वर्गों में रखने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है।

भाषाओं का वर्गीकरण ऐसा होना चाहिये जिससे परस्पर सम्बद्ध भाषायें ही एक वर्ग में आयें और परस्पर असम्बद्ध भाषायें एक दूसरे से पृथक् वर्ग में ही विभाजित हों। आकृतिमूलक वर्गीकरण में विभाजन का यह मूल सिद्धांत तक लागू होता नहीं दिखाई देता। जिन भाषाओं का आपस में दूर तक का सम्बन्ध नहीं उन्हें भी आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत एक ही वर्ग में रखना पड़ता है। उदाहरण के तौर पर मुख्य रूप में हिंदी को अश्लिष्ट योगात्मक भाषा मान लें तो उसी वर्ग में हमें तुर्की, अफ्रीका की काफ़िर, फिलिपाइन की टगलॉग, न्यूगिनी की मफोर आदि ऐसी भाषायें भी मिलती हैं जिन का हिंदी के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार परस्पर असम्बद्ध अनेक भाषाओं को एक वर्ग में रखने का कोई लाभ नहीं हो सकता।

पारिवारिक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण की समीक्षा से यह बात स्पष्ट ही हो जाती है कि यह वर्गीकरण अधिक उपयोगी नही है। जब एक भाषा का अध्ययन किया जाता है तो उसे उसी वर्ग में ही रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिये जिस वर्ग की भाषाओ के साथ उसका सम्बन्ध हो। भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध का निर्धारण उनके ऐतिहासिक और तुलनात्मक विस्तृत अध्ययन से ही किया जा सकता है। वर्षों से भाषाविज्ञानी इसी दृष्टि से भाषाओं का अध्ययन करते रहे हैं, विशेषतया भारोपीय भाषाओं के क्षेत्र में उन्होंने जो प्रगति की उसी का ही यह परिणाम है कि भाषाओं के एक अन्य वर्गीकरण का आधार मिल सका है।

यदि हम भारतवर्ष की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करें तो बहुत शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इन में से अनेक भाषाओं में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरण के तौर पर आसामी, मराठी और हिंदी के निम्न शब्दों की ओर ध्यान दीजिये।

आसामी	**मराठी**	**हिंदी**
घांह	घास	घास
कपाह	कापुस	कपास
ख़ाप	साप	साँप
खिङ	शीङ्ग	सीङ्ग
ख़ोन	सोन	सोना
ख़रीर	शरीर	शरीर

कोई भी व्यक्ति बड़ी आसानी से यह निर्णय कर सकता है कि भारतवर्ष के पूर्व में बोली जाने वाली आसामी, मध्यदेश में बोली जाने वाली हिंदी और दक्षिण की ओर बोली जाने वाली मराठी भाषायें एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। यहाँ एक बात की ओर विशेष ध्यान

रखना है कि शब्द और अर्थ का कोई ऐसा अनिवार्य बन्धन नहीं कि एक शब्द का कोई विशेष अर्थ होना ही चाहिये अन्य नहीं। किसी भी शब्द का कोई भी अर्थ हो सकता है इस लिये यदि एक भाषा में किसी शब्द का कोई अर्थ हो तो दूसरी भाषा में उस शब्द का वही अर्थ नहीं होगा। उदाहरण के तौर पर नीचे कुछ शब्द दिये जाते है।

हिंदी	अंग्रेजी
काम	काम (Calm)=शान्त
काल	काल (Call)=बुलाना
माल	माल (mall)=छायादार मार्ग
मेल	मेल (mail)=डाक

स्पष्ट ही है कि यद्यपि ध्वनियों की दृष्टि मे हिंदी और अंग्रेजी के शब्द समरूप (homophonous) है तथापि अर्थ की दृष्टि से उन में आकाश-पाताल का अन्तर है परन्तु ऊपर जो आसामी, मराठी और हिंदी के उदाहरण दिये हुए हैं उनमें न केवल ध्वनियों की दृष्टि से बहुत कुछ समानता है बल्कि अर्थ भी एक ही है। विभिन्न भाषाओं में मिलने वाले ऐसे शब्दों को सगोत्री (Cognate) कहा जाता है। यदि दो भाषाओं में इस प्रकार के अनेक सगोत्री शब्द मिले तो हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि इन भाषाओं में परस्पर कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रहा होगा।

दो भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को मान लेने का यही आधार नहीं है। वस्तुत: इस प्रकार का निश्चय करने में बहुत संभल सभल कर चलना पड़ता है। किन्हीं दो भाषाओं में सगोत्री शब्दों के अस्तित्व के चार कारण होते हैं[1]—

(१) आकस्मिकता (Chance)

(२) अनुकरणात्मक शब्द (Sound Symbolism)

---

1. See Essays in Linguistics by Joseph H. Greenberg (1957) Chapter III, Genetic Relationship among Languages.

(३) आदान (Borrowing)

(४) सामान्य वंशानुक्रम या पारिवारिक सम्बन्ध (Common Inheritance या Genetic relationship).

आकस्मिकता

साधारण तौर पर परस्पर असम्बद्ध विभन्न भाषाओं में एक ही अर्थ को बताने वाले एक जैसे शब्द नहीं होते परन्तु कभी कभी संयोगवश ऐसा भी हो जाता है कि एक ही शब्द विभिन्न भाषाओं में एक ही अर्थ को प्रकट करता है। उदाहरण के तौर पर ग्रीक भाषा में 'मति' और मलाया की भाषा में मत का अर्थ आँख है। जर्मनी के 'मन' और कोरियन के 'मन' का अर्थ मनुष्य है। अफ्रीका की हाटेन्टाट भाषा के 'दिसि' और हिंदी के 'दस' का अर्थ एक ही है। यह समानता आकस्मिक संयोग के कारण ही है। इन शब्दों के आधार पर इन भाषाओं का परस्पर सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि हम इन भाषाओं के अन्य शब्दों की ओर ध्यान दें तो हमें कहीं भी कोई समानता दिखाई नहीं देगी। केवल थोड़े से शब्दों के आधार पर ही भाषाओं का परस्पर सम्बन्ध मान लेना ठीक नहीं।

अनुकरणात्मक शब्द

कुछेक शब्द भाषाओं में ऐसे भी है जो किसी आवाज के अनुकरण पर बना लिये गये हैं। कुत्ते की आवाज़ के आधार पर अंग्रेज़ी में बौ-वौ शब्द है तो हिंदी में भौ-भौं। बिल्ली की आवाज़ के आधार पर चीनी में म्याऊ शब्द है तो हिंदी में भी म्याऊँ। इसी आधार पर इन भाषाओं को एक मान लेना ठीक नहीं। किसी भी भाषा में ऐसे शब्द थोड़े होते हैं और उन्हें तुलना करते समय अलग कर लेना चाहिये।

आदान

किसी भी भाषा पर आदान का प्रभाव बहुत पड़ता है परन्तु

भाषाओं का जैसा सम्बन्ध मान कर हम उनका वर्गीकरण करना चाहते हैं उसे दृष्टिगत रखते हुए हमें एक भाषा से दूसरी भाषा में उधार रूप में आये हुए (loan-words) शब्दों को भी अलग करना होगा। उदाहरण के तौर पर हिन्दी को ही ले लिया जाय। आजकल हिन्दी में कितने ही अंग्रेज़ी शब्द आ चुके हैं जो हिन्दी की अपनी सम्पत्ति सी बन गये हैं परन्तु इन शब्दों के आधार पर यह कहना ठीक नहीं होगा कि इन दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कन्नड़ में 'कीली' का अर्थ 'ताला' है और मराठी में किल्ली का अर्थ ताले की चाबी। ये शब्द भी सगोत्री से दिखाई देते हैं परन्तु वस्तुतः यह भी आदान-शब्द हैं।

जब एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भाषायें राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक या सामाजिक कारणों से एक दूसरे के निकट आती हैं तो परस्पर आदान प्रदान होना स्वाभाविक है परन्तु इतना तो मानना पड़ेगा कि परस्पर सम्पर्क में आने से पूर्व वे भाषायें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थीं। हिन्दी में तुर्की, अरबी, फ़ारसी, पुर्तगाली, अंग्रेज़ी आदि के शब्दों का आ-जाना इसी बात को ही स्पष्ट करता है। हिन्दी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि कोई अभी बहुत लम्बी-चौडी नहीं है और बहुत सा प्रभाव तो हिन्दी पर आधुनिक युग में ही पड़ा है इस लिये हम आसानी से आदान-शब्दों को अलग कर सकते हैं परन्तु कई बार ऐसी सम्भावना भी हो सकती है कि किसी भाषा का प्रभाव किसी अन्य भाषा पर पड़ा हो और हम उनके निकट सम्पर्क में आने की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी न जानते हों तो उन शब्दों के आधार पर उनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध मान लेना क्या ठीक होगा? अगर नहीं तो उन शब्दों को अलग करने की कोई प्रणाली अवश्य होनी चाहिये जिससे इस प्रकार की भ्रान्ति के लिये कोई गुंजाइश न रहे। हमें यह ध्यान में रखना है कि किसी भाषा में चार प्रकार के शब्द होते हैं—

१. सामान्य व्यवहार में आने वाली वस्तुओं के द्योतक शब्द।

२. सामान्य रूप में जनता द्वारा जानी-पहचानी वस्तुओं के द्योतक शब्द ।

३. विशिष्ट कला या विज्ञान के साथ सम्बन्धित शब्द ।

४. केवल सुसंस्कृत या सुसभ्य लोगों तक सीमित शब्द ।

जब किसी भाषा का दूसरी किसी भाषा पर प्रभाव पड़ता है तो अधिकांश में तीसरे और चौथे प्रकार के शब्दों पर तो सब से कम प्रभाव पड़ता है। इस लिये परस्पर सम्बन्ध का निर्धारण करने के लिये अधिकांश में इन्हीं शब्दों पर निर्भर रहना चाहिये ।

शब्दों का आदान-प्रदान तो होता रहता है परन्तु व्याकरणिक रूपों के आदान-प्रदान की सम्भावना लगभग नहीं होती । उदाहरण के तौर पर हिन्दी में कितने विदेशी शब्द आत्मसात् हो चुके हैं परन्तु एक भी विदेशी व्याकरणिक रूप का प्रभाव दिखाई नहीं देता । 'वह रेल्वे स्टेशन गया' इस प्रकार के प्रयोग में यद्यपि आनुपातिक दृष्टि से अंग्रेजी का शब्द ही भारी-भरकम प्रतीत होता है परन्तु हम इसे अंग्रेज़ी का वाक्य न कह कर हिन्दी का वाक्य कहते हैं । इस वाक्य में हिन्दी रूपों का प्रयोग किया गया है— अंग्रेज़ी रूपों का नहीं । हम हिन्दी में रेल्वे स्टेशन या ऐसे ही कितने अन्य शब्दों को तो आत्मसात् कर सकते हैं परन्तु अंग्रेजी रूपों को नहीं । "वह अपने घर went (=गया) ।" ऐसे प्रयोग को कोई भी हिन्दी का शुद्ध वाक्य कहना ठीक नहीं समझेगा । हम उपहास में भले ही ऐसा कह बैठें परन्तु हम शुद्ध प्रयोगों में ऐसे वाक्यों को ग्रहण नहीं कर सकते । उपहास का मतलब ही तो उसका अस्वाभाविक प्रयोग है । दूसरी ओर यदि हम हिन्दी, पंजाबी, मराठी आदि के क्रियार्थ संज्ञा (Infinitive) प्रत्यय की ओर ध्यान दें तो इन में परस्पर समानता दिखाई देगी जो आदान-प्रदान के कारण नहीं बल्कि सामान्य वंशानुक्रम के कारण है, जैसे - हिन्दी-लेना, पंजाबी— लैणा, लहंदी — घिनणा, मराठी-घेणें । -ना, -णा, -णें का सम्बन्ध संस्कृत के ग्रहण, वहन आदि में प्रयुक्त -अण या -अन प्रत्यय के साथ हैं ।

सामान्य वंशानुक्रम

जब दो भाषायें परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हों और उन में आये हुए सगोत्री शब्दों का कारण आकस्मिकता, अनुकरणात्मक शब्द और आदान न हों तो लगभग यह निश्चित हो जाता है कि भाषायें सामान्य वंशानुक्रम के आधार पर सम्बन्धित हैं। हमें यह ध्यान रखना है कि आकस्मिक और अनुकरणात्मक शब्दों के कारण दो भाषाओं में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता परन्तु आदान और सामान्य वंशानुक्रम के आधार पर भाषाओं का ऐतिहासिक सम्बन्ध माना जा सकता है। दो भाषायें ऐतिहासिक रूप में सम्बन्धित होते हुए भी पारिवारिक रूप में सम्बन्धित नहीं मानी जा सकतीं। केवल सामान्य वंशानुक्रम के आधार पर ही दो भाषाओं को पारिवारिक रूप में सम्बन्धित माना जा सकता है।

सामान्य वंशानुक्रम का सीधा अर्थ यही है कि दो भाषायें किसी एक ही मूल स्रोत से निकली हैं। जिस प्रकार हम कुछ लोगों को देख कर यह कह देते हैं कि ये हमारे परिवार के सदस्य हैं और दूसरों को हम अपने परिवार से अलग मानते हैं उसी प्रकार ही भाषाओं के भी पारिवारिक सम्बन्ध की कल्पना की जाती है। दो भाइयों या बहनों का अस्तित्व उनके एक मूल माता-पिता के अस्तित्व का निर्धारण करता है और इसी प्रकार यदि हम पीछे की ओर अधिकाधिक विचार करते चले जायें तो कह सकते है कि सभी परिवारों का एक न एक मूल पुरुष होगा ही। इसी प्रकार भाषाओं के आधार पर भी कहा जा सकता है कि इन को पैदा करने वाली कोई एक मूल भाषा अवश्य होगी। प्राचीन काल में वैदिक संस्कृत बोली जाती थी इसी की लड़कियों के रूप में आज अनेक भाषायें भारतवर्ष में बोली जाती हैं जिन्हें बहिनें कह दिया जाता है और यह मान लिया जाता हैं कि इन में परस्पर पारिवारिक सम्बन्ध है।

पारिवारिक सम्बन्ध को मानने के लिये हमें उपर्युक्त तीन सम्भावनाओं (आकस्मिकता, अनुकरणात्मक शब्द और आदान) को पहले असम्भाव्य

मानना होगा और फिर यदि विश्लेषण करने पर किन्हीं दो भाषाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई दे तो अपना मत निश्चित करना होगा। सगोत्री शब्द व्याकरणिक समानता और ध्वनियों का एक जैसा होना—ये पारिवारिक सम्बन्ध की अनिवार्य आवश्यकतायें हैं। ध्वनियों की समानता का मतलब यह नहीं कि सभी ध्वनियां एक जैसी हो। यदि उनमें कुछ विभिन्नता भी हो तो भी कोई बात नहीं। वस्तुत: ध्वनियों मे कुछ असमानताये होने के कारण ही तो दो भाषायें एक दूसरे से अलग हो जाती हैं। मराठी में कुत्र, गुजराती में कुत्रो और हिन्दी कुत्ता शब्द हैं—ये सगोत्री हैं। ध्वनियों की दृष्टि से इनमें असमानता है परन्तु अर्थ एक ही है। ये शब्द पारिवारिक सम्बन्ध को ही प्रकट करते हैं।

अर्थ की समानता में भी हमें शिथिलता से काम लेना पडता है। अर्थ-विज्ञान के अन्तर्गत हमने अर्थ परिवर्तन के सम्बन्ध में विचार किया था। यदि अर्थ-परिवर्तन की दिशाओं के आधार पर अर्थ-विन्भिनता की व्याख्या की जा सकती हो और ध्वनियों की दृष्टि से भी लगभग समानता दिखाई दे तो दो भाषाओं को एक ही परिवार की बहनें मान लेना ठीक ही है। संस्कृत और अवेस्ता में इस प्रकार के अनेक सगोत्री शब्द मिलते हैं, जैसे --

संस्कृत	अवेस्ता
सखा	हखा
गाथा	गाथा
ऋतु	ऋरतु
प्र	फ़्र
वस्त्र	वस्त्र

इन शब्दों में भौतिक (ध्वनि) समानता के साथ साथ आन्तरिक(अर्थ) समानता भी है। अवेस्ता के 'दएव' और 'अहुर' शब्द यद्यपि संस्कृत देव और असुर की दृष्टि से अर्थ में भिन्न हैं तथापि अर्थ परिवर्तन की दिशाओं के आधार पर इनकी व्याख्या की जा सकती है और हम कह सकते हैं कि संस्कृत और अवेस्ता पारिवारिक दृष्टि से सम्बद्ध भाषायें है।

इसी प्रकार ग्रीक, लैटिन, संस्कृत और अवेस्ता की सगोत्रता निश्चित की जा सकती है और इन सब भाषाओं को एक ही परिवार की भाषायें मान लिया जाता है इसी को भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण (Genealogical Classification) कहा जाता है इसी को वंशानुक्रम भी कहा जाता है। कुछ लोग गलती से इसे ऐतिहासिक वर्गीकरण (Historical Classification) कह दिया करते हैं। वस्तुत: जिन भाषाओं का परस्पर सम्पर्क होता है उनका ऐतिहासिक सम्बन्ध तो माना जा सकता है। जैसे हिंदी का तुर्की, पुर्तगाली आदि के साथ ऐतिहासिक सम्बन्ध है परन्तु पारिवारिक नहीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि जैसे एक परिवार में माता-पिता, भाई-बहन आदि होते है उसी प्रकार भाषा-परिवार में भी माता, पुत्री, बहन आदि शब्द का प्रयोग किया जाता है परन्तु हमें यह ध्यान रखना है कि माता और पुत्री का सीमित अर्थ ही भाषा-परिवार में अपेक्षित है। पूर्णतया मूल अर्थ नहीं। जिस प्रकार मां एक लड़की को जन्म देती है और उन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व विद्यमान रहता है उस प्रकार भाषा के क्षेत्र में नहीं होता। वस्तुत: एक भाषा स्वयं परिवर्तित होकर ही अन्य भाषाओं का रूप धारण कर लिया करती है। मां और पुत्री के समान मूलभाषा और परिवर्तित-भाषा का एक ही समय मे पृथक् २ अस्तित्व नहीं रहता फिर भी इन भाषाओं के लिये मां और पुत्री जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

एक भाषा एक ही रूप में परिवर्तित होकर केवल एक ही भाषा का रूप धारण करे—ऐसी बात नही है। एक ही भाषा अनेक रूपों में परिवर्तित हो सकती है और उनके अनेक उप-विभाग हो सकते है इस लिये माना जाता है कि एक भाषा की अनेक पुत्रियां हो सकती है। आधुनिक युग में विद्यमान इन अनेक पुत्रियों के परस्पर सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए ही तो इनकी आदिम जननी या मूलभाषा के स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। यह कार्य अत्यन्त सरल नहीं। अधिकांश में कुछेक शब्दों की समानता के आधार पर ही ऐसे सम्बन्ध की कल्पना की गई है

परन्तु अब इस प्रकार के सम्बन्ध और मूल भाषा की कल्पना के लिये कुछ निश्चित सिद्धांतों का भी निर्माण किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप अंशत: तथ्यात्मक निर्णयों तक पहुँचा जा सकता है। अनुमान फिर भी अनुमान होता है, कल्पना फिर भी कल्पना होती है इस लिये अनुमानित या कल्पित रूप को सर्वथा वास्तविक रूप मान लेना भूल होगी फिर भी इस में कोई सन्देह नहीं कि वास्तविक रूप के किसी निकट-वर्ती रूप तक तो अवश्य पहुँचा जा सकता है। उपलब्ध भाषाओं के इसी तुलनात्मक और ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर भारत ईरान और योरप की अनेक भाषाओं की जननी भारोपीय भाषा की कल्पना की गई है। इस भाषा के अनेक रूपों का अनुमान भी किया गया है जिस से भाषाविज्ञान के ऐतिहासिक और तुलनात्मक क्षेत्र में विशेष प्रगति हो सकी है। आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध भाषाओं के आधार पर सभी की मूल भाषाओं की कल्पना की जाय। सम्भवत: इसी प्रकार हम विश्व की सभी भाषाओं की एक मूल भाषा की भी कुछ कल्पना कर सकें। इस कार्य में अत्यधिक सावधानी बरतने और निष्पक्ष व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से निरीक्षण करने की आवश्यकता है।[1]

---

१ उपलब्ध भाषाओं के आधार पर प्राचीन भाषा के रूप की कल्पना करने को पुनर्निर्धारण (Re-construction), **कहा जाता है। इस में दो प्रकार की प्रणाली का प्रयोग किया जा सकता है - १. आन्तरिक पुनर्निर्धारण की प्रणाली** (Method of Internal Reconstruction) **और २. तुलनात्मक** (Comparative Method) **इस दृष्टि से हैन्री एम. होएनिग्सवाल्ड** (Henry M. Hoenigswald) **के निम्न लेख पठनीय हैं —**

1. Sound change and Linguistic Structure. Language 22, Pp. 138-43. 1946. 2. The Principal Step in Comparative Grammar. Language, 26 Pp 357-364. 1950.

होएनिग्सवाल्ड की लिखी निम्न पुस्तक भी विशेष महत्त्वपूर्ण है —
Language Change and Linguistic Re-construction (1960)

भाग २

हिंदी का क्रमिक विकास

और

विश्लेषण

अध्याय १

संसार के भाषा-परिवार

प्रथम भाग के उन्नीसवे अध्याय (भाषाओं का वर्गीकरण) में पारिवारिक वर्गीकरण को अधिक उपयुक्त माना गया है। इस पारिवारिक वर्गीकरण के मार्ग में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जब हम उन समस्याओं का समुचित समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं तभी हम कुछ भाषाओं को एक विशेष वर्ग के अन्तर्गत रख कर एक भाषा-परिवार की कल्पना कर सकते हैं। मूल रूप में इस कार्य का प्रारम्भ भारोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं से किया गया और धीरे धीरे संसार के अन्य भाषा-परिवारों की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा। परन्तु अभी तक संसार की भाषाओं का समुचित अध्ययन और वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया जा सका इस लिये सभी भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण भी अभी पूर्णतया नहीं हो पाया। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि संसार के भाषा-परिवारों की संख्या कितनी है क्योंकि सम्भव है कि अन्य भाषाओं के अध्ययन के साथ साथ उनके सम्बन्ध में अनेक परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगे। संसार की भाषाओं में से बहुत कम ऐसी भाषायें हैं जिनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है, अनेक भाषायें ऐसी हैं जिनके बारे में हम बहुत कम जानते हैं और अनेक भाषायें ऐसी भी हैं जिनका अध्ययन बिल्कुल ही नहीं किया गया। ऐसी भाषायें बहुत कम हैं जिन का पुरातन स्वरूप लेख आदि के द्वारा उपलब्ध है परन्तु उसके ऊपर भी पूर्णतया निर्भर नहीं रहा जा सकता। बहुत सी भाषायें आधुनिक युग में लुप्त हो चुकी हैं परन्तु उनका थोड़ा बहुत स्वरूप लेख आदि के द्वारा उपलब्ध है। ऐसी भाषायें भी कम नहीं

है जिन के केवल नाम आदि से ही हम परिचित हैं। कितनी भाषाओं के तो नामोनिशान तक नहीं रहे। आजकल भी अनेक ऐसी भाषायें बोली जाती है जो कि वैज्ञानिक विश्लेषण, लेख आदि के अभाव में लुप्त होती जा रही है। इस प्रकार जब भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन की पूर्ण सामग्री ही उपलब्ध न हो तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना ही कैसे की जा सकती है। कई बार थोडी बहुत समानताओं के आधार पर पारिवारिक-सम्बन्ध की स्थापना कर ली जाती है परन्तु इस प्रकार जल्दी में कोई निर्णय कर लेना ठीक नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि पहले संसार की सारी भाषाओं का विधिवत् वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय, बाद में उनकी तुलनात्मक समीक्षा करके उनके ऐतिहासिक स्वरूप को भली-भांति समझा जाय, तभी पारिवारिक वर्गीकरण की बात सोची जा सकती है। इस प्रकार के अध्ययन के अभाव में जब हम यह कह दिया करते हैं कि ये भाषायें एक दूसरे के साथ सम्बन्धित नही तो हमारे कहने का मतलब यही होता है कि हम अभी तक इनके सम्बन्ध का निर्णय नहीं कर पाये। निश्चित तौर पर परिवारों मे विभाजन अभी बहुत दूर की बात है। अनेक भाषाओं के लुप्त हो जाने के कारण हमारी समस्यायें बढ गई है और यदि आधुनिक युग में उपलब्ध भाषाओं को भी लेख-बद्ध न किया गया और वे भी लुप्त हो गई तो आगे चल कर पारिवारिक-वर्गीकरण के क्षेत्र मे कठिनाइयां और भी बढती चली जायेंगी।

संसार के भाषा परिवारों का उल्लेख करते समय अधिकांश में कुछेक मुख्य-परिवारों का ही उल्लेख कर दिया जाता है अथवा सभी भाषाओं को चार खण्डों में विभाजित कर दिया जाता है। ये चार खण्ड इस प्रकार हैं (१) अमरीका खण्ड (२) अफ्रीका या अफ्रेशिया खण्ड (३) प्रशान्त-महासागर खण्ड (४) यूरेशिया खण्ड।

अमरीका खण्ड

इस समय अमरीका में अंग्रेज़ी की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त कई

लोग स्पेनिश, पुर्तगाली और फ्रेन्च का भी व्यवहार करते हैं। परन्तु ये भाषायें अमरीका की मूल भाषायें नहीं हैं। वस्तुत: अमरीका की मूल भाषाओं का अभी तक पर्याप्त अध्ययन नहीं किया गया। ये भाषायें वह हैं जो योरप निवासियों के आगमन के पहले से वहां के मूल निवासियों द्वारा बोली जा रही हैं। इस क्षेत्र के भाषा-परिवार अनेक हैं जिन्हें मुख्य रूप में दो वर्गों में बांटा जाता है। (१) उत्तरी अमरीका और (२) दक्षिणी अमरीका। उत्तरी अमरीका के मुख्य भाषा-परिवार एस्किमो, अथबस्कन, अल्गोन्किन, नहुअत्ल, अजतेक, मय आदि हैं। दक्षिणी अमरीका के मुख्य भाषापरिवार करीब, अरोवक गुअर्नी, तूपी, पेरुवियन, अरोकन, कुइचुआ, चाको, तीरा डेल्फअायगो आदि हैं।

अफ्रीका खण्ड

अफ्रीका खण्ड के अनेक भाषा-परिवार मुख्य रूप में अफ्रीका के ही हैं परन्तु इस खण्ड की अनेक भाषायें एशिया में भी बोली जाती हैं इसलिये इस खण्ड को अफ्रेशिया (Afro-Asia) खण्ड कहना अधिक उपयुक्त है। इस खण्ड के मुख्य भाषापरिवार पांच हैं। १. बुशमैन, २. बान्टू, ३ सूडान, ४. हैमेटिक या हामी और ५. सैमेटिक या सामी। हामी और सामी परिवार की अत्यधिक समानता के कारण इन दोनों परिवारों को प्राय: हामी-सामी (Hamito-Semitic) परिवार के रूप में एक परिवार ही मान लिया जाता है। इस खण्ड की भाषाओं का भी अभी तक समुचित अध्ययन नहीं किया गया।

प्रशान्त-महासागर खण्ड

प्रशान्त महासागर और हिन्द महासागर के मध्यवर्ती द्वीपों में बोली जाने वाली भाषायें इस खण्ड के अन्तर्गत आती हैं। मुख्य रूप में इस खण्ड के पांच भाषा परिवार हैं। (१) इंडोनेशियाई अथवा मलयाई (२) मलनेशियाई (३) पालीनेशियाई (४) पापुआई (५) आस्ट्रेलियाई। इन

पांचों परिवारों को केवल मलयपालीनेशियन परिवार भी कह दिया जाता है। भौगोलिक दृष्टि से इस का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह भाषापरिवार प्रशान्तमहासागर के द्वीपों से लेकर मैडागास्कर तक फैला हुआ है। आस्ट्रेलिया में आजकल योरप-निवासियों के आजाने से वहां योरप की भाषायें प्रचलित हैं परन्तु आस्ट्रेलियाई परिवार में केवल मूल-निवासियों की भाषाओं को ही ग्रहण किया जाता है।

यूरेशिया खण्ड

यूरेशिया खण्ड की भाषायें योरप और एशिया में बोली जाती है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से सब से अधिक महत्त्व इसी खंड का है। इस खण्ड का अनेक भाषाओं का विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा चुका है और उनके बोलने वाले सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अत्यधिक उन्नत हैं। मुख्य भाषा-परिवारों की दृष्टि से यूराल अल्टाई, चीनी, द्राविड़, काकेशस, आग्नेय, भारोपीय आदि का नाम लिया जा सकता है। भारत-वर्ष की अनेक भाषायें भारोपीय परिवार के साथ सम्बन्धित हैं और दक्षिण की तामिल, तेलुगू आदि का सम्बन्ध द्राविड़ परिवार के साथ है। संसार के सभी भाषापरिवारों में भारोपीय परिवार का स्थान मुख्य और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भाषाविज्ञान का जन्म ही भारोपीय परिवार की भाषाओं के अध्ययन से ही हुआ। हिंदी का सम्बन्ध इसी परिवार के साथ है इसलिये आगे के पृष्ठों में इस का विशिष्ट विवरण दिया हुआ है।

---

१. इस अध्याय में भाषा-परिवारों का अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इनके सम्बन्ध में और अधिक जानकारी के लिये 'बाबूराम-सक्सेना' कृत 'सामान्य भाषाविज्ञान' देखिये।

अध्याय २

भारोपीय परिवार

भारोपीय परिवार न केवल यूरेशिया का बल्कि संसार का सब से बड़ा परिवार है। इस खण्ड की अनेक भाषायें संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यधिक उन्नत हैं। विश्व का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य इसी परिवार की भाषाओं में सुरक्षित है। संस्कृत का गौरव-ग्रन्थ ऋग्वेद न केवल ज्ञान का अमित भण्डार है बल्कि भाषा की दृष्टि से विश्व के उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ है। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि संस्कृत का परिचय प्राप्त होते ही पाश्चात्य विद्वानों ने इस का विशिष्ट अध्ययन कर भाषाविज्ञान के कार्य में विशेष प्रगति की। ग्रीक और लैटिन के साथ इसकी अत्यधिक समानता के कारण तुलनात्मक भाषाविज्ञान के कार्य को और भी तेज़ी से बढ़ाया गया। परिणामस्वरूप आज अनेक भाषायें इस परिवार के साथ सम्बन्धित मान ली गई हैं। सम्भव है कि आगे चल कर इस कार्य में और भी अधिक उन्नति की जा सके।

विभिन्न वर्ग

भारोपीय परिवार की भाषाओं को मुख्य रूप में दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। (१) केन्टुम् और (२) सतम्। केन्टुम् लैटिन भाषा का और सतम् अवेस्ता (ईरानी) भाषा का 'सौ' अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द है। मूल भारोपीय भाषा में तीन प्रकार की कवर्ग ध्वनियां थीं। इनमें से तालव्य कवर्ग ध्वनियां कुछ भाषाओं में तो उसी रूप में सुरक्षित रहीं परन्तु कुछ अन्य भाषाओं में ये ऊष्म ध्वनियों (स्,श्) में परिवर्तित हो गई।

इस सिद्धांत को सबसे पहले सन् (१८७०) में एस्कोली (Ascoli) नामक विद्वान् ने प्रस्तुत किया था जो अभी तक उसी रूप में मान्य है। इस प्रकार दो भाषा वर्ग हो जाते हैं (१) पहला वर्ग उन भाषाओं का है जिन में तालव्य कवर्ग ध्वनियां अपरिवर्तित रहीं। (२) दूसरा वर्ग उन भाषाओं का है जिनमें तालव्य कवर्ग ध्वनियां ऊष्म ध्वनियों में परिवर्तित हो गई। भारोपीय परिवार की निम्न भाषाओं के सौ अर्थ को बताने वाले निम्न शब्द उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लैटिन—केन्टुम्, ग्रीक—हे-क्तोन्, तोखारी-कान्ट्, संस्कृत-शतम्, अवेस्ता-सतम्, लिथुआनियन—स्जिम्तिस्, प्राचीन स्लावी-सुतो। स्पष्ट है कि लैटिन, ग्रीक और तोखारी भाषा में 'क्' सुरक्षित है और अन्य भाषाओं में 'क्' के स्थान पर स्' हो गया है।

इन दोनों वर्गों की भिन्नता एक और विशेषता पर भी आधारित है। भारोपीय भाषा की तीन प्रकार की कवर्गीय ध्वनियों में से एक कवर्ग-ध्वनियाँ कण्ठ्योष्ठ्य भी थीं अर्थात् उनके उच्चारण में कण्ठ के साथ साथ ओष्ठ का भी प्रयोग किया जाता था। केन्टुम् वर्ग में उन ध्वनियों का ओष्ठ्यत्व अभी तक सुरक्षित है। परन्तु सतम् वर्ग में उनका ओष्ठ्यत्व लुप्त हो चुका है। जैसे—लैटिन-क्वोस् गाथिक-ह्वस् (अंग्रेज़ी हू who) ग्रीक-तिस्[1], हित्ती-क्विश्, लिथुआनियन-कस्, अवेस्ता-को, संस्कृत-कः।

इस प्रकार इन दो मुख्य वर्गों के अन्तर्गत भारोपीय परिवार की भाषाओं को विभाजित किया जाता है :—

केन्टुम् वर्ग

१. केल्टी (Celtic)
२. इटाली (Italian)

---

१. भारोपीय भाषा की कण्ठओष्ठ्य ध्वनि क्व् ग्रीक में कुछेक परिस्थितियों में 'प्' या 'त्' में परिवर्तित हो जाती है अन्यथा 'क' रूप में सुरक्षित रहती है।

३. जर्मन (Germanic)
४. ग्रीक (Greek)
५. हित्ती या हित्ताइत (Hittite)
६. तोखारी (Tocharian)

सतम् वर्ग

१. अल्बानी (Albanian)
२. आर्मीनी (Armenian)
३. बाल्टी स्लावी (Balto-slavic)
४. भारत-ईरानी (Indo-Iranian)

कुछ लोग इसी आधार पर भाषाओं को पश्चिमी (केन्टुम्) और पूर्वी (सतम्) भी कह दिया करते थे परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि पूर्व की हित्ती और तोखारी भाषाये केन्टुम् वर्ग की है सतम् वर्ग की नहीं।

केन्टुम् वर्ग की भाषाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

केल्टी

किसी समय केल्टी भाषा-समूह का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था। अब इसका क्षेत्र बहुत अधिक सीमित है। इसकी मुख्य भाषायें आइरी (Irish), वेल्श (welsh), ब्रिटन (Breton) और कॉर्निश (Cornish) हैं। आइरी भाषा की हस्तलिपिया ईसा की आठवीं शताब्दी तक की मिलती हैं इसमे लिखे कुछ शिलालेख और भी पुराने है (सम्भवत: पांचवीं शताब्दी के)। इसी की दो मुख्य शाखायें स्कॉच (Scotch) और गैली (Gaelic) हैं। वेल्श और ब्रिटन का लिखित साहित्य भी ईसा की आठवी शताब्दी का मिलता है। ब्रिटन फ्रांस की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर भी बोली जाता है। सम्भवत: यह ब्रिटेन से ईसा की चौथी शताब्दी में वहां पहुँची होगी। कॉर्निश के प्राचीनतम लेख ईसा की नौवीं शताब्दी तक के मिलते हैं परन्तु यह भाषा सन् १८०० के आसपास लुप्त हो गई।

ऐसे प्रमाण अवश्य मिलते हैं कि यह भाषा-समूह किसी समय योरप के अनेक भागों पर फैला हुआ था जिसमें आधुनिक बोहेमिया, आस्ट्रिया, दक्षिणी-जर्मनी, उत्तरी इटली और फ्रांस के प्रदेश भी सम्मिलित थे परन्तु रोमन आक्रमण के कारण इन प्रदेशों पर लैटिन का आधिपत्य हो गया। जर्मन भाषा-समूह के प्रदेशों से अनेक लोग इन स्थानों पर आकर बस गये थे इसलिये आजकल उन स्थानों पर जर्मन भाषायें बोली जाती हैं।

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ग्रेट ब्रिटेन की प्रमुख भाषा अंग्रेज़ी इस वर्ग की नहीं है यही कारण है कि आयर्लैण्ड के स्वतन्त्र होने के बाद से आयरी (गैली) भाषा का फिर से उद्धार किया जा रहा है। स्थानीय राष्ट्रवाद और पृथक् रहने की भावना के कारण आयरी, वेल्श और स्कॉच भाषायें अंग्रेज़ी में विलीन नहीं हो पाई।

इटाली

इटाली शाखा की भाषाओं को रोमान्स (Romance) भाषायें भी कहा जाता है। इस भाषा समूह में पांच भाषायें अत्यधिक मुख्य हैं–(१) पुर्तगाली (Portuguese)-यह भाषा पुर्तगाल और ब्राजिल में बोली जाती है और अफ्रीका व एशिया के पुर्तगाली उपनिवेशों में राज्यभाषा के रूप में प्रयुक्त की जाती है। (२) स्पेनी (spanish)—यह स्पेन के अधिकांश भाग में तथा ब्राजिल के अतिरिक्त लैटिन अमरीका के अन्य भागों में बोली जाती है। (३)फ्रेन्च (French) फ्रांस और फ्रांस के अन्य प्रदेशों की राज्य-भाषा है। बेल्जियम, बेल्जियन कांगो, स्विज़रलैण्ड और कैनेडा में भी यह एक राज्यभाषा के रूप में मान्य है। (४) इटाली (Italian) यह इटली की राज्यभाषा है। (५) रूमानियन (Roumanian) यह रूमानिया की राज्यभाषा है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक भाषायें भी हैं। स्पेन में ही कैटैलन (Catalan) और गैलिशियन (Galician) विभाषायें स्पेनी से सर्वथा पृथक् हैं। फ्रांस की स्थानीय विभाषाओं को सामूहिक रूप में प्रावेन्शल (Provencal) कहा जाता है। सार्डीनी (Sardinian) भाषा

इटाली भाषा से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार की अन्य भाषायें और विभाषायें भी हैं।

इस वर्ग की सब से मुख्य भाषा लैटिन है जो कि रोम की प्राचीन विभाषा थी। इसके प्राचीनतम लेख ई० पू० 300 के मिलते हैं। इस भाषा को इस वर्ग की सभी आधुनिक भाषाओं की जननी कहा जाता है। इस भाषा के दो मुख्य रूप माने जाते है—(१) साहित्यिक-लैटिन (Classical Latin) (२) लोक सामान्य लैटिन (Vulgar Latin) अधिकांश में रोमान्स भापाओं का विकास इसी लोक सामान्य लैटिन से ही माना जाता है।

इटली में प्राचीन काल में अनेक अन्य भारोपीय भाषायें बोली जाती थीं। जो भाषायें लैटिन के साथ घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित थीं उन्हें इटाली कहा जाता है। ओस्कन (Oscan) उम्ब्रियन (Umbrian) और वेनेटिक (Venetic) ऐसी ही भाषाये थीं। अन्य भाषाओं का सम्बन्ध लैटिन के साथ नहीं था। इस प्रकार की एक प्रमुख भाषा एत्रुस्कन (Etruscan) थी जिसे भारोपीय भाषा नहीं माना जाता।

इस परिवार की कुछ भाषाये लुप्त भी हो चुकी है जैसे—डैल्मेशियन (Dalmation); एक विभाषा रैगुसन (Ragusan) भी पन्द्रहवीं शताब्दी में और वेलिओट (Veliote) उन्नीसवी शताब्दी में लुप्त हो गई।

लैटिन और संस्कृत में अत्यधिक समानता है। इस भाषा की केल्टिक भाषा-समूह के साथ भी विशिष्ट समानतायें देखने को मिलती हैं। इस लिये कुछ लोगों का यह भी विचार है कि इटाली और केल्टिक भाषा समूह का एक ही उपविभाग इटाली-केल्टी (Italo-Celtic) था।

३. जर्मन

जर्मन भाषाओं को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है—(१) अंग्रेजी-फ़्रिजियन (२) डच-जर्मन (३) स्कैण्डीनेवियन। न केवल

जर्मन भाषाओं में बल्कि संसार की सारी भाषाओं में अंग्रेज़ी का विस्तार सबसे अधिक हैं क्योंकि यह भाषा न केवल इस के मूल निवासियों द्वारा बोली जाती है बल्कि योरप और एशिया के अन्य देशों में भी फैली हुई है। यह भाषा यद्यपि अन्य जर्मन भाषाओं के साथ सम्बन्धित है तथापि कई रूपों में उन से भिन्न भी है। इस का नाम एङ्गल (Angle) जाति के नाम पर रखा हुआ है। इस जाति के लोगों ने सैक्सन और जूट जातियों के साथ मिल कर ईसा की पांचवीं शताब्दी में ब्रिटेन पर आक्रमण किया था और विजय प्राप्त करने के बाद अपनी भाषा को प्रचलित कर दिया। पन्द्रह सौ वर्षों से जर्मन भाषाओं से अलग रहने के कारण अंग्रेज़ी में भिन्नता आ जाना स्वाभविक ही है परन्तु अंग्रेज़ी के आठवीं और नौवीं शताब्दी के उपलब्ध लेखों की भाषा जर्मनी के प्राचीनतम उपलब्ध लेखों की भाषा से काफी मिलती जुलती है। फ्रिज़ियन भाषा नैदरलैण्ड्स और जर्मनी के बहुत कम लोगों द्वारा बोली जाती है। तेरहवीं शताब्दी के उपलब्ध प्राचीनतम फ्रिज़ियन ग्रन्थों की भाषा अंग्रेज़ी से बहुत अधिक मिलती-जुलती है इस लिये यह सम्भावना की जाती है कि इन दोनों भाषाओं का एक ही मूल रूप था जिसे आंग्लफ़्रिज़ियन (Anglo-Frision) कहा जा सकता है।

उच्च-जर्मन वर्ग की तीन भाषायें मुख्य हैं—(१) जर्मन (२) डच (६) फ्लेमिश। जर्मन भाषा के दो उपविभाग हैं—(१) डच जर्मन, यह दक्षिण प्रदेश की भाषा है। ग्रिम नियम के अन्तर्गत पीछे इनके सम्बन्ध में उल्लेख किया जा चुका है। डच और फ्लेमिश भाषायें बेल्जियम और नैदरलैण्ड्स में बोली जाती हैं और निम्न जर्मन पर आधारित हैं। जर्मन और डच भाषाओं का विस्तार विदेशों में भी हुआ है। दक्षिणी अफ्रीका की अफ़्रीकान्स् भाषा का विकास डच से हुआ है। यिद्दिश मूल रूप में जर्मन की ही एक विभाषा है।

स्कैण्डीनेवियन वर्ग की दो भाषायें मुख्य हैं—(१) डेन्मार्क प्रदेश की डेनिश और (२) स्वेडन व फ़िनलैण्ड प्रदेश की स्वीडिश। आइसलैण्डी भाषा

भा इसी वर्ग की है । इस भाषा के प्राचीन लेख ईसा की बारहवीं शताब्दी तक के मिलते हैं ।

जर्मन वर्ग का विभाजन एक और रूप में भी किया जाता है । (१) पूर्वी (२) उत्तरी (३) पश्चिमी। पूर्वी भाग में प्राचीनतम गॉथिक का उल्लेख किया जाता है जिसके सम्बन्ध में ग्रिम नियम के अन्तर्गत पहले ही विचार किया जा चुका है। स्कैण्डीनेवियन भाषायें उत्तरी वर्ग की हैं और अन्य भाषायें पश्चिमी जर्मन वर्ग की।

४. ग्रीक

भारोपीय भाषाओं मे ग्रीक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के बाद प्राचीनतम उत्कृष्ट साहित्य इसी भाषा में मिलता है। होमर के लिखे दो उत्कृष्ट महाकाव्य इलियड (Iliad) और ओडेसी (Odessy) इसी भाषा में हैं। यह स्मरणीय है कि प्राचीन ग्रीक की अनेक विभाषायें थीं जिन में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—डोरिक, एग्रोलिक, आयोनिक, एटिक, मैसीडोनी आदि। यह अत्यन्त आवश्यक है कि विभाषागत इन विभिन्नताओं की ओर पूरा पूरा ध्यान दिया जाय। इन विभाषाओं में सर्वाधिक सामान्य रूप धारण करने वाली विभाषा को कोइनी (Koine) कहा जाता था। इसी से अनेक आधुनिक ग्रीक विभाषाओं का विकास हुआ है। आधुनिक ग्रीक भाषा का विकास एटिक नाम की विभाषा से हुआ है। ग्रीक विभाषाओं के ईसा से सातवीं शताब्दी पूर्व तक के लेख मिलते हैं। संस्कृत और ग्रीक भाषाओं में अत्यधिक समानता है।

५. तोख़ारी

सन् १९०४ में मध्य एशिया के चीनी तुर्किस्तान प्रदेश में तोखारी भाषा के कुछ लेख मिले थे। ये लेख ईसा की छठी शताब्दी के हैं। आज-कल यह भाषा सर्वथा लुप्त हो चुकी है, केवल इन्हीं प्राचीन लेखों के आधार पर ही इसका विश्लेषण किया जा सकता है। मुख्य रूप में इस

भाषा के दो रूप माने गये हैं। (१) पूर्वी और (२) पश्चिमी। पूर्वी तोखारी का क्षेत्र कश्शर के चारों ओर का प्रदेश है और पश्चिमी तोखारी का क्षेत्र कूच के चारों ओर का प्रदेश है। संस्कृत का इस वर्ग पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है परन्तु समानता की दृष्टि से यह केल्टी वर्ग के अधिक निकट है इसलिये यह अनुमान लगाया जाता है कि एशिया माइनर के किसी शासक ने केल्टी भाषा बोलने वालों को अपने किसी दूर प्रदेश में भेज दिया होगा जिससे इस भाषा का विकास हुआ होगा। यह भी सम्भव है कि इस भाषा को बोलने वाले स्वयं ही तुर्किस्तान के प्रदेशों में चले गये होंगे क्योंकि ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में केल्टी जाति के लोग एशिया माइनर में आकर बस गये थे[1]।

६. हित्ती

हित्ती या हित्ताइत भाषा हित्ताइत साम्राज्य की भाषा थी। यह आजकल लुप्त हो चुकी है परन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में एशिया माइनर के प्राचीन कप्पदोकिया प्रदेश के बोगजकोई (Boghazkoi) स्थान पर इसके अनेक लेख उपलब्ध हुए हैं जो कीलाक्षरों में हैं और लगभग ईसा पूर्व १४०० के है। ये लेख ईसा पूर्व १९वीं शताब्दी तक की भाषा के नमूने माने जाते हैं। रूपरचना की दृष्टि से यह भाषा अधिकांश में भारोपीय भाषा से मिलती जुलती है परन्तु इस पर अनेक विदेशी शब्दों का प्रभाव पड़ा है। कई एक ध्वनियां भी भारोपीय भाषा की ध्वनियों से भिन्न हैं। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि यह भाषा भारोपीय के अन्तर्गत न होकर मूल रूप में भारत-हित्ताइत (Indo-Hittit) के साथ सम्बन्धित है। इसी के दो उपविभाग हत्ती और भारोपीय हुए।

---

1. See A short Introduction to the Study of Comparative Grammar (Indo-European) by T. Hudson-Williams P. 16.

सतम् वर्ग की भाषाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

१. अल्बानी

अल्बानी-भाषा एड्रियाटिक सागर के पूर्वी तट पर बोली जाती है। इसका अधिकतर साहित्य ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के बाद का ही मिलता है इससे पूर्व का नहीं। अधिकांश में लोक-गीत ही मिलते हैं। इस भाषा की अनेक विभाषायें हैं जिनमें गेग (Geg) और टोस्क (Tosk) का विशेष उल्लेख किया जाता है। गेग विभाषा शुम्बी नदी के उत्तर में बोली जाती है और टोस्क विभाषा उसके दक्षिण में बोली जाती है। इस भाषा पर दूसरी भाषाओं के अनेक शब्दों का प्रभाव पड़ा है परन्तु मूल रूप में यह भारोपाय परिवार के साथ ही सम्बन्धित है।

२. आर्मीनी

आर्मीनी भाषा ईसा की पांचवी शताब्दी से आर्मीनिया प्रदेश में बोली जाती है। आजकल यह भाषा आर्मेनिया से बाहर के भी कुछ स्थानों पर प्रयोग में लाई जाती है। इस भाषा में पांचवी शताब्दी का बाइबल का एक अनुवाद मिलता है। इसकी अनेक विभाषायें है जिनका विकास बारहवीं शताब्दी के बाद से माना जाना है। आर्मेनिया का ईरान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है इसलिये इस पर ईरानी भाषा का बहुत प्रभाव पड़ा है। इसमें फ़ारसी के दो हजार से भी अधिक शब्द मिलते है। यही कारण है कि पहले इसे भारत-ईरानी वर्ग की ही एक शाखा मान लिया गया था परन्तु अब इसकी स्वतन्त्र सत्ता ही मानी जाती है। इस का केन्द्र काकेशस पर्वत का दक्षिणी भाग होने के कारण इस पर काकेशी भाषाओं का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त सभी भाषाओं और तुर्की का भी प्रभाव कम नहीं पड़ा। यह सब कुछ होते हुए भी रूप रचना की दृष्टि से यह मूल रूप में भारोपीय भाषा के साथ ही सम्बन्धित है।

३. बाल्टी-स्लावी

बाल्टी और स्लावी वस्तुत: दो वर्ग हैं परन्तु ये दोनों वर्ग एक दूसरे के साथ इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि इन्हें एक वर्ग ही मान लिया जाता है। जितनी समानता भारतीय और ईरानी भाषा में है उतनी इन दो वर्गों में नहीं क्योंकि प्राचीन भाषाओं की दृष्टि से अनेक विभिन्नतायें भी देखने को मिलती है फिर भी घनिष्ठ सम्बन्ध को देखते हुए इन्हें एक ही वर्ग के अन्तर्गत रखना ठीक है।

बाल्टी

बाल्टी वर्ग की मुख्य भाषायें तीन हैं—(१) प्राचीन प्रशियाई (२) लिथुएनी (३) लेटेवी। प्राचीन प्रशियाई इस समय सर्वथा लुप्त हो चुकी है परन्तु इस भाषा में ईसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के कुछ लेख मिलते हैं। सत्रहवीं शताब्दी में यह भाषा सर्वथा नष्ट हो गई। लिथुएनी भाषा का साहित्य ईसा की सोलहवीं शताब्दी (१५८७ ई०) से मिलता है। इस के दो मुख्य भेद हैं (१) उच्च और (२) निम्न। उच्च लिथुएनी भाषा लिथुआनिया के दक्षिणी भाग में बोली जाती है और निम्न लिथुएनी इसके उत्तरी भाग में बोली जाती है। लेटेवी भाषा का प्रयोग लैटविया में होता है। इस के मुख्य रूप में तीन भेद माने जाते हैं। (१) निम्न (२) मध्य (३) उच्च। निम्न लेटेवी पश्चिमी कुर्लैण्ड और लिबोनिया में बोली जाती है तथा उच्च लेटेवी दक्षिण-पूर्वी लिबोनिया और कुर्लैण्ड के पहाड़ी भाग की बोली है। इन दोनों के मध्यवर्त्ती प्रदेश में मध्य लेटेवी का प्रयोग किया जाता है। लेटेवी भाषा लिथुएनी भाषा की अपेक्षा अधिक उन्नत है। लिथुआनिया और लैटविया की राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद इन भाषाओं का और भी अधिक विकास किया जा रहा है।

स्लावी

बाल्टी वर्ग की भाषाओं से स्लावी वर्ग की भाषायें अधिक महत्त्वपूर्ण

हैं। पूर्वी योरप के अधिकांश भाग में इनका व्यवहार होता है जिन में सब से अधिक महत्त्व रूसी भाषा का है जो मूलरूप में मास्को के आसपास के प्रदेश तक ही सीमित थी परन्तु अब यह उत्तरी एशिया तक बोली जाती है। इस प्रदेश की अनेक भाषाओं को यह समाप्त करती जा रही है। विश्व की महान् भाषाओं में इसकी गणना की जाती है। सामाजिक और राजनैतिक महत्त्व की दृष्टि से अंग्रेज़ी के बाद इसी का स्थान है।

स्लावी वर्ग के तीन मुख्य भेद हैं—(१) दक्षिणी (२) उत्तरी (३) पश्चिमी। दक्षिण की मुख्य भाषायें पुरानी और अर्वाचीन बल्गेरी तथा सर्बो-क्रोटी हैं। पुरानी बल्गेरी भाषा को पुरानी स्लावी भाषा भी कहा जाता है। इस का साहित्य ईसा की नौवीं शताब्दी तक का मिलता है। उत्तर की मुख्य भाषायें महारूसी, श्वेत रूसी और लघुरूसी हैं। इनमें महारूसी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसके सम्बन्ध में ऊपर लिखा गया है। पश्चिम की मुख्य भाषायें पोलिश और चेक हैं।

५. भारत-ईरानी

इस वर्ग को आर्य वर्ग-भी कहा जाता है। यह वर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारोपीय परिवार की सब से मुख्य भाषा संस्कृत का सम्बन्ध इसी वर्ग के साथ है। इस वर्ग के मुख्य भेद तीन है। (१) ईरानी (२) दर्दी (३) भारतीय। ईरानी की प्राचीनतम भाषायें अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी हैं। भारतीय वर्ग की प्राचीनतम भाषा वैदिक संस्कृत है। अवेस्ता और वैदिक संस्कृत घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। इन दोनों का मध्यवर्ती रूप दर्दी भाषा है। इस वर्ग के सम्बन्ध में आगे विस्तार से विचार किया गया है क्योंकि हिंदी का सम्बन्ध इसी वर्ग के साथ है।

अन्य भाषायें

उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त प्राचीनकाल में अन्य भारोपीय भाषायें भी थीं जो या तो सर्वथा लुप्त हो चुकी हैं अथवा उनके बहुत थोड़े

अवशेष बचे हुए हैं। इनमें से कुछेक भाषाओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) **थ्रेशियन** यह सतम् वर्ग की भाषा थी और किसी समय मैसेडोनिया से लेकर दक्षिणी रूस तक फैली हुई थी। (२) **फ्रीजियन**—यह भी सतम् वर्ग की भाषा थी, इसका उद्भव लगभग बारहवी शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। विद्वानों का यह भी विचार है कि यह भाषा मूल रूप में थ्रेशियन के साथ सम्बन्धित थी। (३) **इलीरियन**—कुछेक विद्वानों का यह विचार है कि अल्बानी भाषा की जननी यही भाषा थी। इस प्रकार इस भाषा के दो मुख्य वर्ग माने जाते है—इलीरियन और एपिराट। इलीरियन से दो भाषायें बेनेष्यिन और लिबर्नियन विकसित हुई। एपिराट से मेस्सापियन और अल्बानी विकसित हुई। इस सम्बन्ध में एक और दृष्टिकोण भी है जिसके अनुसार अल्बानी का विकास थ्रेशियन से माना जाता है। वस्तुत: प्राचीन भाषाओं के सम्बन्ध में इतनी सामग्री उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष को स्वीकार कर लिया जाय[1]। (४) ओस्को अम्ब्रियन (५) वेनेटिक – इन दोनों का उल्लेख इटाली के अन्तर्गत किया जा चुका है।

नामकरण

आधुनिक काल में भारोपीय नाम से प्रसिद्ध कोई भाषा अत्यन्त प्राचीन काल में थी तो अवश्य-जिससे उपयुक्त अनेक भाषाओं का विकास हुआ परन्तु वह भाषा कौन सी थी, उस की विशेषतायें क्या थी, उसका नाम क्या था इत्यादि बातों का कुछ भी पता नहीं। उसका स्वरूप तो उससे विकसित प्राचीन भाषाओं की तुलना के आधार पर निश्चित किया

---

1. "Illyrian, with its South Italian offshoot Messapian. This may be the parent of the modern Albanian but an alternative theory would derive the latter from Thratian. This uncertainty illustrates the extreme paucity of our information about these ancient languages". T. Burow. The Sanskrit Language.

जाता है परन्तु उसका वास्तविक नाम क्या था—यह अनुमान या कल्पना के लिये बहुत दूर की बात है। इस लिये विद्वानों ने सुविधा की दृष्टि से इसका नाम स्वयं रख लिया है। इस नामकरण के सम्बन्ध में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

अधिकांश में आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रारम्भ जर्मन विद्वानों ने ही किया है। ये विद्वान् कई वर्षों तक अनेक परस्पर सम्बन्धित भाषाओं का अध्ययन करते रहे। अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ये भाषायें एक ओर तो भारतवर्ष में फैली हुई हैं तो दूसरी ओर जर्मन प्रदेश में, इस लिए उन्होंने इस का नाम इंडो-जर्मनिक (Indo-Germanic) रखा। यह नाम कई वर्षों तक प्रचलित रहा परन्तु बाद में केल्टी वर्ग की भाषाओं का इस भाषा से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर इण्डो-जर्मनिक की अपेक्षा इंडो-केल्टिक (Indo-Celtic) नाम अधिक उपयुक्त माना गया। क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से दोनों किनारे भारत और केल्टी प्रदेश ही हैं। यह नाम अधिक प्रचलित नहीं हो पाया। जर्मन में इंडो-जर्मनिक नाम का ही प्रयोग किया जाता रहा और अभी तक जर्मन विद्वान् इसी का प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में सब से अधिक उपयुक्त नाम यही है। अन्य विद्वानों द्वारा इस नाम को छोड़ने का कारण वे जर्मनी के प्रति विद्वेष को मानते हैं।

इस परिवार की सबसे अधिक मुख्य भाषा संस्कृत है। इसीके आधार पर इस परिवार का नाम संस्कृतिक (Sanskritic) भी रखा गया परन्तु यह नाम भी ठीक नहीं माना गया क्योंकि इस परिवार की सभी भाषाओं का उद्गम स्रोत संस्कृत नहीं है बल्कि इसका स्थान भी वही है जो ग्रीक, लैटिन आदि का है। बाइबल में हजरत नौह के तीन पुत्रों का उल्लेख मिलता है। उनके दो पुत्रों के आधार पर सामी और हामी भाषापरिवार हैं परन्तु तीसरे पुत्र जैफ के नाम पर कोई भाषा परिवार नहीं इस लिये इस भाषा परिवार का नाम 'जैफाइट' रखने का निश्चय किया गया परन्तु यह नाम भी ठीक नहीं समझा गया। मानव जाति का जैसा वर्गीकरण बाइबल

में मिलता है वैसा सर्वथा ठीक नहीं। दूसरी बात यह है कि बहुत से जैफेटिक लोगों की भाषा का इस परिवार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं और ऐसी भाषाएं बोलने वालों की सख्या बहुत अधिक है जिन का इस परिवार के साथ तो सम्बन्ध है परन्तु वे अपने आपको जैफैटिक नहीं कहते।

यदि जाति की दृष्टि से नाम रखा जाय तो सर्वाधिक उपयुक्त नाम आर्य है। इस नाम का विरोध दो कारणों से किया गया। एक तो यह कि यह जातिवाची है और इससे इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाले सभी आर्य मान लिये जायेगे। दूसरा कारण यह है कि यह नाम इस परिवार की एक शाखा भारत-ईरानी के लिये अधिक प्रचलित है। जो भी हो, यह नाम भी इस परिवार के लिये प्रचलित न हो सका।

व्यवहार में भारोपीय (Indo-European) का सब से अधिक प्रयोग होता है। इस नाम को रखने का अधिकतर कारण यही है कि इस परिवार की अधिकांश भाषायें भारत और योरप में हैं। यह नाम सब से अधिक उपयुक्त समझा गया है। इस नाम में भी अनेक दोष हैं। पहला दोष तो यह है कि इस नाम से यह भ्रम होता है कि भारत और योरप में बोली जाने वाली सभी भाषायें भारोपीय हैं। वस्तुतः बात ऐसी नहीं। अनेक भाषायें भारत और योरप में बोली जाती हुई भी भारोपीय नहीं हैं. जैसे – बास्क, फ़िनिश और भारत में द्राविड़ परिवार की भाषायें। दूसरा दोष यह है कि इस परिवार से सम्बन्धित अनेक भाषायें न भारत में बोली जाती हैं और न योरप में—जैसे ईरानी और आर्मीनी। फिर भी भारोपीय शब्द के ही अधिकांश रूप में प्रचलित हो जाने के कारण यही नाम अधिक उपयुक्त है।

भारोपीय का मूलस्थान

भारोपीय भाषाओं का जो संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया है उससे यह स्पष्ट ही है कि इस परिवार की भाषायें विश्व के अनेक स्थानों पर फैली हुई हैं परन्तु उनका परस्पर सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि यह

अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि अति प्राचीन काल में इस परिवार का मूल स्थान कोई एक था जहाँ से विस्तृत होकर यह अन्य स्थानों में फैल गया। अब प्रश्न यह उठता है कि वह मूल स्थान कौन सा था? इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि मूल स्थान के बारे में कोई निश्चित प्रमाण तो उपलब्ध नहीं होते, इस सम्बन्ध में केवल कल्पना का ही सहारा लिया जाता है। कल्पना विविधरूपिणी हो सकती है और यह आवश्यक नहीं कि वह हमें सत्य के निकट भी पहुंचा सके।

इस प्रश्न के साथ ही भारोपीय भाषा बोलने वाली मूल जाति और उसके निवास स्थान का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। यदि हम भारतीय परम्पराओं की दृष्टि से इस विषय पर विचार करें तो निःसन्देह यह मानना पड़ता है कि भारत के मूल निवासी आर्य थे। भारतवर्ष की पवित्र भूमि या सप्तसिन्धु प्रदेश पर ही आर्यों की सस्कृति का विकास हुआ। इस प्रकार उनकी मूल भाषा (वैदिक संस्कृत) का प्रादुर्भाव भी यहीं पर हुआ। सहस्रों वर्षों से यही परम्परा भारत में चली आ रही है और आज भी जब हम केवल भारतीय भाषाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो अधिकतर भाषाओं का उद्गम स्रोत यही वैदिक सस्कृत है। दक्षिण की कुछ भाषायें इससे भिन्न स्रोत की दिखाई देती हैं परन्तु उन पर भी संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई देता है कि यह मानने में संकोच नहीं होता कि अति-प्राचीनकाल से भारतवर्ष में आर्य-संस्कृति और आर्यभाषा का ही आधिपत्य रहा है। दूसरी ओर भारत के सम्पूर्ण प्राचीन वाङ्मय में इसी बात के ही उल्लेख मिलते हैं कि आर्य लोग आर्यावर्त्त या भारतवर्ष के ही मूल निवासी हैं। किसी समय इस देश की सभ्यता और संस्कृति इतनी उन्नत थी कि सारा संसार इसके आगे सिर झुकाता था। यहां के महान् ऋषि-मुनि और विद्वान् ज्ञान का अमित भण्डार थे कि विश्व के लोग ज्ञानार्जन के लिए उनकी शरण में आते थे। यदि भारतवर्ष की इस प्राचीन परम्परा को स्वीकार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि भारोपीय-भाषा

का मूल स्थान भारतवर्ष ही है और इसके मूल बोलने वाले आर्य ही थे। आर्य-संस्कृति के विस्तार के साथ ही आर्यभाषा का भी विस्तार हुआ। यह भाषा इसी प्रकार एशिया और योरप के देश देशान्तरों तक फैल गई। इस आधार पर विचार करने पर तो भाषा का नाम भारोपीय न रख कर वैदिक संस्कृत रखना ही अधिक उपयुक्त होगा।

यह भी कहा जाता है कि मानव सृष्टि का विकास त्रिविष्टप (आधुनिक तिब्बत) में हुआ था इस आधार पर आर्यों का आदि देश भारत का उत्तरी भाग भी माना जाता है। चाहे सप्तसिन्धु प्रदेश को आर्यों का मूल स्थान माना जाय चाहे तिब्बत को—बात एक ही है कि भारोपीय-भाषा का मूल स्थान भारतवर्ष ही है क्योंकि अति प्राचीन काल में तिब्बत भी तो भारत का ही एक भाग था।

भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध नेता और महान् विद्वान् लोकमान्य तिलक ने वैदिक ऋचाओं के आधार पर उत्तरी-ध्रुव प्रदेश (North Polar Region) को ही आर्यों का मूल स्थान बताया। वैदिक ऋचाओं में उषा का बहुत महत्त्व है। बड़े बड़े दिन बड़ी बड़ी रातों का भी वर्णन है। इस प्रकार का स्थान जहां बड़े बड़े दिन और बड़ी बड़ी रातें हों—उत्तरी-ध्रुव प्रदेश ही है।

यदि हम भाषाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से इस विषय पर विचार करें तो हमारे सम्मुख एक अन्य समस्या आ खड़ी होती है। इस में कोई सन्देह नहीं कि अनेक भारतीय भाषाओं में परस्पर अत्यधिक समानता है—इन भाषाओं का मूल आधार संस्कृत ही है परन्तु जब हम भारोपीय भाषा की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें अपने दृष्टिकोण को केवल भारतीय भूमि तक सीमित नहीं रखना चाहिये क्योंकि भारोपीय भाषाओं को बोलने वाले ईरान, आर्मीनिया, अल्बेनिया, योरप आदि अनेक भागों में फैले हुए हैं। इन सब भागों में बोली जाने वाली भाषाओं के आधार पर ही किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना अधिक उपयुक्त और युक्ति-संगत होगा।

भाषा-विज्ञानियों ने इस समस्या पर विचार करते हुए भारोपीय भाषा बोलने वाली जाति का नाम वीरोस् (Wiros) कल्पित किया है । संस्कृत में वीर, लैटिन में उईर, जर्मन मे वेर् और प्राचीन आइरी में फेर शब्द इसी के समानान्तर है । प्राचीन भारोपीय भाषा में इस का अर्थ मानव था। यह तो निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस जाति के वास्तविक वंशज कौन हैं तथापि भाषा की दृष्टि से सभी भारोपीय भाषा-भाषी व्यक्ति इनके वंशज माने जा सकते है । आधुनिक युग में जातिगत पवित्रता की बात तो सोची भी नही जा सकती । वर्णाश्रम की दृष्टि से कट्टर कहलाने वाले भारतवर्ष मे भी वर्णसङ्कर इतना अधिक हो चुका है कि आसानी से मूल आर्य जाति को पृथक् नही किया जा सकता । भले ही कुछ लोग वंशगत असली रक्त का दावा करते रहें परन्तु इस प्रकार की स्थिति संसार मे कहीं भी देखने को नहीं मिलती ।

विद्वानों ने वीरोस् जाति की कुछ विशेषताओं की कल्पना अवश्य की है। यह कहा जाता है कि इस जाति के लोग अश्व-पालन की ओर अधिक ध्यान देते थे। प्राचीनकाल में ऐसी जातियाँ भी थीं जो बैल (उक्षन्=Oxen), ऊँट या गधे का ही प्रयोग करती थीं। घोड़े के सामने इन जातियों की एक भी न चल सकती थी इस लिये वीरोस् जाति के लोग अधिक पराक्रमी और शक्तिशाली माने जाते थे। इन की आजीविका के मुख्य साधन पशुओं का पालन और आखेट (शिकार) थे । यौन व्यवहारों में ये लोग अधिक संयमी थे और स्त्रियों का अधिक आदर किया करते थे। अधिक विवाह करने का रिवाज उन दिनों नहीं था। धार्मिक दृष्टि से इन लोगों का किसी अदृश्य सत्ता पर विश्वास था। यह समाज अच्छी तरह से संगठित था और इसी लिये ये लोग जहां भी जाते थे वहीं उनकी विजय निश्चित थी ।

इसी जाति के लोगों ने बहुत सी बातें दूसरे लोगों से भी सीखीं थीं । विशेषतया खेती-बारी का काम इन्होने दूसरो से सीखा ।

इन के अपने मूल निवास स्थान पर फलों के पेड़ नहीं थे। फलों का प्रयोग करना भी इन्होंने दूसरी जाति के लोगों से सीखा। खेती-बारी सीखने पर इन्हें गाय और बैल की आवश्यकता प्रतीत हुई ; इसी लिये घोड़े के साथ साथ ये लोग गाय और बैल के महत्त्व को समझ कर उन का भी पालन करने लगे। इसी प्रकार की अन्य बातें भी इस जाति के सम्बन्ध में कल्पित की गई हैं जो विशेषतया भाषावैज्ञानिक अध्ययन पर ही आधारित हैं।

वीरोस् जाति के मूल स्थान की कल्पना के विभिन्न सिद्धांत हैं। इटली के सुप्रसिद्ध विद्वान् सर्जी (Sergi) के अनुसार इस जाति का मूल स्थान एशिया माइनर के ऊँचे स्थान है। मैक्समूलर (Max Muller) के अनुसार यह मध्य एशिया है। लाथम (Latham) मध्य एशिया पक्ष के कट्टर विरोधी थे। वे वीरोस् जाति का मूल स्थान योरप का ही कोई विशेष भाग मानते थे। वे स्कैण्डेनेविया को ही मूल स्थान मानने के पक्ष में थे। अन्य अनेक विद्वानों ने भी इस दृष्टि से विचार किया और पूर्वी या दक्षिणी रूस, उत्तर जर्मनी, पोलैण्ड, लिथुआनिया आदि कितने ही देशों का नाम लिया गया। डा० पी. गाइल्ज़ ने हंगरी को मूल स्थान माना।[1] हड्सन विलियम्ज़ (T. Hudson Williams) ने मध्य योरप की सम्भावना की है।[2] टी. बर्रो भी योरप के पक्षपाती हैं।[3] उन का मूल तर्क यही है कि अधिकतर भारोपीय भाषायें अतिप्राचीनकाल से योरप की भूमि पर ही बोली जाती हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में एशिया में तोखारी भाषाओं के मिलने से एशिया के पक्ष को और भी बल मिला था परन्तु टी. बर्रो का यह विचार है कि केवल एक भाषा-समूह के मिलने से

---

1. Cambridge History of India Vol. I Ch. III.

2. A Short Introduction to the Study of Comparative Grammar (Indo-European) P. 17.

3. The Sanskrit Language.

ऐसा कहना ठीक नहीं। तोखारी भाषा पर इतने विदेशी प्रभाव पड़ चुके हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह भाषा अपने मूल स्थान से बहुत दूर चली गई होगी। इसी प्रकार के परिवर्तन हित्ती भाषाओं में भी हो चुके हैं इसी लिये सम्भावना यही है कि आक्रमण पश्चिम से पूर्व की ओर हुए होंगे। इसलिये मूल स्थान योरप ही है।

योरप में मूल निवास स्थान के पक्षपाती विद्वान् जिस प्रकार के तर्क प्रस्तुत करते हैं उनमें कोई सार नहीं। वे संस्कृत के महत्त्व को समझते हुए भी जान-बूझ कर उसकी उपेक्षा कर जाना चाहते हैं। हम यह तो नहीं कहना चाहते कि योरप में मूल स्थान असम्भव है परन्तु इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि उसके लिये प्रबल प्रमाण अवश्य होने चाहियें। योरप में अनेक भारोपीय भाषाओं की सत्ता ही कोई तर्क नहीं है क्योंकि किसी अन्य स्थान से चलकर कोई भाषा दूर दूर तक फैल सकती है। यह भी तो सम्भव है कि भारोपीय भाषा का विस्तार एशिया के ही किसी भाग से हुआ हो और वह दूर योरप तक फैल गई हो। एशिया में अनेक अन्य भाषायें भी हों जो अधिक विश्लेषण करने के बाद भारोपीय परिवार की ही सिद्ध हों।

शुद्ध रूप से भाषा-वैज्ञानिक और भौगोलिक दृष्टि से इस समस्या पर ब्रैंडेंस्टाइन (Brandenstein) ने विचार किया है। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी[1] ने उन्हीं के मत का विशिष्ट उल्लेख करते हुए उसे स्वीकार किया है। ब्रैंडेंस्टाइन का यह विचार है कि प्राचीन भारोपीय भाषा-भाषी लोगों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) जब वे लोग एक ही स्थान पर इकट्ठे रहते थे और उनमें भाषा की दृष्टि से विभिन्न वर्ग नहीं बने थे। यह उनका प्राथमिक काल था। (२) जब भारत-ईरानी वर्ग अलग हो गया और मूल स्थान से दूर किसी अन्य स्थान पर पहुंच गया और भारोपीय की मुख्य शाखा के लोग भी वहां से दूर चले गये। यह उनका उत्तर

1. Indo-Aryan and Hindi.

काल.था। ब्रैंडेंस्टाइन ने अपने मत की पुष्टि में कुछ शब्दों के उदाहरण भी दिये हैं। जैसे मूल भारोपीय भाषा में एक शब्द *ग्वेर् या *ग्वेरौ था। भारत-ईरानी शाखा की प्रमुख भाषा संस्कृत में इसका समानान्तर शब्द ग्रावन् है। अर्थ संकोच हो जाने से इसका अर्थ 'सोमरस निकालने वाला पत्थर' होगया। परन्तु भारत-ईरानी शाखा से भिन्न वर्ग की भाषाओं में इसका अर्थ भिन्न है। इस का अर्थ चक्की का पत्थर और तत्पश्चात् 'हाथ-चक्की' हो गया। पुरानी अंग्रेजी का cweorn और आधुनिक अंग्रेज़ी का quern शब्द इसी अर्थ को बताते हैं। भारोपीय-भाषा की एक धातु √ *मल्ग् में भी यही बात देखने को मिलती है। इसका मूल अर्थ रगड़ना है। सस्कृत में यही धातु √मृज्-शोधने या √मृश् स्पर्शने के रूप में विद्यमान है। भारत-ईरानी वर्ग की भाषाओं से अतिरिक्त अन्य भाषाओं में इसका अर्थ दूध दोहना हो गया। अंग्रेज़ी में यही धातु √milch विद्यमान है। इसी से बाद में अंग्रेज़ी milk शब्द बना। इस प्रकार भारोपीय भाषा के दो वर्गों में बँट जाने की बात स्पष्ट ही है।

ब्रैंडेस्टाइन ने शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर भारोपीय-भाषा के मूल स्थान की प्रादेशिक या भौगोलिक विशेषताओं के भी अन्वेषण का प्रयत्न किया और इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारोपीय लोग किसी सूखी चट्टानों वाले पहाड़ी स्थान पर रहते थे। वहां पर हरे-भरे जंगल नही थे। केवल कुछेक वृक्ष, जैसे-बज (oak), वेतस (willow) भूर्ज (birch) आदि ही थे। जानवरों में अश्व के अतिरिक्त बड़ा बारह-सिंघा, लोमड़ी, खरगोश, चूहा आदि कुछ जानवरों से ही उनका परिचय था। सुमेरी जाति के प्रभाव के कारण ही उनका परिचय गाय से हुआ। सुमेरी भाषा में गाय के लिये गुद (gud) शब्द है परन्तु इसका उच्चारण 'गु' रूप में ही होता है। इसी का समानान्तर संस्कृत शब्द गौ और अंग्रेज़ी शब्द Cow है। इसका प्राचीन भारोपीय शब्द *ग्वोउस् (gwous) कल्पित किया गया।

उपर्युक्त भौगोलिक विशेषतायें या तो मध्य-एशिया में देखने को मिलती हैं अथवा योरप के कार्पैथियन से लेकर बाल्टिक प्रदेश तक। इन दोनों में से मध्य एशिया का पक्ष ही अत्यन्त प्रबल है क्योंकि इस पक्ष की पुष्टि के लिये अन्य प्रमाण भी हैं। इसमें कोई सन्देह नहा कि भारोपीय भाषा पर सुमेरी-अक्कादी भाषाओं का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। इन भाषाओं का स्थान मैसोपोटेमिया के आस पास का प्रदेश है। इसी लिये इन भाषाओं के मूल स्थान का निकटवर्त्ती प्रदेश ही भारोपीय भाषा-परिवार का मूल-स्थान हो सकता है यह प्रदेश योरप न होकर मध्य एशिया ही है।

भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मध्य एशिया के सिद्धांत को ही मान्य ठहराया जा सकता है और यह भी कल्पना की जा सकती है कि भारोपीय-भाषा को बोलने वाले दो शाखाओं में विभाजित हो गये। एक शाखा ईरान और भारत तक विस्तृत हो गई जिसे साधारणतया पूर्वी शाखा भी कहा जाता है और दूसरी शाखा केल्टी प्रदेश तक फैल गई। इसे पश्चिमी शाखा भी कहा जाता है। जब तक कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होते तब तक कुछेक विद्वान् इसी मत को मान लेना ही ठीक समझते हैं।

इस मत के विरुद्ध भी एक तर्कपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है। भारतीय इतिहास का जितना प्रामाणिक स्वरूप वैदिक वाङ्मय में देखने को मिलता है उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में सप्तसिन्धु प्रदेश का विस्तृत वर्णन मिलता है और कई अन्य विस्तृत बातों का भी उल्लेख किया गया है तथापि कहीं भी कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह कहा जाय कि वैदिक आर्य कहीं बाहर से आये थे। वस्तुतः आर्यों के बाहर से आकर भारत में बस जाने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में यहां के आर्यों के बाहर से आने की बात आसानी से गले नहीं उतारी जा सकती। डा० सुनीति कुमार चैटर्जी का विचार है कि आर्य लोग इतने धीरे २ आगे बढ़ रहे थे कि वे इस बात को

समझ ही नही पाये कि वे किसी नये प्रदेश में पहुँच गये हैं ।[1] डा. चैटर्जी का यह विचार केवल काल्पनिक ही है । कल्पना कल्पना ही होती है सत्य का रूप धारण नही कर सकती, विशेषतया जबकि कल्पना के विरोधी पुष्ट प्रमाण विद्यमान हो तो उसके लिये विशेष स्थान नही रह जाता । हमें यह मानना पड़ेगा कि अभी तक हम भारोपीय भाषा के मूल स्थान के सम्बन्ध में प्रबल निर्णयात्मक घोषणा नही कर सकते—अभी इस विषय मे निष्पक्ष दृष्टि से और भी अधिक अनुसन्धान करने की आवश्यकता है । भारतीय परम्परा की सत्यता का भले ही पूर्वाग्रह न किया जाय परन्तु उसकी सर्वथा उपेक्षा उचित नही ।

भारोपीय की मुख्य विशेषतायें

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि अनेक महत्त्वपूर्ण भाषाओं की जननी भारोपीय भाषा का कोई भी निश्चित स्वरूप हमारे सामने नही है परन्तु उपलब्ध भाषाओं के प्राचीनतम शब्दों और रूपों के तुलनात्मक अध्ययन और विश्लेषण के बाद भाषा-विज्ञानियों ने मूल भाषा का एक कल्पित ढांचा अवश्य निर्माण कर लिया है । यह तो नहीं कहा जा सकता कि भाषा-विज्ञानी भारोपीय-भाषा मे मूल स्वरूप का निर्माण करने मे सर्वाशत: सफल हुए है परन्तु जितनी सफलता उन्हे प्राप्त हुई है वह कम नही है । अभी भी इस विषय में और अनुसन्धान करने की आवश्यकता है । सम्भव है इसी प्रणाली पर बढते बढते हमे प्रागैतिहासिक काल की बहुत सी ऐसी बातें पता चल जायें जो अभी तक रहस्य के अन्धकारमय गर्भ में ही निहित है । अभी तक के अध्ययन के फलस्वरूप भाषा-विज्ञानी जिन

---

1. The advent of the Aryan tribes into India from Iran appears to have been a slow process, probably occupying generations. The Aryans themselves have not preserved any memory of its in Vedic literature available, for the simple reason that they were not conscious of having entered a new country." Indo-Aryan and Hindi.

निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उनके आधार पर नीचे भारोपीय भाषाओं की कुछेक विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

ध्वनि सम्बन्धी विशेषतायें

भारोपीय भाषा में अनेक ध्वनियां थी। विभिन्न शाखाओं में कुछ मूल ध्वनियां तो उसी रूप मे सुरक्षित है परन्तु कुछ परिवर्तित भी हो गई है। परिवर्तन के कुछेक नियमों के आधार पर प्राचीन रूप का पुनर्निर्धारण किया जा सकता है। पीछे (ध्वनियों का वर्गीकरण, में) ध्वनियों के दो मुख्य वर्ग माने गये है १. स्वर और २. व्यञ्जन। भारोपीय भाषा में कई प्रकार के स्वर और व्यञ्जन विद्यमान थे।

स्वर

१ **मूलस्वर** (Basic या Original)

ह्रस्व[1] —अ, ए, ओ

दीर्घ —आ, ऐ, औ

२. **गौण स्वर** (Secondary या derivative)

ह्रस्व इ, उ

दीर्घ ई, ऊ

इनके अतिरिक्त एक अति ह्रस्व स्वर (Extra short) जिसे श्वा या उदासीन स्वर (Neuter Vowel) कहा जाता है, भारोपीय-भाषा में विद्यमान था। इसके भी दो रूप थे—(१) मूल उदासीन स्वर (Primary

---

1. भारोपीय ध्वनियों को स्पष्ट करने के लिये देवनागरी लिपि के वर्णों का प्रयोग किया गया है परन्तु इस से यह नहीं समझना चाहिये कि ये ध्वनियां सर्वांशत: हिन्दी ध्वनियों के समान हैं। उदाहरणतया हिन्दी में 'ए' ध्वनि दीर्घ है और 'ऐ' ध्वनि मिश्र स्वर है।

Schwa) (२) गौण उदासीन स्वर (Schwa Secondum)। अधिकांश में एक ही उदासीन स्वर का उल्लेख किया जाता है—अ (ǝ)

३. **संयुक्त स्वर** (Diphthongs)

ह्रस्व—अइ, एइ, ओइ, अउ, एउ, ओउ

अइ अउ इअ उअ

दीर्घ —आइ, एइ, ओइ, आउ, एउ, ओउ

भारोपीय भाषा के ह्रस्व ए और ओ भारत-ईरानी में 'अ' में परिणत हो गये और दीर्घ ऐ और औ भारती-ईरानी में 'आ' में परिणत हो गये। पहले विद्वानों की यह धारणा थी कि भारोपीय भाषा में मूल स्वर ध्वनियां केवल 'अ' और 'आ' थीं। ये ध्वनियां मूल रूप में संस्कृत में सुरक्षित हैं। अन्य भारोपीय भाषाओं (ग्रीक, लैटिन आदि) में ये परिवर्तित होकर ए, ओ, ऐ, औ में परिणत हो गई परन्तु तालव्यीभाव के नियम के बाद से इस धारणा को छोड़ दिया गया। तालव्यीभाव के नियम का उल्लेख ध्वनि नियम के अन्तर्गत किया जा चुका है। मूल स्वर 'अ' और 'आ' सभी भाषाओं में सुरक्षित हैं।

भारोपीय भाषा की इ, ई तथा उ ऊ ध्वनियें प्रायः सभी शाखाओं में सुरक्षित है। अति ह्रस्व अ (ǝ) जिसे श्वा या उदासीन स्वर कहा जाता है) भारत-ईरानी शाखा में 'इ' में परिणत हो गया और अन्य कई भाषाओं में 'अ' में परिवर्तित हो गया। यह मूल रूप में अब किसी भी भाषा में सुरक्षित नहीं है।

व्यञ्जन

(१) **स्पर्श**

तालव्य क्' ख्' ग्' घ्' ङ्'

कण्ठ्य क् ख् ग् घ् ङ्

कण्ठ्योष्ठ्य क्व् ख्व् ग्व् घ्व् ङ्व्

दन्त्य (या वर्त्स्य) त् थ् द् ध् न्
ओष्ठ्य प् फ् ब् भ् म्

(२) संघर्षी

ऊष्म स्

(३) गौण संघर्षी

ख् (अघोष तालव्य, कण्ठ्य तथा कण्ठ्योष्ठ्य)
ग् (सघोष)
थ् (अघोष दन्त्य)
द् (सघोष दन्त्य)
ज् (सघोष दन्त्य ऊष्म)

भारोपीय भाषा में तीन प्रकार की कवर्ग ध्वनियां थीं। इन का मूल उच्चारण तो ठीक रूप में पता नहीं परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इनका उच्चारण तालव्य, कण्ठ्य, कण्ठ्योष्ठ्य माना जाता है। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी इससे सहमत नहीं। उनका विचार है कि ये ध्वनियां क्रमशः कंठय, जिह्वामूलीय और ओष्ठ्य थीं।[1] भारोपीय भाषा की प्रथम श्रेणी की कवर्ग ध्वनियां (तालव्य) ग्रीक, लैटिन आदि में तो अन्य कण्ठ्य ध्वनियों के साथ समरूप हो गई परन्तु संस्कृत, अवेस्ता आदि में 'स्' या 'श्' में परिणत हो गई। यही केन्टुम् और सतम् वर्ग की भाषाओं के विभाजन का मूल आधार है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तालव्यीभाव के नियम के अन्तर्गत अन्य कवर्गीय ध्वनियों के तालव्य च् आदि में परिवर्तन का भी विस्तृत वर्णन किया जा चका है। तवर्गीय ध्वनियां दन्त्य थीं या वर्त्स्य—इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक तो नही कहा जा सकता परन्तु अधिकांश में उनके वर्त्स्य होने की ही सम्भावना है। पवर्ग ध्वनियों का उच्चारण प्रायः अपने मूल रूप में सभी भाषाओं में सुरक्षित है।

अघोष महाप्राण ध्वनियों के (ख्, थ्, फ् आदि) के सम्बन्ध में भी

1. Indo-Aryan and Hindi.

विद्वानों में मतैक्य नहीं है। भारोपीय भाषा में यह ध्वनियां विद्यमान थीं या नहीं—इसी पर विचार-विभिन्नता देखने को मिलती है। संस्कृत में ये ध्वनियाँ मुख्य रूप में देखने को मिलती हैं परन्तु अन्य भाषाओं में इन का स्वरूप इतना प्रधान नहीं है।

सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि भारोपीय भाषा में स्वतन्त्र महाप्राण ध्वनि के रूप में 'ह्' की कोई सत्ता नही थी परन्तु हित्ती भाषा के अन्वेषरण के बाद से कुछ विद्वान् मानने लगे हैं कि भारोपीय भाषा में ह् ध्वनि भी थी जो कि हित्ती भाषा में सुरक्षित है परन्तु अन्य विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते।

भारोपीय-भाषा में जितना महत्त्व स्पर्श ध्वनियों का था उतना संघर्षी ध्वनियों का नहीं। एक ऊष्म ध्वनि 'स्' की सत्ता तो निर्विवाद है परन्तु गौरण संघर्षी (ख़्, ग़्, थ़्, द़्, ज़्) ध्वनियों के सम्बन्ध में मत-विभिन्नता देखने को मिलती है। कुछेक विद्वान् भारोपीय भाषा में इन ध्वनियों की अनिवार्य सत्ता स्वीकार नहीं करते। जिन भाषाओं में ये ध्वनियां विद्यमान हैं उनमें इनका अनन्तरकालीन विकास मानना ही वे ठीक समझते हैं। स् ध्वनि अधिकांश भाषाओं में सुरक्षित है परन्तु ग्रीक और ईरानी में यह कुछेक परिस्थितयों में 'ह्' में परिरणत हो जाती है।

अन्त:स्थ

जो ध्वनियाँ न तो पूर्णतया स्वर कोटि में रखी जा सकती हैं और न व्यञ्जन-कोटि में—उन्हें अन्तःस्थ (Sonant) ध्वनियाँ कहा जाता है इस प्रकार की ध्वनियाँ छ: थीं—

य् र् ल् व् न्̥ म्̥

इनके समानान्तर स्वर इस प्रकार थे—

इ ऋ ऌ उ न्̥ म्̥

ये ध्वनियाँ ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार की थीं और अनेक स्वरों के संयोग से ये भी संयक्त स्वर का रूप धारण कर लिया करती थीं। अन्त.स्थ

ध्वनियाँ जब दो स्वरों के मध्य आतीं तो व्यञ्जन बन जातीं और जब दो व्यञ्जनों के मध्य आतीं तो स्वर बन जातीं[1]। इसीलिये इन ध्वनियों को अर्द्धस्वर और अर्द्धव्यञ्जन भी कहा जाता है।

न्̥ म्̥ ध्वनियों का सर्वथा लोप हो चुका है। संस्कृत में इनके स्थान पर अ हो जाता है इसके प्रमाण अभी भी संस्कृत में उपलब्ध होते है, जैसे √ गम् धातु का कृदन्त रूप 'गत:' होता है जबकि गम्त: होना चाहिये था और √ मन् धातु का कृदन्त रूप मतः होता है—मन्त: नहीं। बाद में ऋ और ऌ के भी स्वर रूप में लुप्त हो जाने के कारण र्̥ ल्̥ को भी पूर्णतया अन्त:स्थ ध्वनियाँ नहीं कहा जा सकता[2]। इस समय य् और व् ध्वनियाँ ही अन्त:स्थ ध्वनियों के रूप में सुरक्षित हैं जिन्हें अधिकांश में अर्द्ध-स्वर कहा जाता है।

अपश्रुति ✓

भारोपीय स्वर ध्वनियों की सब से बड़ी विशेपता अपश्रुति है। अपश्रुति से अभिप्राय विशिष्ट स्वर-परिवर्तन से है। इस प्रकार का स्वर-परिवर्तन अनेक भारोपीय भाषाओं में देखने को मिलता है परन्तु जैसा कि

---

1. इन्हें व्यञ्जन और स्वर बनाने वाली कुछ परिस्थितियां इस प्रकार हैं—

व्यञ्जन—(१) आदि में पर बाद में स्वर हो। इस परिस्थिति में कभी कभी वह स्वर भी हो जाता है (२) दो स्वरों के मध्य में (३) व्यञ्जन और स्वर के मध्य में।

स्वर—(१) आदि में पर बाद में व्यञ्जन हो। (२) दो व्यञ्जनों के मध्य में। देखो सामान्य भाषाविज्ञान—बाबू राम सक्सेना।

2. अंग्रेजी में इन ध्वनियों को Liquids कहा जाता है।

ऊपर बताया गया है भारोपीय स्वर मूल रूप में जितने ग्रीक में सुरक्षित हैं उतने भारत-ईरानी शाखा में नहीं, इस लिये स्वर-परिवर्तन का सुरक्षित रूप ग्रीक मे ही अधिक देखने को मिलता है। भारतीय आर्यभाषा या संस्कृत मे मूल स्वर ए और ओ 'अ' में परिणत हो गये थे इस लिये स्वर परिवर्तन का मूल रूप देखने को नही मिलता। उदाहरण के तौर पर भारोपीय भाषा में उत्तम पुरुष परोक्ष एकवचन का रूप *देदोर्क्-अ था और प्रथम पुरुष परोक्ष एकवचन का रूप *देदोर्क्-ए था। यही रूप ग्रीक में क्रमश: देदोर्क और देदोर्के है जोकि मूल रूप से प्राय: मिलते जुलते हैं। संस्कृत में ए के स्थान पर भी अ हो जाने के कारण दोनों रूप एक समान हो गये—ददर्श। इस लिए अपश्रुति का जो स्वरूप ग्रीक में देखने को मिलता है वह संस्कृत में नहीं दिखाई देता। फिर भी संस्कृत व्याकरण में तीन महत्त्वपूर्ण सन्धियां गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण[1] है जोकि अपश्रुति का ही दूसरा रूप है। भारोपीय-भाषा में अपश्रुति दो प्रकार की थी- १. गौण (Qualitative) और २. मात्रिक (Quantitative)। भारतीय-आर्यभाषा मे आते आते गौण अपश्रुति बहुत कुछ लुप्त हो गई थी परन्तु मात्रिक अपश्रुति सुरक्षित रही।

भारोपीय भाषा में अपश्रुति के तीन क्रम (Grade) माने जाते हैं—

(१) साधारण (Normal या Strong)
(२) दीर्घीभूत (Lengthened)
(३) ह्रस्वीभूत (Weak)

---

1. पाणिनि ने इन तीनों की परिभाषायें इस प्रकार की हैं—(१) गुण-अदेङ् गुणः (१/१/४५) अर्थात् अ, ए, ओ गुण कहलाते हैं। (२) वृद्धि—वृद्धिरादैच् (१/१/१) अर्थात् आ, ऐ औ को वृद्धि कहते हैं। (३) सम्प्रसारण—इग्यण: सम्प्रसारणम् (१/१/२) अर्थात् य् व् र् ल् के स्थान पर इ, उ, ऋ, ऌ हो जाना सम्प्रसारण कहलाता है। उदाहरण के तौर पर डुकृञ् करणे धातु के ये तीन रूप इस प्रकार हैं—गुण करण; वृद्धि-कारण; संप्रसारण-क्रिया।

साधारण क्रम में मूल स्वर ध्वनि का प्रकृत रूप रहता है उस में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता ; दीर्घीभूत क्रम में स्वर ध्वनि दीर्घ हो जाती है और ह्रस्वीभूत-क्रम में ह्रस्व ध्वनि बिल्कुल लुप्त हो जाती है और दीर्घ स्वर ध्वनि अतिह्रस्व ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है। नीचे दिये हुए उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

	साधारण	दीर्घीभूत	ह्रस्वीभूत
भारोपीय	*पेद्- *पोद्- *पेदि *पोद्म्	*पैद्- *पौद्	*प्द्- *ब्द्
ग्रीक	पोद	पौस् (<*पौद्स्)	एपि-ब्द्-अइ (<*एपि-प्द्-अइ)
लैटिन	पेदि	पैस् (<*पैद्स)	
संस्कृत	पदि पदम्	पात्	उपब्द

मूल शब्द भारोपीय में *पेद् या *पोद् था । ग्रीक में यह शब्द पोद् है और लैटिन में पेद् । संस्कृत में ए या ओ दोनों के अ रूप में परिवर्तित होजाने के कारण मूल शब्द पद् हो गया। लैटिन पेदि और संस्कृत पदि दोनों अधिकरण कारक के एक वचन के रूप हैं। ग्रीक पोद और सस्कृत पदम् कर्म कारक के एकवचन के रूप हैं। ग्रीक पौस्, लैटिन पैस्, संस्कृत पात् कर्ता कारक के एकवचन के रूप हैं। स्पष्ट ही है कि साधारण क्रम का ह्रस्व स्वर दीर्घीभूत में दीर्घ होगया है और ह्रस्वीभूत क्रम में स्वर का सर्वथा लोप होगया है।

भारोपीय-भाषा में अपश्रुति का एक और उदाहरण इस प्रकार है—*भेर्-ए-ति, *भे-भोर्-ए, *भेर्-ओस्, *भोर्-ओस्, *भृतोस्, *भे-भ्र्-ओइ। इनके समानान्तर संस्कृत में ये रूप हैं—भरति, बभार, भरः, भारः, भृतः या भृतिः, बभ्रौ। ग्रीक के समानान्तर कुछ रूप इस प्रकार हैं फेरो,

फोरोस्, एफैर, फौरो इत्यादि। ग्रीक में इस क्रिया के साधारण क्रम और दीर्घीभूत क्रम के रूप तो मिलते है परन्तु ह्रस्वीभूत के नहीं।

स्वराघात

सस्कृत और ग्रीक में स्वराघात का काफी महत्त्व है। संस्कृत में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन प्रकार के सुर हैं। इन्हीं के समानान्तर ग्रीक में भी तीन प्रकार के सुर है। प्राचीन लैटिन में स्वराघात विद्यमान था या नहीं यह विषय अत्यधिक विवादास्पद है परन्तु विद्वानों की यह निश्चित धारणा है कि भारोपीय भाषा में स्वराघात का विशिष्ट महत्त्व था। भारोपीय भाषा में स्वराघात की स्थिति स्वतन्त्र मानी जाती है अर्थात् वह शब्द के किसी भी अक्षर पर प्रभाव डाल सकता था। वैदिक और प्राचीन लौकिक संस्कृत में भी यही बात देखने को मिलती है परन्तु ग्रीक में इस दष्टि से परिवर्तन होगया।

रूपरचना सम्बन्धी विशेपतायें

भारोपीय भाषा की रूप-रचना अत्यन्त जटिल थी। मूल शब्दों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) संज्ञा और (२) क्रिया। संज्ञाओं के रूप क्रियारूपों से सर्वथा भिन्न थे। इन रूपों में बहुत अधिक विविधता की कल्पना की जाती है। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में भी यह रूप-विविधता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

संज्ञा-रूप

संज्ञारूप आठ कारकों (या विभक्तियों) में विभाजित थे। ये आठों विभक्तियां भारत-ईरानी शाखा में ही सुरक्षित हैं। उन के नाम ये हैं—(१) कर्ता (२) कर्म (३) करण (४) सम्प्रदान (५) अपादान (६) सम्बन्ध (७) अधिकरण और (८) सम्बोधन। ये रूप तीन वचनों में

विभाजित थे—(१) एकवचन (२) द्विवचन और (३) बहुवचन। प्रारम्भ में द्विवचन का प्रयोग केवल युगलवाची शब्दों के लिये होता था।[1] इन के तीन लिङ्ग थे—(१) पुलिंग (२) स्त्रीलिंग और (३) नपुंसकलिंग। लिङ्ग विभाजन अनिवार्य रूप से युक्तिसंगत लिंग-विभाग पर आधारित नहीं था। यह आवश्यक नहीं कि पुरुषवाची शब्द ही पुलिंग हों और स्त्रीवाची शब्द ही स्त्रीलिंग हों अथवा अचेतनवाची ही नपुंसकलिंग हों। अनेक प्रत्ययों अथवा अपश्रुति के द्वारा ही अनेक रूप बनाये जाते थे। ये रूप शब्द के अन्त में आने वाली ध्वनि की दृष्टि से भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते थे।

सर्वनाम-रूप

विशेषण के रूप बहुत कुछ संज्ञा-रूपों से मिलते जुलते थे परन्तु सर्वनाम-रूप संज्ञा-रूपों से भिन्न थे। मुख्य रूप में सर्वनाम दो प्रकार के थे—(१) पुरुष वाचक (Personal), (२) उल्लेख सूचक (Demonstrative), पुरुषवाचक सर्वनाम विशेषत: दो प्रकार के थे—(१) उत्तमपुरुषवाचक और (२) मध्यमपुरुषवाचक। प्रथम पुरुषवाचक सर्वनाम का कार्य उल्लेख-सूचक सर्वनामों से चलाया जाता था। इनके अतिरिक्त प्रश्नवाचक (Interrogative) सर्वनाम भी थे।

संख्या-वाची

प्राय: सभी प्राचीन लोगों ने दस उंगलियों से ही गणना प्रारम्भ की है इस लिये उन की भाषा में दशम प्रणाली के दर्शन होते हैं। भारोपीय भाषा में भी इसी प्रणाली को अपनाया गया। इस दशम प्रणाली के

---

1 बाद में द्विवचन का प्रयोग युगलवाची शब्दों के साथ साथ दो वस्तुओं (चाहे वह परस्पर कितनी ही भिन्न क्यों न हों) के लिये भी किया जाने लग गया था।

अतिरिक्त कुछ अन्य प्रणालियों के भी अवशेष चिह्न कुछेक भाषाओं में देखने को मिलते हैं। चार तक की संख्याओं के शब्दों के साथ विभिन्न विभक्तियां लगा कर रूप बनाये जाते थे परन्तु पांच के बाद की संख्याओं का केवल एक ही रूप था यद्यपि संस्कृत में बाद में अन्य रूपों का भी विकास हो गया था।

भारोपीय भाषा के संख्यावाची शब्दों की वैज्ञानिक व्याख्या करने का भी प्रयास किया गया है। भारोपीय भाषा में एक सख्या के लिये तीन शब्दों की कल्पना की गई है— *ओइनोस् (*oi-no-s) *ओइवोस् (*oi-wo-s) या *ओइकोस् (oi-Qo-s)। इस का अर्थ है कि वह एक है। भारोपीय द्वौ (*dwou) का अर्थ विभिन्नता है। भारोपीय *त्रेयेस् (*treyes) का अर्थ है जो और भी दूर चला जाये। यद्यपि इस से आगे की सख्याओं का विश्लेषण करने के भी बहुत से प्रयत्न किये गये हैं परन्तु विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई।

ग्यारह से उन्नीस तक की संख्याओं के लिये द्वन्द्व (दो शब्दों से मिले) रूपों का प्रयोग किया जाता था, जैसे संस्कृत में एका-दश, द्वा-दश, त्रयो-दश आदि। यही स्थिति ग्रीक और लैटिन में भी देखने को मिलती है, जैसे बारह के लिये ग्रीक शब्द 'दुऔ देक' और लैटिन शब्द 'दुऔ देकेम्' है। भारोपीय भाषा के *द्वौ-देक्म् शब्द की कल्पना की गई है।

क्रिया-रूप

भारोपीय भाषा में क्रियाओं की रूप-रचना भी अत्यन्त जटिल थी। क्रियारूपों में तीन वचन (एक, द्वि और बहु), तीन पुरुष (प्रथम, मध्यम और उत्तम) तथा दो वाच्य (कर्तृवाच्य और आत्मनिष्ठ वाच्य) थे/। इन दो वाच्यों के सम्बन्ध में यह बात विशेषत: ध्यान में रखने की है कि संस्कृत के आत्मनेपद और परस्मैपद का विकास इन्हीं से हुआ था। कर्मवाच्य का विकास भी ब द म आत्मनिष्ठ वाच्य से हो गया था परन्तु मूल रूप में केवल दो ही वाच्य थे।

क्रिया रूपों की जैसी थोड़ी बहुत व्यवस्था संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में देखने को मिलती है वैसी भारोपीय भाषा में नहीं थी। संस्कृत आदि में यदि किसी विशेष धातु का एक विशिष्ट रूप पता चल जाता है तो उसी के अनुसार अनेक धातुओं के रूप बनाये जा सकते हैं परन्तु उन के अपवाद भी अनेक होते हैं। इन अपवादों की भी कुछ न कुछ व्याख्या करने के प्रयास किये जाते हैं। ऐसी व्यवस्था भारोपीय भाषा में नहीं थी। बाद की व्यवस्था का कारण यही है कि आगे चल कर क्रियारूपों को पूर्णतया नये रूप में ढालने के प्रयत्न किये गये थे और व्याकरण के अनुसार उनकी व्याख्या भी कर दी गई थी। अभी भी इन भाषाओं में कुछ अव्यवस्थित क्रियारूप देखने को मिल जाते हैं।

काल (Tense)

भारोपीय भाषा में काल सम्बन्धी धारणा सुनिश्चित नहीं थी। क्रिया-रूपों का समय से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता। वस्तुत: कार्य समाप्त हुआ है या नहीं—इसी दृष्टि से ही क्रियारूप बना करते थे। इस प्रकार के भारोपीय भाषा में चार काल थे—

१. वर्तमान	(Present)	संस्कृत में लट्
२. असम्पन्न	(Imperfect)	,, ,, लङ्
३. सामान्य	(Aorist)	,, ,, लुङ्
४. सम्पन्न	(Perfect)	,, ,, लिट्

वर्तमान काल से अभिप्राय है काम का होना या होते रहना। असम्पन्न काल वर्तमान का ही एक अन्य भेद माना जाता है। इस का अर्थ भी काम का पूर्ण न होना ही है। सामान्यकाल का अर्थ काम का तत्काल पूर्ण हो जाना है। इसे अंग्रेज़ी के वर्तमान पूर्ण (Present Perfect) जैसा माना जा सकता है। सम्पन्न काल का अर्थ है भूतकाल में किसी कार्य के हो जाने से काम चल रहा है। यह भी लगभग वर्तमान काल जैसा ही है। इसी प्रकार चारों कालों से विशेष रूप में वर्तमान का ही बोध होता

था। वर्तमान और असम्पन्न तो वैसे भी वर्तमान ही माने जाते हैं इस लिये भारोपीय में केवल तीन कालों का ही अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। बाद में चल कर इन में विभिन्नता आ गई और काल के समयगत हो जाने के कारण इन से विभिन्न समयों का बोध होने लगा।

भाव (Mood)

भारोपीय भाषा में पांच भाव थे–

१. निर्देश (Indicative)
२. अनुज्ञा (Imperative)
३. सम्भावक (Subjunctive)
४. अभिप्राय (Optative)
५. निर्बन्ध (Injunctive)

निर्देश भाव में केवल किसी वस्तु की सत्ता का निर्देश किया जाता था। अनुज्ञा में आज्ञा या आदेश का भाव निहित है। सम्भावक में यह सम्भावना की जाती थी कि यह बात हो जायेगी अथवा किसी बात के हो जाने की इच्छा की जाती थी। अभिप्राय इच्छार्थक है—इस में किसी सम्भावना अथवा इच्छा का भाव अभिव्यक्त किया जाता था। निर्बन्ध में एक प्रकार की विधि या नियम का भाव निहित था।

उपर्युक्त कालों और भावों से अन्य कालों और भावों का विकास हुआ। विशेषतया इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि भारोपीय-भाषा में भविष्य काल की सत्ता बिल्कुल नहीं थी। भविष्यकाल के भाव को व्यक्त करने के लिये प्रायः सम्भावक-भाव का प्रयोग किया जाता था।

विकरण

प्राचीन काल में भारोपीय-भाषा में क्रिया और अन्त प्रत्यय के मध्य कुछ प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता था। इन को संस्कृत व्याकरणकार विकरण (theme) कहते हैं भारोपीय भाषा में इसी आधार पर क्रिया रूप

दो प्रकार के माने जाते हैं—(१) विकरणात्मक (thematic) और (२) विकरणहीन (athematic)। इन विकरणों का विशेष अर्थ था परन्तु बाद में इन के अर्थ का लोप हो गया। संस्कृत में इन विकरणों के आधार पर क्रियाओं का दस गणों में विभाजन किया गया है। संस्कृत क्रियाओं के विकरण इस प्रकार हैं—(१) भ्वादिगण—अ (शप्) (२) दिवादिगण—य (श्यन्) (३) स्वादिगण—नु (श्नु) (४) तुदादिगण—अ (श) (५) तनादिगण—नु (श्नु) (६) क्र्यादिगण—ना (श्ना) (७) चुरादिगण—अ।[1] अदादिगण और जुहोत्यादिगण की क्रियायें विकरणहीन हैं। संस्कृत के व्याकरण के अनुसार अदादिगण में शप् का लुक् और जुहोत्यादिगण में श्लु हो जाता है और इन का लोप हो जाता है।[2] रुधादिगण की क्रियाओं में अन्त प्रत्यय से पूर्व किसी विकरण का प्रयोग तो नहीं होता परन्तु क्रिया के मध्य में न (श्नम्) का प्रयोग अवश्य होता है[3]। इस प्रकार संस्कृत में विशेषतया सात विकरणों का ही स्वरूप देखने को मिलता है परन्तु वस्तुतः भारोपीय भाषा में इन की संख्या बहुत अधिक थी। लगभग तीस विकरणों का अनुमान लगाया गया है। संस्कृत के क्रिया रूपों से कुछ अन्य विकरणों की कल्पना की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर संस्कृत की कुछ क्रियाओं में—(च)छ- विकरण के भग्नावशेष मिलते हैं। ऋ—ऋ-च्छ-ति, गम्—ग-च्छ-ति, इष्—इ-च्छ-ति, पृष्—पृ-च्छ-ति, वन्यावान्—वाञ्-छ-ति, यम्—य-च्छ ति। संस्कृत वैयाकरणों ने उपर्युक्त गणों में ही इनका अन्तर्भाव कर दिया है परन्तु इस आधार पर यही कल्पना की जा सकती है कि भारोपीय भाषा में *स्क्’-ए या *स्क्’ओ विकरण था।

---

1. इन विकरणों के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—भव्-अ-ति, दीव्-य-ति, सु-नु-ते, तुद्-अ-ति, तन्-उ-ते, क्री-णा-ति, चोर-अय-ति।

2. विकरणहीन क्रियाओं के उदाहरण इस प्रकार हैं—अत्-ति जुहो-ति।

3. रु-ण-द्-धि।

इसी प्रकार *सो या *स्यो विकरण की भी कल्पना की जा सकती है जिस का संस्कृत में प्रयोग भविष्य अर्थ में होता है। जैसे—या-स्य-ति (वह जायेगा)। इसी प्रकार दूसरी भारोपीय भाषाओं में भी अन्य विकरण देखने को मिलते हैं।

अन्य रूप

भारोपीय भाषा में अतीत काल को बताने के लिए कुछ क्रियाओं से पूर्व *ए प्रत्यय का प्रयोग किया जाता था। मूल भारोपीय भाषा में इसका प्रयोग वैकल्पिक था परन्तु अनेक भारोपीय भाषाओं में यह अनिवार्य रूप में प्रयुक्त होने लगा। ग्रीक में इसका प्रयोग होता है। संस्कृत में ध्वनि-परिवर्तन के अनुसार यह प्रत्यय 'अ' होगया। प्राचीन फारसी में भी इसकी यही स्थिति है। केल्टी, लैटिन तथा जर्मनवर्ग की भाषाओं में इसका प्रयोग नहीं होता।

भारोपीय भाषा में क्रिया-रूपों की रचना में द्वित्व का भी प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त प्रेरणा (Causative), इच्छा (Desiderative), और आवृत्ति (Frequentative) आदि के भी भिन्न रूप भारोपीय भाषा में माने जाते हैं।

भारोपीय भाषा में कृदन्त आदि रूप भी थे। स्वतन्त्र शब्दों के रूप में उपसर्गों की भी सत्ता थी। इनमें से अनेक लुप्त होगये परन्तु प्र, परा, अप, नि, अधि, अव, अनु, प्रति, परि (भारोपीय * प्रो, पेरौ, अपो, नि, एधि, एवो, एनु, प्रोति, पेरि) आदि इक्कीस उपसर्ग अभी भी सुरक्षित हैं।

अव्यय (Indeclinable)

भारोपीय-भाषा में संज्ञा और क्रिया से अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्दों का अनुमान भी लगाया जाता है जिन में किसी प्रकार की रूप-विभिन्नता नहीं थी। इन्हीं को अव्यय कहा जाता है परन्तु विद्वानों का यह अनुमान भी है

कि सम्भवत: प्रारम्भिक काल में इनके भी विभिन्न रूप थे परन्तु धीरे धीरे इनके रूप लुप्त होगये और ये अव्यय बन गये।

समास (Compound)

भारोपीय भाषा की एक और विशेषता समास-रचना है। यह समास-रचना संस्कृत ग्रीक आदि सभी भारोपीय भाषाओं की मुख्य विशेषता है। समास का अर्थ है एक से अधिक शब्दों का मिलकर एक होजाना। उदाहरण के तौर पर इस के बाद के संख्या-वाची शब्दों को लिया जा सकता है। यही स्थिति संस्कृत के वसु-मना:, अवेस्ता के वोहु-मनो, ग्रीक के एउ-मेनैस् (भारोपीय *वेसु-मेनैस्) में देखने को मिलती है।

शब्दकोश (Vocabulary)

पीछे इस बात का संकेत किया जा चुका है कि भारोपीय-भाषा के मूल स्थान के निकटवर्त्ती भाषाओं ने भारोपीय-भाषा को प्रभावित किया है। इन भाषाओं में मुख्य रूप में सुमेरी और अक्कादी भाषाओं का नाम लिया जाता है। सुमेरी गु (द्) शब्द का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अक्कादी भाषा का एक उदाहरण पिलक्कु शब्द है। संस्कृत में यह शब्द परशु है।

नोट—इस अध्याय में भारोपीय भाषा का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। विस्तृत अध्ययन के लिये निम्न पुस्तकें देखिये—

1. A Meillet : Introduction a letude comparative de langues indo-europeennes.

2. T. Hudson Williams : A short Introduction to the Study of Comparative Grammar (Indo-European).

3. C. D. Buck : Comparative Grammar of Greek and Latin.

4. T. Burrow : Sanskrit Language.

अध्याय ३

भारत-ईरानी-वर्ग

इस बात का संकेत पहले किया जा चुका है कि भारोपीय भाषा के दो वर्ग बन गये थे। एक वर्ग तो पश्चिम की ओर चला गया था और दूसरा वर्ग पूर्व की ओर रवाना होगया। इन दोनों वर्गों के एक दूसरे से पृथक् होजाने के बाद भाषा में जो परिवर्तन हुए वे दोनों वर्गों में भिन्न भिन्न प्रकार के थे इस लिये दोनों वर्गों की भाषाओं में भिन्नता आने लगी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि पूर्व की ओर बढ़ने वाला वर्ग पहले मेसोपोटैमिया में प्रविष्ट हुआ। बोग़ाज-कोइ में, 1400 ई० पू० के जो लेख मिले हैं उन में कई गोत्रों का उल्लेख मिलता है जिनमें मर्यन्नि, हर्रि, मन्द और कस्सि नाम के गोत्र विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन गोत्रों ने कई शताब्दियों तक वहीं पर राज्य किया। मितन्नि या मर्यन्नि जाति के शासक लोग कुछ देवों की भी आराधना किया करते थे। उन के नाम इस प्रकार हैं—इन्-द-र, मि-इत्-त-र, उ-रु-वन्-अ (या अ-रु-न) और ना-स-अत्-ती-य। ये नाम क्रमशः वैदिक देवताओं के इन नामों से मिलते जुलते हैं—इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्यौ (इन्हें अश्विनौ भी कहा जाता है)। इस प्रकार की स्थिति देखकर अनेक विद्वानों का यह भी विचार है कि भारतवर्ष में वैदिक संस्कृति के पूर्णतया विकसित होजाने के बाद उसका प्रभाव इन प्रदेशों पर पड़ा होगा। इस प्रकार कम से कम यह कहा जाता है कि भारतवर्ष में वैदिक संस्कृति का विकास ईसा पूर्व 2000 वर्ष से पहले होचुका था परन्तु भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करते समय इस बात को स्वीकार नहीं किया जाता। वस्तुतः इन लेखों की भाषा वैदिक संस्कृत और ईरान की

अवेस्ता से पूर्व की भाषा है, इसलिये यह कल्पना की जाती है कि ईरान या भारतवर्ष में प्रवेश से पूर्व ही भारोपीय लोगों ने एक सामान्य भाषा का विकास कर लिया था जोकि पश्चिम की ओर जाने वाले भारोपीय लोगों की भाषा से कई अंशों में भिन्न थी। इसी भाषा से बाद में प्राचीन ईरानी (अवेस्ता) और वैदिक संस्कृत का विकास हुआ। इस भाषा का मूल रूप तो उपलब्ध नहीं है परन्तु प्राचीन ईरानी और वैदिक संस्कृत के तुलनात्मक अध्ययन से इसका पुनर्निर्धारण किया जा सकता है। इसी भाषा का नाम भारत-ईरानी रखा गया है।

भारत वर्ष के लोग अपने आप को आर्य कहने में गौरव का अनुभव करते हैं। उनका तो यह भी विश्वास है कि भारतवर्ष का मूल नाम आर्यावर्त्त था। ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता में भी इसी से मिलता जुलता नाम ऐर्य है। इसी के षष्ठी बहुवचन के रूप से आधुनिक ईरान की व्युत्पत्ति मानी जाती है। संस्कृत का समानान्तर रूप आर्याणाम् है। इस प्रकार प्राचीन ईरानी और भारतीय लोग आर्य जाति के थे। इसी आधार पर भारत-ईरानी वर्ग की भाषा को आर्य भाषा भी कहा जाता है।

भारोपीय परिवार में भारत-ईरानी वर्ग का बहुत अधिक महत्त्व है। इसी वर्ग की एक भाषा वैदिक संस्कृत है जिसमें लिखा ऋग्वेद विश्व-साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ है। भारोपीय परिवार की अनेक मूल विशेषतायें इसी भाषा में सुरक्षित हैं इस लिये इस के आधार पर भारोपीय भाषा के निर्धारण में पर्याप्त सुविधा प्रतीत होती है।

भारोपीय भाषा से पृथक् होने पर भारत-ईरानी वर्ग की भाषा में जो परिवर्तन हुये उनके कारण इसकी अपनी कुछ विशेषतायें थीं। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में जो अनुमान किये हैं वह नीचे दिये जाते हैं।

ध्वनि सम्बन्धी विशेषतायें

पीछे कहा जा चुका है कि भारोपीय भाषा में अनेक प्रकार की

ध्वनियां थीं। मूल स्वर ध्वनियां तीन थीं—अ, ए, ओ। भारत-ईरानी में इन तीनों के स्थान पर केवल एक ध्वनि 'अ' हो गई। इन ध्वनियों का दीर्घ रूप आ, ऐ, औ ध्वनियां थीं। इन के स्थान पर केवल आ ध्वनि रह गई। ये ध्वनियां चाहे अकेली होतीं या संयुक्त स्वर में—इस प्रकार परिवर्तन अवश्य हो जाता था।

भारोपीय भाषा के उदासीन स्वर अ̱ (ə) के स्थान पर भारत-ईरानी में 'इ' हो गया।

व्यंजन-ध्वनियों में भी कुछ परिवर्तन हुये। भारोपीय भाषा में तीन प्रकार की कवर्गीय ध्वनियां थीं। इन में से पहली श्रेणी की अर्थात् तालव्य-कवर्गीय ध्वनियाँ स्पर्श ध्वनियाँ न रह कर संघर्षी ध्वनियों में परिणत हो गईं। इस प्रकार भारोपीय की क्' ख्' ग्' घ्' ध्वनियां भारत-ईरानी में स्, श, ज़्, ज़्ह् हो गईं। इसी प्रकार का परिवर्तन आर्मीनी, अल्बानी और बाल्टी-स्लावी भाषाओं में भी हो गया था। भारोपीय भाषा की 'स्' ध्वनि यदि 'इ', 'उ', 'र्' और 'क्' के बाद आती तो भारत-ईरानी में 'श्' में परिणत हो जाती।

भारोपीय भाषा की दो अन्य कवर्ग-श्रेणियां एकरूप होकर क, ख, ग, घ में परिणत हो गईं परन्तु यदि ये ध्वनियां तालव्य स्वरों 'इ' और 'ए' के पूर्व आतीं तो इनका तालव्यीकरण हो जाता अर्थात् ये ध्वनियां क्य्, ख्य्, ग्य्, घ्य् जैसी ध्वनियों में परिणत हो जातीं। बाद में इनका रूपान्तर च्, छ्, ज्, झ् (ह्) जैसी ध्वनियों में हो गया था। अनेक विद्वानों का विचार है कि भारोपीय भाषा की अन्तःस्थ ध्वनियाँ ऋ (र्) और ऌ (ल्) भारत-ईरानी शाखा में अभिन्न या एकरूप हो गईं थीं। एक प्रकार से ऌ (ल्) का लोप हो गया था। संस्कृत में ऌ (ल्) का विकास बाद में हुआ।

रूप सम्बन्धी विशेषतायें

भारत-ईरानी वर्ग में भारोपीय भाषा के आठों कारक, तीन वचन,

तीन लिंग आदि सुरक्षित रहे। रूप-सम्बन्धी विशषताओं में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुये। एक बात की ओर विशेष ध्यान जाता है। भारोपीय-भाषा में षष्ठी विभक्ति वहुवचन का प्रत्यय—औम् था। इसी प्रत्यय का प्रयोग (आम् रूप में) भारत-ईरानी में भी होता है परन्तु कई स्थानों पर आम् के स्थान पर नाम् हो जाता है। सम्भवत: 'न' अन्त वाले अनेक मूल शब्दों के षष्ठी बहुवचन के रूप को भ्रमवश -नाम् प्रत्यय से युक्त मान लिया गया होगा और अन्य शब्दों के साथ भी उसका प्रयोग किया जाने लगा होगा। उदाहरण के तौर पर संस्कृत में गो शब्द का षष्ठी बहुवचन का रूप गवाम् (गव्+आम्) है। ग्रीक में यह रूप बो-औन् है। भारोपीय कल्पित रूप *ग्वोव् औम् माना जाता है। संस्कृत में एक अन्य रूप गोनाम् भी है। सम्भवत: इस में मूल शब्द गोन है। इसी प्रकार संस्कृत के देवानाम् आदि का मूल रूप देवाम् आदि था। बाद में -नाम् का विकास हो जाने पर ही देवानाम् आदि प्रयोग चल पड़े थे।

हित्ती भाषा के अन्वेषण से पूर्व साधारणतया यह भी माना जाता था कि भारोपीय भाषा में अनुज्ञा भाव (Imperative) के प्रथमपुरुष में एकवचन -तु और बहुवचन -न्तु प्रत्यय नहीं थे। इनका विकास भारत-ईरानी वर्ग में किया गया था परन्तु यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती क्योंकि हित्ती भाषा में इस का समानान्तर रूप मिलता है। जैसे—संस्कृत—सन्तु, अवेस्ता—हन्तु और हित्ती—असन्ज़ु। इस प्रकार भारत-हित्ती भाषा में *असेन्तु या *असोन्तु रूप की कल्पना की जाती है।

भारत-ईरानी की उपशाखायें

भारत-ईरानी का समय लगभग २००० ईस्वी पूर्व माना जाता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि इसी समय के आसपास भारत-ईरानी लोग असुर सभ्यता (असीरिया और बेबीलान) के सम्पर्क में आये। ईरान में पहुँच कर इन लोगों के दो वर्ग बन गये। यह तो स्पष्ट रूप में नहीं कहा जा सकता कि दो वर्ग बनने के विशिष्ट कारण क्या थे परन्तु यह

सम्भव है कि पहले से ही इन में वर्गगत भिन्नतायें थीं अथवा कुछेक धार्मिक कारणों से इन में भिन्नता का कुछ प्रमाण देव और असुर के अर्थों में मिलता है। इस प्रकार यह सम्भावना की जा सकती है कि एक वर्ग-देवोपासक आर्यों का था और दूसरा वर्ग असुरोपासक आर्यों का। अवेस्ता में असुरोपासक के लिये अहुरमज़्दा (सँस्कृत—असुरमेधा:) शब्द है। इन दोनों वर्गों में परस्पर विरोध हो जाने के कारण ही ईरानी में देव का अर्थ और संस्कृत में असुर का अर्थ राक्षस हो गया जबकि मूल रूप में दोनों देवता-वाची थे। इस प्रकार असुरोपासक आर्य तो ईरान में बस गये परन्तु देवो-पासक आर्य वहां से आगे बढ़ गये और भारत के सप्तसिन्धु प्रदेश में प्रविष्ट हो गये।

जब आर्यों का एक वर्ग ईरान से आगे बढ़ा तो इस वर्ग को अनेक अनार्यों का सामना करना पड़ा। ऋग्वेद में दास और दस्यु लोगों के उल्लेख मिलते हैं। ये लोग पूर्वी ईरान और भारत के पश्चिमी व उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में सम्भवत: रहते थे। ईरानी में संस्कृत 'स्' के स्थान पर बहुधा 'ह्' हो जाता है इस लिए ईरानी में संस्कृत दास और दस्यु के स्थान पर *दाह और *दह्यु की कल्पना की जा सकती है। ईरान के उत्तरपूर्वी भाग में प्राचीन काल में दहाइ जाति के लोगों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। यह भी सम्भावना की जाती है कि भारत की ओर बढ़ने वाले अनेक आर्य इन्हीं सीमान्त प्रदेशों में बस गये होंगे।

इस प्रकार भारत-ईरानी आर्यों के तीन वर्ग बन गए—(१) ईरानी (२) ईरान और भारत के मध्यवर्त्ती (३) भारतीय। इसी आधार पर भारत-ईरानी भाषा भी तीन वर्गों में विभाजित हो गई जिन्हें क्रमश: ईरानी, दरदी और भारतीय आर्य भाषा कहा जाता है।

ईरानी

ईरानी भाषा को काल की दृष्टि से तीन वर्गों में बांटा जाता है—(१) प्राचीन (२) मध्यकालीन और (३) आधुनिक। प्राचीन ईरानी में

मुख्यतया दो भाषाओं का उल्लेख किया जाता है—(१) अवेस्ता और (२) प्राचीन फ़ारसी। इन दोनों भाषाओं में से अवेस्ता अधिक प्राचीन है। पारसियों के धर्मग्रन्थ का नाम अवेस्ता है। इसका उतना ही आदर है जितना भारतवर्ष में वेदों का। अवेस्ता ग्रन्थ जिस भाषा में लिखा हुआ है उसे भी अवेस्ता कह दिया जाता है। बाद में इस ग्रन्थ का मध्यकालीन ईरानी पहलवी या जेन्द में अनुवाद किया गया था इस लिये इसे जेन्द-अवेस्ता भी कह दिया जाता है। अवेस्ता का प्राचीनतम रूप गाथाओं में मिलता है। ये गाथायें वैदिक मन्त्रों से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। पारसी धर्म की स्थापना करने वाले ज़रथुस्त्र माने जाते है और इस धर्म के उपास्य देव 'अहुरमज़्दा' हैं। अवेस्ता की गाथाओं में इसी 'अहुरमज़्दा' की स्तुतियां है और अन्य धार्मिक क्रियाओं अथवा विचारों का भी समावेश है। अवेस्ता को पूर्वी भाग की भाषा कहा जाता है।

प्राचीन फ़ारसी दक्षिण-पश्चिम भाग की भाषा थी। ईरान से दक्षिण-पश्चिमी भाग को प्राचीन काल में पारस प्रदेश कहा जाता था इसी से पारसी और फ़ारसी शब्द बने हैं। प्रचीन काल में हख़्मानी वंश के शासक यहां राज्य करते थे। इन लोगों ने अपनी मातृ-भाषा प्राचीन फ़ारसी को विशेष महत्त्व दिया और यह उनके शासन काल में राज्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही। हख़्मानी वंश के राजाओं में दारयवहुश् (ई.पू. ५२१-४९५) तथा उसके पुत्र ज़रक्सीज़ का विशेष नाम लिया जाता हैं क्योंकि ये दोनों महान् विक्रमी सम्राट् थे। इन्होंने प्राचीन फ़ारसी के कुछ लेख कीलाक्षरों में खुदवाये थे। इन्हीं में बहिस्तन की पहाड़ी पर खुदे हुये विश्व-विख्यात लेख हैं। इन शिलालेखों के अतिरिक्त कुछ ताम्रलेख भी मिलते हैं। प्राचीन फारसी की केवल इतनी ही सामग्री उपलब्ध होती है।

आजकल प्राचीन ईरानी का स्वरूप केवल अवेस्ता और कुछ शिलालेखों व ताम्रलेखों के रूप में ही उपलब्ध है। इस में कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में इन भाषाओं में विशाल वाङ्मय रहा होगा परन्तु

आजकल और कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। ईरान पर दो बार आक्रमण हुआ है। पहला आक्रमण ईसा पूर्व ३२३ में सिकन्दर महान् द्वारा किया गया था और दूसरा आक्रमण ६५१ ईस्वी में अरब के लोगों द्वारा किया गया था। इन दोनों आक्रमणों में ईरानी संस्कृति को नष्ट करने का दुखद प्रयास किया गया जिस में ईरान का प्रायः सारा प्राचीन साहित्य नष्ट कर दिया गया।

अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी में बहुत अधिक समानता है इस लिये अवेस्ता के समान प्राचीन फ़ारसी भी बहुत अंशों में संस्कृत से मिलती जुलती हैं।

मध्यकालीन ईरानी भाषा को पहलवी कहा जाता है। इस का समय ईसा की तीसरी शताब्दी से नौवीं शताब्दी तक का माना जाता है। अरब आक्रमण के बाद से इस में अरबी का विशेष प्रभाव पड़ने लग गया था। इस दृष्टि से पहलवी के दो रूप माने जाते हैं—(१) अरबी शब्दों से परिपूर्ण हुज्वारेश और (२) पाज़न्द जिस में अरबी के शब्द बहुत अधिक नहीं हैं। पहलवी के अतिरिक्त कुछ अन्य उपभाषाओं का भी उल्लेख किया जाता है जिस में प्रमुख 'शक' भापा है। इस भाषा में कई बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद भी किया गया है। मध्यकालीन ईरानी भाषा की अनेक पुस्तकें मध्य एशिया के तुर्किस्तान प्रदेश में से मिली हैं इन में से केवल एक को छोड़ कर सभी लगभग ईसा की ८वीं सदी की हैं। एक ग्रन्थ लगभग ईसा की पहली सदी का है। इन ग्रन्थों की भाषा का नाम सोग्दी है जो ईरान के पश्चिमोत्तर प्रदेश की मानी जाती है। कहा जाता है कि किसी समय यह भाषा मंचूरिया तक फैली हुई थी।

आधुनिक ईरानी भाषा में फ़ारसी मुख्य भाषा है। इसका प्रारम्भ नौवीं शताब्दी ईस्वी से माना जाता है। इस भाषा पर अरबी प्रभाव इतना अधिक पड़ चुका है कि प्राचीन फ़ारसी के साथ इसकी समानता अनेक अंशों में सर्वथा लुप्त हो चुकी है। इस भाषा में फिरदौसी का

शाहनामा एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। फ़ारसी के अतिरिक्त आधुनिक ईरानी भाषा में पश्तो' बलोची और पामीरी का नाम भी लिया जाता है। रूपरचना की दृष्टि से फ़ारसी बहुत कुछ अयोगात्मक हो गई है। इसका भारतीय भाषाओं पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

दर्दी

दर्दी भाषाओं को पैशाची भाषायें भी कहा जाता था। ये भाषायें भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में बोली जाती हैं जो अफ़गानिस्तान की सीमा के अत्यधिक निकट हैं। इन भाषाओं में मुख्य रूप से शिना, काश्मीरी, कोहिस्तानी, चित्राली या चित्रारी और काफ़िरी का उल्लेख किया जाता है। ग्रियर्सन ने इन भाषाओं को ईरानी और भारतीय आर्य-भाषा की मध्यवर्ती भाषाओं के रूप में मान कर इनका पृथक् वर्ग बनाया था परन्तु ब्लाख़, टर्नर आदि विद्वानों ने पृथक् वर्ग की आवश्यकता नहीं समझी। उनका विचार है कि दर्दी भाषायें भी भारतीय आर्य भाषा वर्ग में रखी जानी चाहिये। उनका यह विचार ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि दर्दी भाषायें एक ओर से भारतीय आर्य भाषाओं के समान हैं दूसरी ओर कई अंशों में ईरानी से भी मिलती जुलती हैं इस लिये इन्हें अलग वर्ग में रखना ही अधिक उपयुक्त है।

भारतीय आर्य भाषा

प्राचीनतम भारतीय आर्य भाषा का उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद है। इसीकी भाषा को वैदिक संस्कृत कहा जाता है। भारत की अनेक भाषाओं का विकास इसी भाषा से हुआ है। इसका विस्तृत अध्ययन आगे के पृष्ठों में किया जायगा क्योंकि हिंदी का क्रमिक विकास इसी से हुआ है।

अवेस्ता और संस्कृत की तुलना

अवेस्ता और संस्कृत में अनेक बातों में समानता है। वस्तुत: इसी

घनिष्ठ समानता के कारण ही भारत-ईरानी भाषा की कल्पना की गई है। ऊपर भारत-ईरानी की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है वे थोड़े अन्तर के साथ दोनों में उपलब्ध होती हैं। संस्कृत और अवेस्ता में जो कुछ बातों में विभिन्नता भी है—उसकी नियमानुसार थोड़ी बहुत व्याख्या की जा सकती है।

ध्वनियां

सामान्य तौर पर स्वर-ध्वनियों की दृष्टि से अवेस्ता और सस्कृत में समानता है। भारोपीय के मूल स्वरों 'अ' 'ए' 'ओ' का 'अ' में परिवर्तन और 'आ' 'ऐ' 'औ' का 'आ' में परिवर्तन दोनों में समान है। भारोपीय भाषा के उदासीन स्वर अ (ə) का इ' में परिवर्तन भी दोनों में समान रूप में होता है। परन्तु कई स्थानों पर मात्रा-भेद, स्वर-व्यत्यय आदि की दृष्टि से भिन्नता भी है।

मात्रा भेद—सं. पतिम्, अवे. पइतीम् ; सं. प्र, अवे प्रा ; सं. सेना, अवे. हएन; सं. असि, अवे. अही इत्यादि।

स्वर व्यत्यय – सं सोम, अवे हओम; सं रोचयति, अवे. रओचयेति; सं. एतत्, अवे अएतत् इत्यादि।

अपिनिहिति[1]—सं. भवति, अवे. बवइति, सं. भरति, अवे. बरइति, सं. तरुणम्, अवे. तउरुनम् इत्यादि।

अग्रागम—सं रिणक्ति, अवे. इरिनक्ति; सं. रोपयन्ति, अवे. उरुपये: इन्ति इत्यादि।

---

1. किसी विशेष ध्वनि के प्रभाव के कारण किसी अन्य ध्वनि के सन्निवेश को अपिनिहिति (Epenthesis) कहते हैं। अवेस्ता में यदि बाद की ध्वनि इ,ई,ए और य हो तो इ का सन्निवेश होता है और यदि बाद की ध्वनि उ और व हो तो उ का सन्निवेश होता है।

स्वरभक्ति—सं. धर्म:, अवे. गरेमो इत्यादि।

व्यञ्जन ध्वनियों की दृष्टि से भी कुछ भिन्नतायें हैं। भारोपीय भाषा में मूर्धन्य ध्वनियां (ट, ठ, ड, ढ, ण) नहीं थीं इन का विकास भारतीय आर्य भाषा में हुआ था इस लिये संस्कृत में ता यह ध्वनियां हैं परन्तु अवेस्ता में नहीं।

संस्कृत में पांचों चवर्ग ध्वनियां (च, छ, ज, झ, ञ) हैं परन्तु अवेस्ता में केवल च और ज तालव्य ध्वनियों के रूप में हैं।

अवेस्ता में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ (घ्, ध्, भ्) नहीं हैं परन्तु संस्कृत में ये सुरक्षित हैं। संस्कृत घ्, ध्, भ् के स्थान पर अवेस्ता में ग्, द्, ब् मिलते हैं अर्थात् उनका अल्पप्राणीकरण होजाता है। जैसे सं. भवति, अवे. बवइति; सं. धारयति, अवे. दारयति; सं. जंघा, अवे. जंग।

यदि संस्कृत क्, त्, प् के बाद कोई व्यञ्जन हो तो अवेस्ता में इनके स्थान पर ख़्, थ़्, फ़् हो जाते हैं। जैसे सं. क्रतु:, अवे. ख़्रतुश्, सं. सत्य:, अवे. तइथ्यो; सं. स्वप्नम्, अवे. ह्वफ़्नेम्। यदि इन ध्वनियों के पूर्व कोई ऊष्म ध्वनि हो तो यह परिवर्तन नहीं होता। जैसे सं. उष्ट्रम्, अवे. उश्त्रेम्।

संस्कृत ख्, थ्, फ् के स्थान पर भी अवेस्ता में ख़्, थ़्, फ़् होजाते हैं। जैसे सं. सखा, अवे. सख़ा; सं. गाथा, अवे. गाथ़ा; सं. कफ, अवे. कफ़। संस्कृत में अवेस्ता की ये संघर्षी ध्वनियाँ सर्वथा नहीं हैं।

आदि में अधिकांश में स्वर से पूर्व या दो स्वरों के मध्य में आने वाली संस्कृत 'स्' ध्वनि अवेस्ता में 'ह्' में परिणत होजाती है। जैसे—सं. सोम, अवे. हओम।

इस बात का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि भारत-ईरानी में र् और ल् का अभेद होगया था। संस्कृत में ल् ध्वनि बिल्कुल नहीं है इस लिये जहां संस्कृत में ल् ध्वनि है वहाँ अवेस्ता में उसके स्थान पर र् ध्वनि

मिलती हैं। जैसे सं. श्रीलः, अवे. स्रीरो (श्री या शोभा से युक्त)।

अवेस्ता में 'ज़्' और 'ज़्ह्' ध्वनियां सुरक्षित रहीं परन्तु संस्कृत में इन के स्थान पर क्रमश; 'ज्' और 'ह्' हो गया। जैसे सं. जानु; अवे. ज़ानू; सं. दहति, अवे. दज़्हैति।

ध्वनि-सम्बन्धी मुख्य भिन्नताओं का ही उल्लेख ऊपर किया गया है।

रूप-रचना

रूप-रचना की दृष्टि से अवेस्ता और संस्कृत में बहुत अधिक समानता है। दोनों में संज्ञारूपों की दृष्टि से आठ कारक, तीन वचन तथा तीन लिङ्ग विद्यमान हैं। धातुरूपों की दृष्टि से भी तीनों में तीन पुरुष, तीन वचन आदि की समानतायें हैं। षष्ठी बहुवचन का प्रत्यय -आनाम् और प्रथमपुरुष आज्ञाभाव के प्रत्यय -तु और -न्तु दोनों में समान रूप में देखने को मिलते हैं।

इन समानताओं के अतिरिक्त थोड़ी सी विभिन्नता भी है। संस्कृत में पञ्चमी विभक्ति एकवचन का प्रत्यय -आत् है जिसका प्रयोग केवल अकारान्त संज्ञाओं के साथ होता है जैसे देवात्, रामात् आदि। अवेस्ता में सभी संज्ञाओं के साथ इस प्रत्यय का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—सं. क्षत्रात्, अवे. ख्शथ्रात्, सं. विशः, अवे. वीसत्; सं. द्विषतः अवे. त्विश्यन्तत्।

भारोपीय भाषा में वर्तमान के उत्तमपुरुष एकवचन में दो प्रत्यय थे— -मि और -ओ। इनका प्रयोग भिन्न भिन्न क्रियाओं के साथ होता था। संस्कृत में -ओ प्रत्यय को सर्वथा छोड़ दिया गया और सभी स्थानों पर -मि का ही प्रयोग किया जाने लगा। अवेस्ता में भी बाद में यही स्थिति होने लगी थी परन्तु वहां सर्वत्र ऐसा देखने को नहीं मिलता। जैसे— भारोपीय *भेर्-ओ, ग्रीक फेर्-ओ, अवेस्ता बर्-आ, संस्कृत भरामि। परन्तु प्राचीन फ़ारसी में यह रूप बरामिय है।

अध्याय ४

भारत के अनार्य परिवार

यदि आर्यों को भारतवर्ष के मूल निवासी स्वीकार न किया जाय तो स्पष्टतया इस बात को मानना पड़ता है कि भारतवर्ष के मूल निवासी कोई और थे। आर्यों की परम्पराओं के अनुसार भारत-भूमि पर ही मनु से मानवजाति के विकास की कल्पना की जाती है। इस बात के तो स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होते और न ही निश्चयपूर्वक किसी अन्य आदि पुरुष की कल्पना की जा सकती है। परन्तु यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि अतिप्राचीन काल में आर्यों के आगमन से पूर्व भारतवर्ष में कोई भी जाति नहीं रहती थी। वैदिक साहित्य में आर्य और अनार्य जातियों के संघर्ष के उल्लेख मिलते हैं इस लिये यह सम्भावना की जा सकती है कि भारत में अतिप्राचीन काल से आर्यों के अतिरिक्त अनार्य जातियां भी निवास करती थीं। इन मूल जातियों में से अनेक जातियों का अन्तर्भाव आर्य अथवा अन्य अनार्य जातियों में भी हो गया होगा इस लिये इन सब का अनुमान तो नहीं लगाया जा सकता परन्तु कुछ जातियों के अस्तित्व के प्रमाण भाषा की दृष्टि से सुरक्षित हैं। इस प्रकार की जातियां चार मानी जाती हैं। (१) नेग्रिटो (Negritos), (२) भोट-ब्रह्म या तिब्बत-ब्रह्मी (Tibeto-Burman) (३) मुंडा या आस्त्रिक और (४) द्राविड़। नीचे इन के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार किया गया है।

नेग्रिटो

अभी तक के उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि भारतवर्ष में आने वाले सबसे प्राचीन लोग नेग्रिटो

जाति के थे। इनको निग्रोबटु भी कहा जाता है। ये लोग शायद अफ़्रीका से भारत में आये थे और इनके आगमन का मार्ग अरब तथा ईरान का समुद्री किनारा माना जाता है। सम्भवत: ये लोग आसाम और बर्मा के मार्ग से मलय और सुमात्रा में भी चले गये थे क्योंकि इस जाति के लोग सेमंग जाति के नाम से अभी तक वहाँ पर बसे हुए हैं।

भारत में आने से पूर्व और बाद में भी इस जाति के लोग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से सर्वथा निम्न या आदिम कोटि के थे इस लिये भारतीय सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में इनका कोई विशेष योगदान नहीं रहा। यही कारण है कि इनकी अपनी भाषा भी विशिष्ट रूप में सुरक्षित नहीं रह पाई। इनके कुछ अवशेष दक्षिणी बिलोचिस्तान में तथा कुछ भोट-ब्रह्म जातियों में भी पाये जाते हैं। दक्षिण भारत में इरूल, कादिर, कुरुम्ब आदि जातियों के रूप में इन के अस्तित्व का अनुमान लगाया जाता है परन्तु सर्वत्र ये लोग अपने पड़ौसियों की ही भाषा का व्यवहार करते हैं। इनका स्वतन्त्र अस्तित्व इस समय केवल अन्दमान द्वीपों में सुरक्षित है और वहीं पर ये अपनी भाषा का व्यवहार करते हैं। इनकी भाषा अन्दमानी को किसी भी अन्य परिवार के साथ सम्बन्धित नहीं किया जा सकता इस लिये इसका अपना स्वतन्त्र परिवार है।

इस परिवार की भाषा का आर्यपरिवार की भाषा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं दिखाई देता क्योंकि आर्यों के आगमन से पूर्व ही इनके अन्य भाषा परिवारों द्वारा पूरी तरह से आक्रान्त होने का अनुमान लगाया जाता है फिर भी एकाध शब्द की दृष्टि से आदान-प्रदान की थोड़ी बहुत कल्पना की जा सकती है।

तिब्बत-ब्रह्मी

बोलने वालों की विशाल जनसंख्या की दृष्टि से भारोपीय परिवार के बाद दूसरा स्थान चीनी परिवार का है। चीनी परिवार की अनेक शाखाये है जिन में से तिब्बत, बर्मा और भूटान में बोली जाने वाली शाखा

का नाम भोट-ब्रह्मी या तिब्बत- ब्रह्मी है। इस शाखा की दो मुख्य भाषायें हैं—१. तिब्बती और २. बर्मी। बर्मा तो कुछ वर्ष पहले भारत का ही एक भाग था और तिब्बत भी सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से जितना भारत के साथ सम्बद्ध रहा है उतना और किसी देश के साथ नहीं। यही कारण है कि तिब्बत-ब्रह्मी शाखा पर भारतीय आर्य भाषा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है परन्तु साथ ही भारत के अनेक क्षेत्रों पर इसका आधिपत्य भी है। यह क्षेत्र भारत की उत्तर-पूर्वी-सीमा पर तिब्बत और बर्मा के आसपास का पहाड़ी प्रदेश है। नागा जति के आदिम लोग इसी का व्यवहार करते हैं। नागा विभाषा के अतिरिक्त भारत में बोली जाने वाली इसी शाखा की बोलियों में गरो, बोदो, लोलो, कचिन और कुकी-चिन का विशेष रूप में उल्लेख किया जाता है।

तिब्बत-बर्मी जातियों में उपर्युक्त नेग्रिटो जाति के भी कुछ अवशेष मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस जाति के लोगों ने नेग्रिटो जाति के लोगों को आत्मसात् कर लिया था। इस के अतिरिक्त तिब्बत-बर्मी जातियों का भारतीय जातियों पर विशेष प्रभाव देखने को नहीं मिलता। ये जातियां भी जंगलों और पहाड़ियों पर रहती हैं। इनमें से मुख्य नागा जाति भी अभी तक अपनी आदिम अवस्था से कुछ आगे नहीं बढ़ सकी। इन के द्वारा बोली जाने बाली बोली भी कुछ विशेष उन्नत नहीं इस लिये सुसंस्कृत और सुसभ्य आर्यों की भाषा पर इनके विशेष प्रभाव पड़ने का कोई प्रश्न नहीं उठता परन्तु सामूहिक रूप से भारतीय आर्य भाषा का तिब्बत-बर्मी शाखा पर विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। यही एक कारण है कि यह शाखा चीनी परिवार की अन्य शाखाओं से पृथक् शाखा के रूप में अस्तित्व में आ गई।

मुंडा (आस्त्रिक)

प्रशान्त-महासागर खण्ड के भाषा-परिवारों में एक भाषा-परिवार मलाया-पालीनेशियाई है जिसे आस्ट्रोनेशियाई भी कहा जाता है। इस जाति के लोग मलाया, इन्डोनेशिया आदि अनेक स्थानों पर फैले हुए

हैं। ये लोग जहां भी गये अधिकतर वहां की अन्य जातियों के साथ मिल कर एकरूप हो गये इसलिये विभिन्न स्थानों पर इनके विभिन्न रूप हो गये। इसी जाति के कुछ लोग हिन्द-चीन में भी बसे हुए हैं। हिन्द-चीन में बसे हुए इन लोगों के वंशजों को मोन, ख्मेर आदि कहा जाता है। इस प्रकार आस्त्रिक परिवार की एक शाखा मोन-ख्मेर भी है। कुछ लोग आसाम के मार्ग से भारत में भी प्रविष्ट हुए। इन के वंशज भारत में बसी हुई अन्य जातियों के सम्पर्क में भी आये और इनका परस्पर सम्मिश्रण भी हुआ। आधुनिक काल में इन के वंशज मुख्य रूप में आसाम के खासी और भारत के मध्य भाग में बसे हुए कोल या मुंडा जाति के लोग है। भारत में बसी हुई इन जातियों को निषाद भी कहा जाता है। भारतीय आर्यों के साथ निषाद जाति के विशिष्ट सम्बन्ध के उल्लेख प्राचीन वाङ्मय में मिलते हैं।[1] यद्यपि संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से निषाद-सस्कृति आर्य संस्कृति से हीन मानी जाती थी तथापि इस जाति के लोगों के आर्यों के साथ सम्बन्ध मित्रता और समानता के थे।[2] ऐसा अनुमान किया जाता है कि आर्यों के आगमन से पूर्व ये लोग भारत के कई भागों में फैले हुए थे परन्तु पहले तो आर्यों ने इनके साथ संघर्ष करके इन्हें दूर दूर जंगलों की ओर खदेड़ दिया परन्तु बाद में इनके साथ मित्रता के सम्बन्ध स्थापित कर लिये। भारत में आर्यसंस्कृति के अधिक फैल

---

१. वाल्मीकि रामायण में इस जाति का विशेष उल्लेख मिलता है। राम के समय में इस जाति के लोग अयोध्या और गंगा के मध्य वाले भाग में रहते थे। निषादराज गुह ने राम को नौका में गंगा के पार पहुंचाया था। राम आदि तथा भरत का जैसा स्वागत गुह ने किया था उससे आर्यों और अनार्यों के परस्पर सम्बन्ध की कुछ झांकी देखने को मिल जाती है। शबर जाति भी इसी की एक शाखा मानी जाती है।

२. वाल्मीकि रामायण में राम ने निषादराज गुह को अपना मित्र माना है और उसे 'आत्मसम: सखा' तक कहा है।

जाने के कारण भारतीय आर्य भाषा का इन पर विशेष प्रभाव पड़ा परन्तु साथ ही इन की भाषाओं ने भारतीय आर्यभाषा को भी बहुत कुछ प्रभावित किया। विशिष्ट सम्पर्क स्थापित हो जाने पर भाषा-गत आदान-प्रदान होना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। पहले उल्लेख किया जा चुका है कि भारोपीय भाषा परिवार में गणना की दृष्टि से दशम-प्रणाली को अपनाया गया था परन्तु आस्त्रिक परिवार की भाषाओं में गणना प्रणाली बीस की है। उत्तर भारत के कुछ भागों में भी इस प्रणाली को अपनाया गया जोकि इसी परिवार के प्रभाव के कारण है। हिन्दी में बीस के लिये कोड़ी और बंगला में कुड़ी शब्द हैं। तिथि-गणना का मूल आधार भी आस्त्रिक परिवार को माना जाता है।

भारत की कोल, मुंडा आदि भाषाओं को आस्त्रिक परिवार से सम्बन्धित मानने में मतभेद है। हंगरी के विलियम हेवेसी (William Hevesy) का विचार है कि इन भाषाओं का सम्बन्ध उराल परिवार के साथ है परन्तु अभी तक इस विषय का विशेष तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया इस लिये इस मत को स्वीकार करना ठीक नहीं। वैसे इस बात की अवश्य आवश्यकता है कि इस पर गम्भीर विचार किया जाय। सम्भव है कि गहन अध्ययन के फलस्वरूप हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंच सकें।

भारत में इस परिवार की सब से मुख्य भाषा मुंडारी है। इसी के नाम पर ही इस परिवार के साथ सम्बन्धित सभी भाषाओं को मुंडा परिवार की भाषायें कहा जाता है। भाषा का नाम वस्तुत: मुंडारी है और 'मुंडा' इसी भाषा का एक शब्द है जिसका अर्थ मुखिया या ज़िमींदार होता है। पहिले इस भाषा परिवार को कोल परिवार कहते थे परन्तु यह नाम ठीक नहीं समझा गया। संस्कृत में कोल का अर्थ सुअर है—इस प्रकार यह शब्द निन्दा-वाची समझा जा सकता था जिसका प्रयोग ठीक नहीं। दूसरे 'कोल' एक जाति का नाम है और इस जाति के सभी लोग मुंडा भाषाओं का व्यवहार नहीं करते। इसी जाति के ओराओं लोग द्राविड़ परिवार की भाषा का व्यवहार करते हैं।

मुंडा परिवार की मुख्य बोलियों के नाम इस प्रकार हैं :—संथाली, मुंडारी, शाबरी आदि। इस परिवार की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया जाता है।

ध्वनि

मुंडा परिवार की अधिकांश ध्वनियां आर्य-भाषाओं की ध्वनियों से मिलती-जुलती हैं। इस परिवार की भाषाओं में स्वर ध्वनियाँ तथा व्यञ्जन ध्वनियाँ विद्यमान हैं। व्यञ्जन ध्वनियों में सघोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण के वर्ग भी विद्यमान हैं। इन ध्वनियों के अतिरिक्त इस परिवार की विशेष ध्वनियाँ अर्धव्यञ्जन हैं। ये अर्धव्यञ्जन क, च, त और प हैं। इन अर्धव्यञ्जन ध्वनियों का उच्चारण अन्य व्यञ्जन ध्वनियों से भिन्न है। सामान्य तौर पर हिन्दी ध्वनियों का उच्चारण बाहर जाने वाली श्वासवायु से किया जाता है परन्तु मुंडा परिवार की इन ध्वनियों का उच्चारण श्वास-वायु को अन्दर खींच कर किया जाता है।

आर्य भाषाओं की तुलना में इस परिवार की भाषाओं में महाप्राण ध्वनियों की मात्रा अधिक है; इस परिवार की एक मुख्य भाषा संथाली के शब्दों के प्रारम्भ में संयुक्त व्यञ्जन नहीं आता।

ग्रियर्सन ने इस परिवार की एक और ध्वनि सम्बन्धी विशेषता का भी उल्लेख किया है—"जिस प्रकार हिन्द-चीनी भाषाओं में अन्तिम व्यञ्जन को अक्सर रोक कर अथवा निम्न स्वर करके उच्चरित किया जाता है उसी प्रकार मुंडा में भी व्यञ्जन का उच्चारण होता है। चीन के विद्वान् इस प्रकार के उच्चारण को 'आकस्मिक' अथवा 'प्रवेश सुर' कहते हैं। कैन्टन की भाषा में भी व्यंजन का उच्चारण इसी प्रकार होता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है आस्ट्रो-एशियाटिक वर्ग मानख्मेर शाखा की भाषाओं की यह सामान्य विशेषता है।"[1]

---

१. **भारत का भाषा सर्वेक्षण**, खण्ड १, भाग १, हिन्दी **संस्करण**, १९५९ पृ० ६७।

रूप-रचना

मुंडा परिवार की भाषायें रूप-रचना की दृष्टि से योगात्मक हैं। इस दृष्टि से ये भाषाये बहुत कुछ तुर्की से मिलती-जुलती हैं। अनेक प्रत्ययों के सयोग से इसके शब्द बनते चले जाते हैं। उदाहरण के तौर पर सन्थाली भाषा में दल् का अर्थ मारना है और दपल् का अर्थ परस्पर मारना। 'दल्' धातु के मध्य-प्रत्यय 'प्' के संयोग से यह अर्थ-विभिन्नता लाई गई है। इसी से बना यह वाक्य है—"दल् ओचो-अकन्त-हेन्-तए-तिञ" अर्थात् "वह जो उनका है जो मेरा है चोट खाते रहने पर भी काम जारी रखेगा।" इसी प्रकार 'दपल्' से भी इसी प्रकार का एक शब्दात्मक वाक्य बनाया जा सकता है।

मुंडा परिवार की भाषाओं मे जुडने वाले अधिकांश प्रत्यय अन्त-योगात्मक अथवा मध्य-योगात्मक होते है। आवृत्ति और उपसर्ग का भी प्रयोग किया जाता है।

जिस प्रकार हिन्दी आदि आर्यभाषाओं में शब्दों को दो वर्गो में बांटा गया है—१. संज्ञा और २. क्रिया ; वैसा विभाजन मुंडा परिवार की भाषाओं में नहीं है। संज्ञा-शब्दों का लिङ्ग सम्बन्धी विभाजन भी इस परिवार की भाषाओं में नहीं है। अधिकांश में इस परिवार के शब्दों को दो बर्गों में बांटा गया है—१. चेतन और २ अचेतन। जहाँ पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के भेद को स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है वहाँ पुरुष-वाची और स्त्रीवाची शब्दों का प्रयोग किया जाता है जैसे 'कूल' का अर्थ बाघ है। पुलिङ्ग के लिये 'आंडिया कूल' और स्त्रीलिङ्ग केलिये 'एंगा कूल' शब्द का व्यवहार होता है। कुछेक शब्दों में लिङ्ग-विभाजन देखने को मिलता है परन्तु वह इस परिवार की अपनी विशेषता न होकर आर्य-भाषाओं के प्रभाव के कारण है, जैसे—कोड़ा अर्थात् लड़का और कूड़ी अर्थात् लड़की।

इस परिवार की भाषाओं में तीनों वचन विद्यमान हैं—१. एकवचन

२. द्विवचन और ३. बहुवचन, जैसे—हाड़ अर्थात् मनुष्य, हाड़कीन—दो मनुष्य और हाड़को—अनेक मनुष्य। उत्तम पुरुष सर्वनाम के द्विवचन तथा बहुवचन के रूपों में एक और विशेषता भी देखने को मिलती है। इन दोनों के दो दो रूप होते हैं। एक रूप में सम्बोधित व्यक्ति को भी सम्मिलित किया जाता है और दूसरे रूप में उसे सम्मिलित नहीं किया जाता। जैसे—यदि हम रसोइये को कहें कि 'हम भोजन करेंगे' तो हम के लिये 'अले' शब्द का प्रयोग किया जाता है 'अबान' का नही। 'अले' में रसोइये को सम्मिलित नहीं किया जाता। यदि हम किसी मित्र से कहें कि हम इकट्ठे भोजन करेंगे तो हम के लिये 'अबान' का प्रयोग किया जायेगा क्योंकि इसमें मित्र भी सम्मिलित होगा।

इस परिवार की भाषाओं में संख्या का मुख्य आधार बीस है। पहिले एक से दस तक गिनती है, जैसे –१ मिट, २ बारेआ, ३ पैआ, ४ पोनआ, ५ मगड़ा, ६ तुरुइ, ७ सआए, ८ इड़ाल, ९ आरे. १० गैल। इसके अनन्तर बीस के लिये एक शब्द है—इसि। दस और बीस के बीच में खन (अधिक) और कम (न्यून) जोड़ कर संख्यावाची शब्द बनाये जाते है। जैसे गैल खन पोनआ (१४), बारेआ कम बरिस (१८)। बीस से ऊपर की संख्यायें बीस के आधार पर गिनी जाती हैं; जैसे—पै इसि—६०, पोन इसि ८०।

इस परिवार की भाषाओं में पृथक्-रूप से क्रियापद नहीं हैं। एक ही शब्द संज्ञा का भी काम दे सकता है और क्रिया का भी। क्रिया-रूपों के निर्माण में काफी जटिलता है। अनेक प्रत्ययों और आवृत्ति से इन रूपों का निर्माण किया जाता है। क्रिया-रूपों में एक विशेष बात देखने को मिलती है। 'अ' प्रत्यय का प्रयोग केवल निश्चयात्मक रूपों के साथ किया जाता है संख्यात्मक के साथ नहीं। जैसे 'दल्-केत-अ' का अर्थ है उसने मारा। मारने की बात निश्चित है। 'खजुक-अलो-ए-दग' का अर्थ है अगर पानी न बरसे। इस में पानी बरसने की बात निश्चित नहीं बल्कि संशयात्मक है इस लिये

यहां क्रिया के साथ -अ प्रत्यय का प्रयोग नहीं किया गया ।

अव्ययों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और उन के अपने निजी अर्थ भी हैं । जैसे मैन-खन का अव्यय अर्थ 'लेकिन' है परन्तु इस का वास्तविक अर्थ है—'अगर तुम कहो ।'

इस परिवार की भाषाओं का प्रभाव आर्य भाषाओं, द्राविड़ी भाषाओं और तिब्बत चीनी भाषाओं पर बहुत पड़ा है । ध्वनि-सम्बन्धी प्रभाव की दृष्टि से तो स्पष्ट रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना निश्चित है कि आर्य भाषाओं पर मुंड़ा रूप रचना का विशेष प्रभाव पड़ा है । उदाहरण के तौर पर बिहारी बोलियों जैसे भोजपुरी, मगही और मैथिली में क्रिया की जटिलता इसी प्रभाव के कारण है । हिन्दी, गजराती आदि भाषाओं में उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो दो रूप मिलते हैं वह भी मुंड़ा के प्रभाव के कारण है, जैसे—हिन्दी में 'अपन गए थे' और 'हम गए थे ।' 'अपन' में हम और तुम दोनों सम्मिलित है, 'हम' में नहीं । इसी प्रकार गुजराती में 'अमे गया हता' और 'आपणे गया हता' इन वाक्यों में वही विभिन्नता देखने को मिलती है । हिन्दी में बीस के लिये कोरी या कोड़ी शब्द का प्रयोग होता है । यह शब्द मुंडा के 'कुड़ी' शब्द का रूपान्तर है। कुछ विद्वान् इसे अंग्रेज़ी के स्कोर् (score) शब्द से आया हुआ मानते हैं । यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती ।

द्राविड़

प्रधानता की दृष्टि से भारतवर्ष में आर्यभाषाओं के बाद द्राविड़ भाषाओं का ही स्थान है । इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र केवल भारत तक ही सीमित है । अधिकांश में भारत का दक्षिणी भाग ही इन का मुख्य क्षेत्र है । गोदावरी से लेकर कुमारी अन्तरीप तक ये भाषायें फैली हुई हैं । दक्षिणी भारत के अतिरिक्त लंका, बिलोचिस्तान, मध्य प्रदेश तथा बिहार में भी इस परिवार की भाषायें बोली जाती हैं ।

"'द्राविड़' शब्द संस्कृत भाषा का है। इसी का रूपान्तर 'दविड़' है। इस का पालि रूप 'दमिठ' है। वराहमिहिर ने 'द्रमिड़' शब्द का व्यवहार किया है। दूसरी ओर ग्रीक ग्रन्थों में डमरिक, डिमरक शब्द का प्रयोग होता है। इस परिवार की सब से मुख्य भाषा 'तामिल' के नाम का विकास इसी दविड़ शब्द से हुआ है। कभी कभी इस परिवार को तामिल परिवार भी कह दिया जाता है।

दक्षिण भारत में शारीरिक गठन की दृष्टि से मुंडा परिवार की भाषायें बोलने वाले लोग भी द्राविड़ लोगों के समान हैं इसीलिये मानव-विज्ञानियों द्वारा जाति की दृष्टि से उन्हें भी द्राविड़ मान लिया गया था। मुंडा परिवार की भाषाओं की द्राविड परिवार की भाषाओं से तुलना करने पर यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि दोनों में कुछ ऐसे मौलिक भेद हैं जिनके कारण इन्हें एक परिवार की भाषायें नहीं माना जा सकता। उदाहरण के तौर पर मुंडा भाषाओं में अर्द्ध-व्यञ्जन ध्वनियां विद्यमान हैं। द्राविड़ी भाषाओं में इन ध्वनियों का कोई अस्तित्व नहीं। रूपरचना की दृष्टि से मुंडा परिवार की भाषाओं में संज्ञाओं का विभाजन चेतनता और अचेतनता पर आधारित है। द्राविड़ी भाषाओं में यह विभाजन विवेकी और अविवेकी के आधार पर है। मुंडा परिवार में संख्या का आधार बीस का क्रम है परन्तु द्राविड़ परिवार में संख्या का आधार दस का क्रम है। मुंडा परिवार में तीन वचन हैं, द्राविड़ परिवार में केवल दो वचनों का अस्तित्व है। मुंडा परिवार में मुख्य रूप में मध्य-योगात्मक प्रत्ययों का प्रयोग होता है, द्राविड़ परिवार में ऐसे प्रत्ययों की सत्ता ही नहीं है। इन भिन्नताओं को देखते हुए दोनों को एक वर्ग में रखना सर्वथा अनुचित है।

कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि द्राविड़ परिवार का सम्बन्ध उराल-अल्ताई परिवार के साथ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों परिवारों की भाषायें रूप-रचना की दृष्टि से योगात्मक हैं परन्तु इसी आधार पर दोनों को एक ही परिवार की भाषायें नहीं कहा जासकता।

वस्तुत: दोनों परिवारों में शब्द-रूप, धातुओं और प्रत्ययों की दृष्टि से इतनी अधिक विभिन्नतायें है कि किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

कुछ विद्वानों का यह भी विचार रहा है कि द्राविड परिवार की भाषाओं का सम्बन्ध आस्ट्रेलिया की भाषाओं से है। इस सम्बन्ध मे यह अनुमान भी लगाया गया है कि प्रागैतिहासिक काल मे भारत और आस्ट्रेलिया के मध्य लैमूरिया महाद्वीप था जो दोनों देशों को स्थलमार्ग से सम्बन्धित करता था। यह महाद्वीप अब भारतीय महासागर के नीचे विलीन होगया है। यद्यपि इस सम्बन्ध को सर्वथा असम्भव तो नहीं कहा जासकता तथापि अभी तक इस विषय में उपलब्ध सामग्री का पूर्णतया विवेचन और विश्लेषण नहीं किया गया। इस वैज्ञानिक अध्ययन के अभाव मे कोई कल्पना करना उचित नही।

द्राविड़ सभ्यता और संस्कृति का सम्बन्ध मोहेंजो-दारो आर हड़प्पा से जोड़ने के भी प्रयत्न किये गये है परन्तु अभी तक मोहेंजोदारो की लिपि का वास्तविक स्वरूप किसी की समझ में नहीं आया। जब तक उस लिपि को समझा नही जाता तब तक कुछ कहना केवल कल्पना ही है, जो आवश्यक नही वैज्ञानिक सत्य के सर्वथा निकट हो। इस प्रकार जब तक इस परिवार के किसी अन्य परिवार से सम्बन्धित होने के निश्चित और युक्ति-सगत प्रमाण नहीं मिलते तब तक इसे स्वतन्त्र परिवार मानना ही अधिक उपयुक्त रहेगा।

मुख्य भाषायें

द्राविड़ परिवार की भाषाओं को मुख्य रूप में तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—१. दक्षिणी २. मध्यवर्त्ती और ३. पश्चिमोत्तरी। दक्षिणी भाषाओं के दो उपवर्ग और हैं—१. द्राविड़ और २. आन्ध्र। द्राविड़ के अन्तर्गत मुख्यभाषा तामिल है—मलयालम का विकास इसी से हुआ है। इनके अतिरिक्त कन्नड़, तुडु, कोडगु, टोडा आदि भाषाये भी इसी वर्ग की

हैं। आन्ध्र वर्ग की मुख्य भाषा तेलुगू है। मध्यवर्ती वर्ग में सब से मुख्य भाषा गोंडी है। इसके अतिरिक्त कुरुख, कूई कोलामी आदि बोलियां भी हैं। पश्चिमोत्तरी वर्ग की एक भाषा ब्राहुई है जो बिलोचिस्तान में बोली जाती है।

भारत के संविधान में उल्लिखित मुख्य भाषाओं के अन्तर्गत द्राविड़ परिवार की केवल चार भाषाओं का उल्लेख किया जाता है—१. तामिल २. मलयालम ३. कन्नड़ और ४. तेलुगू। भाषा के आधार पर पुनर्विभाजन इन्हीं चार भाषाओं के आधार पर किया गया है। नवनिर्मित चार राज्य क्रमश: मद्रास, केरल, मैसूर और आन्ध्र हैं।

तामिल

द्राविड़ परिवार की मुख्यतम भाषा तामिल है। यह सब से अधिक प्राचीन भाषा मानी जाती है। इस में लिखा प्राचीन साहित्य काफी मिलता है। भारत में प्राचीनता की दृष्टि से संस्कृत के बाद इसी का स्थान है। इसका क्षेत्र नवनिर्मित मद्रास राज्य है; इसे तामिलनाड भी कहा जाता है। लंका के उत्तरी भाग में भी इसके बोलने वालों की पर्याप्त संख्या विद्यमान है। इसकी अनेक बोलियां है—कोरव या येरुकल, इरुला, कसुवा, कैकाडी, बरगन्डी आदि। मुख्य रूप में तामिल के दो भेद माने जाते हैं—१. शेन् २. कोडुन्। शेन् साहित्यिक भाषा है और कोडुन् सामान्य जनता में व्यवहृत बोलचाल की भाषा है। साधारणतया तामिल में संस्कृत के शब्द अधिक नहीं हैं परन्तु इसकी एक साहित्यिक शैली का नाम मणिप्रवाल है जिस में संस्कृत शब्दों की बहुलता है। तामिल का साहित्य उत्कृष्ट कोटि का है।

मलयालम

मलयालम तामिल के अत्यधिक निकट है इस लिये इसे तामिल की ही एक शाखा माना जाता है। यह मलबार के किनारे पर बोली जाती है इस लिये इसका नाम 'मलबार' के 'मल' शब्दांश के आधार पर ही पड़ गया है।

मल का अर्थ पर्वत है और -यालम प्रत्यय जुड़ जाने से इसका अर्थ 'पर्वतीय प्रदेश' है मलयालम पर संस्कृत का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। केवल दक्षिणी कनारा में रहने वाले मोपला मुसलमानों की भाषा में संस्कृत के शब्द बहुत कम हैं। इस की एक ही बोली येरव है।

न्नड़

कन्नड़ भाषा का केन्द्र मैसूर राज्य है। इस का सम्बन्ध ऐतिहासिक कर्नाटक प्रदेश के साथ है। यह प्रदेश पश्चिमी तथा पूर्वी घाटों के ऊपर स्थित था। इस पर सोलहवी शताब्दी के बाद से ही संस्कृत और उर्दू के शब्दों का प्रभाव पड़ा है। बम्बई राज्य के दक्षिण-पूर्वी कोने में बोली जाने के कारण इस पर मराठी का भी प्रभाव पड़ा है और उत्तरपूर्व में यह तेलुगू से भी प्रभावित हुई है। कन्नड़ की मुख्य बोलियाँ 'बडग्' 'कुरुम्ब' तथा 'गोलरी' है।

तेलुगू

आन्ध्र वर्ग के अन्तर्गत अनेक बोलियां है परन्तु इन बोलियों की एक ही भाषा तेलुगू है। यह नव-निर्मित आन्ध्र राज्य की मुख्यभाषा है। मुसलमान लोग आन्ध्रप्रदेश को तेलिगाना कहते हैं। इसी से तेलुगू शब्द सम्बन्धित है। हिंदी में तिलंगा का अर्थ सैनिक है। यहां के लोग वस्तुत; बहुत वीर सैनिक हैं और मुग़ल काल में इस प्रदेश से अनेक सैनिक भर्त्ती किये जाते थे। भारत मे संस्कृत और तामिल के बाद इसी भाषा का स्थान माना जाता है। यह कई दृष्टियों से तामिल से भी उत्कृष्ट है। यह भाषा इतनी मधुर है कि इसे पूर्व की इटाली भाषा भी कहा जाता है। पुर्तगाली भाषा में इसका नाम जेन्टू भी था। पुर्तगाली भाषा में एक शब्द है, जेन्टाइल। इसका अर्थ है मूर्त्तिपूजक। आजकल तेलुगू के लिये 'जेन्टू' शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता। इसकी मुख्य बोलियों के नाम इस प्रकार हैं—रेमटाड, सालेवारी, गोलरी, बेरडी, वडरी, कामाठी, दासरी। सँस्कृत भापा का प्रभाव तेल्गुगू पर बहुत अधिक पड़ा है।

साहित्यिक भाषा में स्वतन्त्रता पूर्वक संस्कृत के अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

इन चार भाषाओं के अतिरिक्त मध्यवर्त्ती शाखा की गोंडी बोली का भी अपना विशिष्ट स्थान है। इसी की एक बोली माल्टो भी है। गोंडी का अर्थ है गोंड लोगों की बोली। गोंड लोगों ने अधिकतर हिन्दी को अपना लिया है। पश्चिमोत्तरी वर्ग की ब्राहुई भाषा तो द्राविड़ प्रदेश से बहुत दूर है। यह पूर्वी बलोचिस्तान के बीच बोली जाती है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि इस भाषा को बोलने वाले जाति या वंश की दृष्टि से द्राविड़ लोगों से सर्वथा पृथक् और भिन्न हैं तथापि वे द्राविड़ परिवार की भाषा बोलते हैं और चारों ओर आर्य भाषाओं से आक्रान्त होते हुए भी यह भाषा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थिर रखे हुए है।

विशेषतायें

ध्वनियों की दृष्टि से द्राविड़ परिवार की भाषाओं में मूर्धन्य व्यञ्जनों की अधिकता है। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि भारतीय आर्य-भाषा में कुछ मूर्धन्य ध्वनियों का आगमन द्राविड़ी प्रभाव के कारण हुआ था परन्तु यह बात ठीक नहीं। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मूर्धन्य ध्वनियों के प्रयोग को अधिक व्यापक बनाने में द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव ही रहा है। इस परिवार की भाषाओं के शब्द अधिकांश में स्वरान्त होते हैं। व्यञ्जनान्त शब्दों के अन्त में व्यञ्जन के बाद बहुत छोटी अकार या उकार की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस परिवार की सभी भाषाओं में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि आदि में सघर्षी व्यञ्जन नहीं आ सकता। यह प्रवृत्ति विशेषतया तामिल में है। यही कारण है कि संस्कृत शब्द 'दन्त' तामिल में 'तन्दम्' है।

रूप रचना की दृष्टि से द्राविड़ भाषायें भी योगात्मक हैं परन्तु मुंडा भाषाओं जैसी अयोगात्मकता इन में देखने को नहीं मिलती। संज्ञा-शब्दों के विभाजन का मुख्य आधार उच्चजातीयता और निम्नजातीयता है।

इन्ही को विवेकी और अविवेकी कहा जाता है। इन भाषाओ मे सभी अचेतनवाचक और अविवेकी सज्ञाशब्द नपुसक लिग मे होते है। पुलिग और स्त्रीलिग का भेद कुछेक सर्वनामो, विशेषणो और क्रियापदो तक सीमित है अन्यत्र स्त्रीवाची और पुरुषवाची शब्दो से काम चलाया जाता है। ब्राहुई भाषा मे लिगभेद बिल्कुल नही है जिस का कारण ईरानी-भाषा का प्रभाव माना जा सकता है।

द्राविड़ परिवार की भाषाओ मे दो वचन हो है—एकवचन और बहुवचन। द्विवचन का अस्तित्व नही है। कारकीय विभक्ति का प्रयोग नही किया जाता—केवल परसर्गों के द्वारा ही उन का अर्थ स्पष्ट किया जाता है। ये परसर्ग केवल विकारी रूपों के बाद ही प्रयुक्त किये जाते है। गणना का आधार-क्रम आर्य भाषा के समान ही दस है। कुछ लोगो का यह विचार है कि द्राविड मे सोलह की गिनती का आधार क्रम भी था। भारत मे प्रचलित सोलह (आने) की प्रणाली को द्राविड माना जाता है। परन्तु यह बात सर्वथा निश्चित नही है।

जिस प्रकार मु डा परिवार की भाषाओ मे उत्तमपुरुष सर्वनाम के द्विवचन और बहुवचन के दो रूप होते है उसी प्रकार द्राविड परिवार की भाषाओ मे भी बहुवचन के दो रूप होते है एक मे वक्ता और श्रोता दोनो सम्मिलित होते है और दूसरे मे केवल वक्ता ही।

अधिकाश मे सज्ञा और क्रिया की दृष्टि से पृथक २ विभाजन नही किया गया। अनेक सज्ञा शब्द क्रियारूप मे भी व्यवहृत होते है। जैसे तामिल मे 'कोन' का अर्थ राजा है। 'कोन-एन' का अर्थ 'मै राजा हू'। 'एन' मै के अर्थ मे प्रयुक्त उत्तम पुरुषवाची एकवचन सर्वनाम है और 'कोन' का प्रयोग क्रिया के रूप मे किया गया है। इन भाषाओ के क्रियारूपो मे कर्मवाच्य की कोई सत्ता नही। कालो का विभाजन निश्चित और अनिश्चित के आधार पर किया गया है। कृदन्त रूपो की प्रधानता है।

आर्य लोगो के भारत मे आने से पूर्व हो अनार्य भाषाओ के अस्तित्व

की कल्पना की जाती है । आर्य लोग इन भाषाओं के सम्पर्क में आये तो इनकी भाषा और अनार्य भाषाओं का आदान-प्रदान स्वाभाविक ही है । पीछे मुंडा भाषाओं के प्रभाव का संक्षेप रूप में उल्लेख किया जा चुका है । द्राविड़ भाषा का भी आर्य भाषा पर कम प्रभाव नहीं पड़ा । यदि इन भाषाओं का अतिप्राचीन रूप सुरक्षित होता तो इस प्रभाव का निश्चित स्वरूप आसानी से समझा जा सकता था । फिर भी कुछेक बातें तो इतनी स्पष्ट हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता । उदाहरण के तौर पर प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में विभक्तियों की प्रधानता थी परन्तु हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में परसर्गों का ही प्रयोग होता है । यह द्राविड़ प्रभाव के कारण ही है । चेतन और अचेतन की दृष्टि से भिन्नता भी इस प्रभाव के कारण है । "राम ने कृष्ण को रोटी खिलाई" इस वाक्य में कर्मवाची 'को' का प्रयोग कृष्ण अर्थात् चेतन के साथ है अचेतन 'रोटी' के साथ नहीं यद्यपि कृष्ण और रोटी दोनों कर्म हैं । आधुनिक आर्य-भाषाओं में कृदन्त रूपों की प्रधानता भी द्राविड़ी प्रभाव के कारण ही है ।

अध्याय ५

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा

आर्य लोग ईरानी वर्ग से पृथक् होकर अफगानिस्तान के पहाड़ी प्रदेशो तथा दर्रो से होते हुए पजाब के मैदानो मे प्रविष्ट हुए। यहीं से भारतीय आर्यभाषा का समय प्रारम्भ होता है। जो लोग परम्परा-प्राप्त दृष्टिकोण को अपनाते हुए आर्यो का मूल स्थान भारत भूमि को मानते हे उनके लिये आर्यो के भारत-प्रवेश का समय निश्चित करने की कोई आवश्यकता नही क्योंकि प्राय: अनादिकाल से उनका अस्तित्व भारत-भूमि पर माना जा सकता है। इस प्रकार उनकी भाषा भी अनादि मानी जा सकती है परन्तु भाषाविज्ञानियो को परम्परा-प्राप्त धारणा से सतोप प्राप्त नही होता और वे आर्यो का भारत प्रवेश लगभग २००० ई० पू. से १५०० ई० पू० मानते है। यह समय केवल अनुमान पर आश्रित है इस लिये इसे सर्वथा ठीक नही माना जा सकता।

भारत मे आर्य एक सुसंगठित दल के रूप मे ही प्रविष्ट नही हुए थे बल्कि वे अनेक दलो मे विभाजित होकर ही आये थे—ऐसा अनुमान भी लगाया जाता है। भारत मे आने वाले इन आर्य-दलो को अनेक कठिनाइयों और बाधाओ का सामना करना पडा। दास-दस्यु जाति के लोगो के साथ उनका सघर्ष हुआ ही था, इसके अतिरिक्त भारत मे बसी अनार्य जातियों के साथ भी उन्हे युद्ध करना पडा। सब से पहले आर्य लोग आधुनिक पजाब और उसके आसपास के प्रदेश मे बस गये थे जिसे प्राचीन काल मे सप्तसिन्धु प्रदेश कहा जाता था। यही से ये लोग धीरे धीरे मध्य देश और अन्य स्थानो की ओर बढ गये थे। आर्यो ने इन स्थानो पर बसी हुई अनार्य जातियो को परास्त कर आधिपत्य जमा लिया था।

पहले पहल जब आर्य भारत में प्रविष्ट हुए होंगे तो यह सम्भव है कि उनकी भाषा ईरानी भाषा के बहुत अधिक निकट हो परन्तु धीरे धीरे उनकी भाषा से अनेक परिवर्तन होने लगे जिससे भारतीय आर्यभाषा ईरानी भाषा में पृथक् अपना स्वंतन्त्र अस्तित्व धारण करने लगी। कुछेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इस प्रकार हैं—झ और ज़्ह का ह् में परिवर्तन हो गया। ज् और ज़् एकरूप होगये अर्थात् उनका परिवर्तन ज् के रूप में होगया। क्स् और श्स् के स्थान पर केवल क्ष होगया। सघोष ग्ज़्ह् और ब्ज़्ह् का परिवर्तन अघोष 'क्ष' और 'प्स' के रूप में होगया। ज् का सर्वथा लोप होगया, जैसे संस्कृत—मेघा, अवेस्ता—मज़्दा। मूर्धन्य ध्वनियों का विकास होने लगा। ध् और भ् का ह् में रूपान्तर होने लगा, जैसे संस्कृत इह, अवेस्ता इद्। परन्तु पालि में प्राचीन रूप 'इध' सुरक्षित है।

इस प्रकार धीरे धीरे भारतीय आर्य भाषा ईरानी भाषा से सर्वथा पृथक् होने लगी। यह भी स्मरणीय है कि आर्य लोग विभिन्न दलों मे आये थे। इन दलों में भी बोलीगत विभिन्नता विद्यमान थी। इसी विभिन्नता के कारण अति प्राचीन काल में भारतीय आर्य भाषा की भी अनेक बोलियां थीं। केवल 'र्' और 'ल्' के आधार पर ही बोलीगत विभिन्नता की कल्पना की जा सकती है। पीछे कहा जा चुका है कि भारत-ईरानी शाखा में 'र्' और 'ल्' एक रूप हो गये थे अर्थात् केवल 'र्' का ही अस्तित्व रह गया था। मूल भारतीय आर्यभाषा में ईरानी के समान ही केवल र् था। इसे पश्चिमी बोली कहा जाता है। दूसरी बोली ऐसी भी थी जिस में 'र्' और 'ल्' दोनों थे। तीसरी बोली पूर्वी थी जिस में केवल 'ल्' था। र् का उसमे अस्तित्व नहीं था।[1] इस प्रकार भारोपीय भाषा का क्रइ-लो शब्द भारतीय आर्य भाषा की तीन भिन्न भिन्न बोलियों में तीन रूपों मे परिवर्तित हुआ—श्री-र, श्री-ल तथा श्लील।

---

१. सम्भवतः इसी बोली को बोलने वाले असुरों के सम्बन्ध में पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है—"ते असुराः हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः।" हेऽरयः के स्थान पर 'हेलयः' उच्चारण दिया है।

बोलीगत विभिन्नतायें आर्यों की भाषा में भारत-प्रवेश से पूर्व भी थीं और बाद में भी रहीं परन्तु इनकी एक परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा भी थी जिसमें वैदिक मन्त्र लिखे गये हैं। यह भी सम्भव है कि इन में भी बोलीगत विभिन्नता रही है। परन्तु एक बार संहिता रूप में लेखबद्ध हो जाने के बाद इनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी भाषा से ही भारतीय आर्यभाषा का प्रारम्भ होता है।

सुविधा की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषा को तीन वर्गों में बांट दिया जाता है।

१. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा
२. मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषा
३. आधुनिक भारतीय आर्य भाषा

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का समय आर्यों के भारत-प्रवेश से लेकर ५०० ई० पू० है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा को साधारणतया संस्कृत कह दिया जाता है इसमें वैदिक और लौकिक (Classical) दोनों रूप सम्मिलित हैं। वैदिक भाषा को छान्दस् भी कहा जाता है।

संस्कृत का विकास

प्राचीन काल में सप्तसिन्धु प्रदेश की भाषा उदीच्य भाषा के रूप में विख्यात थी। यह भाषा परिनिष्ठित और सुसंस्कृत भाषा मानी जाती थी। इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं कि लोग उदीच्य भाषा को बहुत गौरव की दृष्टि से देखते थे।[1] इसके अतिरिक्त आसुरी भाषा के भी उल्लेख मिलते

---

१. तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते, उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्, यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति।

—सांख्यायन या कौशीतकि ब्राह्मण-७-६।

हैं। सम्भवत: यह प्राच्य भाषा थी।[1] इन दोनों के मध्य में मध्यदेशीय या प्रतीच्य भाषा का भी अनुमान किया जाता है। वैदिक आर्यों की प्रवृत्ति मूल वैदिक मन्त्रों को उसी रूप में सुरक्षित रखने की थी इसलिये वे वैदिक भाषा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आने देना चाहते थे। उस समय भाषा के दो रूप हो गये। एक शिक्षित लोगों की सुसंस्कृत भाषा, दूसरी सामान्य जनता की भाषा। सुसस्कृत भाषा में तो बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आसके परन्तु सामान्य जनता की भाषा में अनेक प्रकार के परिवर्तन होने लगे। इसी सामान्य जनता की भाषा से ही बाद में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अनेक भाषायें निकलीं।

इस में कोई सन्देह नहीं कि परिनिष्ठित या सुसंस्कृत भापा को स्थिर रखने के अनेक प्रयत्न किये गये जिसके कारण उस भाषा में बहुत अधिक परिवर्तन तो नहीं हो सका परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह भाषा सर्वथा अपरिवर्त्तित रही इस भाषा का इतिहास वैदिक मन्त्रों की भापा से ले कर पाणिनि द्वारा व्याकरणबद्ध भाषा तक का इतिहास समझा जा सकता है। यदि हम पाणिनि की भाषा से वैदिक मन्त्रों की छान्दस् भापा से तुलना करें तो इन दोनों में पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है इसीलिये पाणिनि ने छान्दस् भाषा के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट नियम बताये हैं।

सस्कृत का प्राचीनतम उपलब्ध रूप ऋग्वेद के मन्त्रों में देखने को मिलता है। यह तो नही कहा जा सकता कि ऋग्वेद के मन्त्र एक ही समय में लिखे गये थे। इसलिये इन अलग अलग समयों में लिखे गये मन्त्रों में भी भाषागत विभिन्नता है। कुछ मन्त्र अत्यन्त प्राचीन हैं अन्य मन्त्र अपेक्षाकृत अर्वाचीन भी है इसलिये वैदिक भाषा में ही कुछ विभिन्नता दिखाई देने लग जाती है।

वैदिक मन्त्रों के बाद ब्राह्मण-काल आता है। ब्राह्मण ग्रंथों की

---

1. देखिये पृ. २७६ पर दिया हुआ महाभाष्य का उद्धरण।

भाषा वैदिक मन्त्रों की भाषा से बहुत कुछ भिन्न है। इनकी भाषा बहुत कुछ बाद की लौकिक संस्कृत से मिलती जुलती है। अनेक वैदिक शब्द और लुप्त होने लग गये थे और भाषा में जटिलता के स्थान पर सरलता आने लग गई थी। ब्राह्मण ग्रथों के साथ साथ ही उपनिषद् ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है। यद्यपि इन दोनों की भाषा में विशेष विभिन्नता नहीं है तथापि उपनिषदों में चिन्तन और भावात्मकता की प्रधानता होने के कारण भाषा में विलक्षण प्रवाहमयता देखने को मिलती है।

भाषा मे इस परिवर्तन के कारण वैदिक भाषा के अनेक शब्द साधारण प्रचलन में न आने के कारण दुर्बोध्य होने लग गये। इसी दुर्बोध्य अंश को स्पष्ट करने के लिये निरुक्तियां अर्थात् व्याख्याये लिखी जाने लगीं। इनमें यास्ककृत निरुक्त का विशिष्ट स्थान है। निरुक्त की भाषा वैदिक साहित्य की भाषा से अर्वाचीन है परन्तु लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

इसी के साथ ही सूत्रकाल भी कहा जाता है जबकि श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र जैसे ग्रंथ लिखे जाने लग गये। इसी काल में संस्कृत की अनेक शैलियो का विकास होने लग गया था। विशिष्ट विषयों के प्रतिपादन में इन शैलियों का उपयोग किया जाता था।

इसी समय पाणिनि ने अष्टाध्यायी नामक सुव्यवस्थित और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। पाणिनि ने अपने समय की भाषा का वास्तविक स्वरूप निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया। उनकी प्रणाली वर्णनात्मक थी। अपने समय की भाषा का जैसा वर्णन पाणिनि ने किया है वैसा आज तक के उपलब्ध साहित्य मे कोई भी नहीं कर पाया। पाणिनि एक महान् व्याकरणकार थे। उनकी अन्तर्दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म थी। भाषा से सम्बन्धित सभी विषयों का सक्षिप्त प्रतिपादन करने की उन में अद्भुत शक्ति विद्यमान थी और जिस कौशल से उन्होंने इस कार्य को किया है उनकी देश-विदेश के सभी विद्वानों ने बहुत अधिक प्रशंसा की है। पाणिनि ने मुख्य रूप में लौकिक भाषा अर्थात् अपने समय में सामान्य रूप में

व्यवहृत भाषा का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है परन्तु साथ ही जहा जहा छान्दस रूपो की विभिन्नता देखने को मिलती है उसे स्पष्ट किया है

पाणिनि के बाद सस्कृत भाषा का स्वरूप अधिकाश मे पाणिनि के व्याकरण के अनुसार ही रहा है। भाषा के व्याकरणबद्ध हो जाने पर उस मे स्थिरता आ जाना स्वाभाविक है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उसका विकास सर्वथा रुक गया। जैसे जैसे अनार्य भाषाओ के साथ आर्यो का सम्पर्क बढता गया वैसे वैसे सस्कृत पर उन भाषाओ का भी प्रभाव पडने लगा। पाणिनि के बाद भी व्याकरण ग्रथ लिखे गये जिन मे कात्यायन-कृत वार्त्तिक और पतञ्जलिकृत महाभाष्य का विशिष्ट स्थान है। बाद के सभी व्याकरण ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण की व्याख्या मात्र है।

भारतवर्ष मे सस्कृत का अत्यधिक महत्त्व रहा है। भारत के सम्पूर्ण प्राचीन वाङमय की भाषा यही रही है। वैदिक-साहित्य, रामायण, महाभारत, पुराण, उत्कृष्ट कोटि का अन्य साहित्य सभी कुछ इसी भाषा मे लिखा गया। सास्कृतिक और बौद्धिक सम्पर्क की दृष्टि से एकमात्र माध्यम सस्कृत को ही बनाया गया। बाद मे अनेक प्राचीन वैदिक शब्द सर्वथा लुप्त हो गये और अनेक नये शब्द विकसित होने लगे। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक बोली जाने वाली भाषा मे विकास होना स्वाभाविक ही था। अधिकाश मे यह विकास शब्दो मे ही देखने को मिलता है। इसके अनेक कारण थे। पहली बात तो यह है कि सस्कृत भाषा मे नये शब्द निर्माण कर सकने की अद्भुत शक्ति विद्यमान है इसी कारण जब कभी नये शब्दो की आवश्यकता हुई उनका निर्माण कर लिया गया। ऊपर कहा जा चुका है कि अतिप्राचीन काल मे ही भाषा के दो रूप हो गये थे। एक परिनिष्ठित भाषा और दूसरी सामान्य बोलचाल की भाषा। सामान्य बोलचाल की भाषा मे तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे थे इसलिये उसमे अनेक शब्दो का विकास हो चुका था। सस्कृत ने अनेक शब्द बोलचाल की भाषाओ से ग्रहण कर लिये। विदेशी सम्पर्क के बाद

कुछेक विदेशी शब्द भी सस्कृत मे आ गये परन्तु इनकी सख्या बहुत कम है। द्राविड और मु डा परिवार की भाषाओ के शब्द भी सस्कृत मे प्रविष्ट हो गये थे। प्रारम्भिक काल से बौद्ध और जैन विद्वान् सामान्य बोलचाल की भाषा मे ही अपने विचार प्रकट किया करते थे। बुद्ध का तो यह सन्देश ही था परन्तु ये लोग भी सस्कृत के महत्त्व की उपेक्षा न कर सके। इसलिए इन्होने भी सस्कृत मे अपने ग्रन्थ लिखने प्रारम्भ कर दिये। इन लोगो की भाषा सामान्य जनता की भाषा से बहुत कुछ प्रभावित थी इसलिये एक प्रकार की मिश्र सस्कृत का विकास होने लगा। बौद्धो की इस मिश्र सस्कृत को गाथा भी कहा जाता है।

सस्कृत भारत मे आर्य और अनार्य लोगो के सास्कृतिक माध्यम का रूप तो धारण कर ही चुकी थी, इसके अतिरिक्त भारत के बाहर भी इसका खब प्रचार हुआ। ब्रह्मदेश, स्याम, कम्बोडिया, हिन्दचीन, तिब्बत, चीन आदि अनेक देशो मे इसका खूब विस्तार हुआ। आधुनिक युग मे इसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने इस भाषा का गम्भीर अध्ययन किया हे और पश्चिमी देशो मे इसका प्रचार बढता ही जा रहा है।

इस प्रकार विकास की दृष्टि से हम सस्कृत को दो भागो मे बाट सकते हे—१ वैदिक सस्कृत—इसे यास्क और पाणिनि के पूर्व की भाषा कहा जा सकता है। २ लौकिक सस्कृत—यास्क और पाणिनि के बाद इसी भाषा का ही अधिक महत्त्व रहा है।

विशेषताये

भाषा-सम्बन्धी विशेषताओ की दृष्टि मे वैदिक और लौकिक सस्कृत मे बहुत अधिक अन्तर नही है। इन दोनो के ध्वनि सम्बन्धी भेद को ठीक रूप मे समझने के लिये दोनो की ध्वनि सम्बधी विशषताओ का पृथक् पृथक् उल्लेख ही अधिक उपयुक्त होगा।

वैदिक भाषा की ध्वनियाँ

भारोपीय ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा में ही बहुत कुछ लुप्त और परिवर्त्तित हो गई थीं। भारतीय आर्य भाषा में भी इन ध्वनियों मे अनेक परिवर्तन-परिवर्द्धन हो गये। अनेक ध्वनियाँ लुप्त हो गई। वैदिक संस्कृत की मूल ध्वनियाँ ५२ मानी जाती हैं।

(१) **मूल स्वर**

ह्रस्व—अ इ उ ऋ ऌ

दीर्घ—आ ई ऊ ॠ =९

(२) **संयुक्त स्वर**

ए ओ ऐ औ =४

(३) **स्पर्श व्यञ्जन**

कण्ठ्य—क् ख् ग् घ् ङ्

तालव्य--च् छ् ज् झ् ञ्

मूर्द्धन्य—ट् ठ् ड्, ळ, ढ्, ळह ण्

दन्त्य—त् थ् द् ध् न्

ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ् म् =२७

(४) **अन्त:स्थ**

य् र् ल् व् =४

(५) **ऊष्म**

श् (तालव्य) ष् (मूर्धन्य) स् (दन्त्य) =३

(६) **महाप्राण**

ह् =१

(७) **शुद्धनासिक्य**

-·- अनुस्वार =१

(८) **अघोष संघर्षी**

: विसर्जनीय या विसर्ग

ᳵ जिह्वामूलीय =३

ᳶ उपध्मानीय

५२

इन ध्वनियों में से अनेक ध्वनियाँ अभी भी भारतीय आर्यभाषाओ मे बोली जाती है। परन्तु यह आवश्यक नही कि वैदिक काल मे इनका जैसा उच्चारण किया जाता था वैसा ही आजकल भी किया जाता है। वस्तुत: अनेक ध्वनियो के उच्चारण में विभिन्नता की बात तो अत्यन्त स्पष्ट ही है। इन ध्वनियों का मूल उच्चारण और भारोपीय ध्वनियों से इनका विकास किस प्रकार हुआ इस बात को समझ लेना अनुपयुक्त न होगा।

१. मूल स्वर

भारोपीय भाषा में ह्रस्व 'अ' ध्वनि विद्यमान थी। वैदिक सस्कृत मे यह सुरक्षित है। भारोपीय भाषा मे न् और म् अन्त:स्थ ध्वनियाँ थी। वैदिक संस्कृत मे इनका लोप हो गया। कई स्थानों पर ये ध्वनियाँ व्यञ्जन (न् और म्) के रूप मे आने लगी तो कई स्थानों पर ये ह्रस्व 'अ' ध्वनि मे परिवर्त्तित हो गई। जैसे 'सन्तम्' और 'अगमत्' मे न् और म् मूल अन्त:स्थ ध्वनि के व्यञ्जन रूप है परन्तु 'सता' और 'गत:' में स्थान पर 'अ' ध्वनि हो गई है। इनके अतिरिक्त भारोपीय ह्रस्व 'ए' और 'ओ' के स्थान पर भी वैदिक सस्कृत मे ह्रस्व 'अ' ध्वनि हो गई थी।

भारोपीय भाषा मे दीर्घ आ, ऐ, औ ध्वनियाँ थी। इनके स्थान पर वैदिक सस्कृत मे केवल एक ध्वनि 'आ' रह गई। दो ह्रस्व 'अ' ध्वनियो के स्थान पर भी वैदिक सस्कृत मे 'आ' ध्वनि हो जाती है।

वैदिक सस्कृत की ह्रस्व 'इ' और दीर्घ 'ई' ध्वनियाँ भारोपीय भाषा की मूल 'इ' और ई' ध्वनियों से मिलती जुलती है। 'य' और 'या' के स्थान पर भी कही कही ये ध्वनियाँ देखने को मिलती है।

इसी प्रकार उ और ऊ भी मूल ध्वनियो के समान ही है। कही कही पर 'ओ' और 'व' के स्थान पर भी 'उ' हो जाता है और 'औ' तथा 'व' के स्थान पर 'ऊ' हो जाता है।

भारोपीय भाषा मे ऋ, और ऌ ध्वनियाँ विद्यमान थी। इन के अतिरिक्त अर्, र्-अ, और अल् ध्वनियां भी थीं। वैदिक सस्कृत की ऋ,

ऋ और ऌ ध्वनियां इन्हीं का ही विकसित रूप हैं । आजकल इन ध्वनियों का उच्चारण रि या रु, री या रू और लिर के रूप में होता है। इस उच्चारण की दृष्टि से इन्हें केवल स्वर नहीं माना जा सकता। ऐसी सम्भावना की जाती है कि प्राचीन काल में इस का उच्चारण भिन्न था। वह उच्चारण कैसा था—इस सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। ऋक्प्रातिशाख्य में 'ऋ' ध्वनि का उच्चारण वर्त्स्य माना गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि यह मूर्द्धन्य स्वर भी है। 'ॠ' ध्वनि केवल 'अर्' अन्त वाले शब्दों के कर्म और सम्बन्ध के बहुवचन के रूपों मे व्यवहृत होती है। 'ऌ' ध्वनि का प्रयोग बहुत सीमित है । इस का व्यवहार केवल क्लृप् धातु के ही कुछ रूपों में सुरक्षित है। इस का उच्चारण भी स्पष्ट नहीं । सम्भवत: इस का उच्चारण अंग्रेज़ी के लिट्ल् (little) शब्द मे प्रयुक्त 'ल्' के उच्चारण से मिलता जुलता रहा होगा।

२. संयुक्त स्वर

आज कल ए और ओ का उच्चारण मूल स्वरों के समान होता है परन्तु वैदिक संस्कृत में इन का उच्चारण संयुक्त स्वरों के रूप में होता था। भारोपीय भाषा के संयुक्त स्वरों अइ और अउ से इनका विकास हुआ है। इस लिये इन का उच्चारण वैसा ही था। प्राचीन काल में ऐ और औ का उच्चारण आज के उच्चारण से भिन्न था। इन का विकास भारोपीय संयुक्त स्वरों आइ और आउ से हुआ है। इस लिये इन का उच्चारण आइ और आउ जैसा ही था।

३. स्पर्श व्यञ्जन

भारोपीय की कण्ठ्य ध्वनियाँ ही वैदिक संस्कृत में सुरक्षित हैं। आजकल ये ध्वनियां कोमल तालव्य (velar) हो चुकी है परन्तु प्राचीन-काल में इनका उच्चारण-स्थान कोमल-तालु न होकर कण्ठ ही था। चवर्ग

ध्वनियों के विकास के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। आजकल ये ध्वनियां तालव्य स्पर्श-संघर्षी हैं परन्तु वैदिक संस्कृत में ये तालव्य स्पर्श ध्वनियाँ थीं। मूर्धन्य ध्वनियों का विकास भारत में स्वतन्त्र रूप से हुआ है। अनेक विद्वान् इन्हें द्राविड़ भाषा के प्रभाव के रूप मे मानते हैं। वस्तुत: ऐसी बात नहीं है। कुछेक भारोपीय ध्वनियों का स्वतन्त्र रूप में विकास हो रहा था जिसके परिणाम-स्वरूप ये ध्वनियाँ प्रादुर्भूत हुई। यदि भारतीय आर्यों का द्राविड़ भाषाओं से सम्पर्क न भी होता तो भी इन ध्वनियों का विकास पूर्णतया निश्चित था। यह स्मरणीय है कि ऋग्वेद में मूर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग बहुत कम होता है। शब्द के आदि में तो उनका कहीं भी प्रयोग नही होता। वस्तुत: ऋ, र्, ष् के बाद आने वाली तवर्ग (दन्त्य) ध्वनियाँ ही मूर्धन्य ध्वनियों में परिणत हो गई। अन्त में आने वाली मूर्धन्य ध्वनियों का विकास प्राचीन तालव्य ध्वनियों से भी हुआ है जैसे राज् से राट्। दो स्वरों के मध्य में आने वाली ड् और ढ् ध्वनियां वैदिक-भाषा में क्रमश: ळ् और ळह् में परिणत हो जाती है; जैसे—ईळे, ईड्य; मिढ्हुषे, मीढ्वान। वैदिक सस्कृत की दन्त्य ध्वनियाँ मूल भारोपीय ध्वनियों के समान हैं। कहीं कहीं स् और म् से पूर्व आने वाले स् के स्थान पर भी त् और द् हो जाते है। प्रातिशाख्यों में तवर्ग ध्वनियों को वर्त्स्य कहा गया है। यह बात अधिक सम्भव और उपयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि दन्त्य ध्वनियों से ही मूर्धन्य ध्वनियों का विकास हुआ है इस लिये इन का उच्चारण-स्थान दन्त्य से कुछ ऊपर होना स्वाभाविक ही है। ओष्ठ्य ध्वनियाँ भारोपीय ओष्ठ्य ध्वनियों के समान ही हैं।

वैदिक संस्कृत में पांच अनुनासिक स्पर्श ध्वनियाँ भी हैं। इनमें से 'न्' और 'म्' अधिक स्वतन्त्र है क्योंकि ये शब्द के आदि, मध्य और अन्त सभी स्थितियों में आ सकती हैं। ये भारोपीय 'न्' और 'म्' ध्वनियों के समान ही है। अन्य तीन अनुनासिक स्पर्श ध्वनियाँ ङ्, ञ्, ण् समीपवर्त्ती ध्वनि पर निर्भर रहती है। ये तीनों ध्वनियाँ शब्द के आदि में तो आ ही नहीं सकतीं और 'ञ्' तथा 'ण्' शब्द के अन्त में भी नही आती। 'ङ्'

कण्ठ्य ध्वनियों से पूर्व, 'ञ्' तालव्य ध्वनियों से पूर्व और 'ण्' मूर्धन्य ध्वनियों से पूर्व प्रयुक्त होती है।

४. अन्तःस्थ

भारोपीय भाषा में छः अन्तःस्थ ध्वनियां थी जिनमें न्̥ और म्̥ का लोप हो गया था। शेष चार ध्वनियां य्, र्, ल् और व् वैदिक सस्कृत में विद्यमान हैं। इनकी समानान्तर स्वर ध्वनियां क्रमशः इ, ऋ, ऌ, और उ भी वैदिक संस्कृत में सुरक्षित हैं।

५. ऊष्म

वैदिक संस्कृत की तीनों ऊष्म ध्वनियां अघोप संघर्षी हैं। मूर्धन्य ष् का विकास भारत में ही हुआ है परन्तु तालव्य श् का विकास भारत-ईरानी शाखा में हो चुका था। दन्त्य 'स्' मूल भारोपीय ध्वनि है। वैदिक संस्कृत में कई स्थितियों में दन्त्य 'स्' के स्थान पर तालव्य 'श्' और मूर्धन्य 'ष्' हो जाते हैं। वैदिक संस्कृत में सघोष ऊष्म ध्वनियां नहीं हैं परन्तु विद्वानों का अनुमान है कि प्रारम्भिक अवस्था में इन ध्वनियों का भी वैदिक संस्कृत में अस्तित्व था।

६. महाप्राण

मूल रूप में भारोपीय भाषा में शुद्ध महाप्राण ध्वनि 'ह्' विद्यमान थी या नहीं इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जो विद्वान् भारोपीय भाषा में इसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते उनका विचार है कि इसका विकास कण्ठ्य या तालव्य महाप्राण ध्वनियों के महाप्राण अश से हुआ है। कहीं कहीं इसका विकास दन्त्य 'ध्' और ओष्ठ्य 'भ्' से भी देखने को मिलता है। √हन् धातु के 'हन्ति' और 'घ्नन्ति' रूपों से यह बात स्पष्ट ही है कि 'घ्' के स्थान पर 'ह्' हो गया है।

७. अनुस्वार

अनुस्वार शुद्ध नासिक्य ध्वनि है। यह ध्वनि हमेशा स्वर के बाद

आती थी इसी लिये इसे अनुस्वार (अनु=पीछे, स्वर) कहा जाता था। अधिकांश मे यह अन्त:स्थ, ऊष्म और ह् ध्वनि के पूर्व ही आती थी। अनुस्वार के उच्चारण मे श्वासवायु केवल नासिका से ही निकलती थी मुखविवर से नही। अनुनासिक ध्वनियो से इसकी यही विशेषता है। धीरे धीरे यह ध्वनि लुप्त होने लगी। कुछेक प्रातिशाख्यो मे ऐसा वर्णन भी आता है कि यह अनुनासिक ध्वनि के रूप मे परिवर्तित होने लग गई थी। आज-कल वैदिक मन्त्रों मे अनुस्वार का 'ग्वङ्' रूप मे उच्चारण शुद्ध उच्चारण नही है।

८. अघोष सघर्षी

अघोष संघर्षी ध्वनियों का विकास 'स्' या 'र्' ध्वनि से हुआ था। विसर्ग या विसर्जनीय सामान्य ध्वनि के रूप मे थी। कवर्ग ध्वनियों से पूर्व आने वाली विसर्ग ध्वनि का उच्चारण जिह्वामूलीय था और पवर्ग ध्वनियो से पूर्व आने वाली विसर्ग ध्वनि का उच्चारण उपध्मानीय था।

लौकिक संस्कृत की ध्वनियां

लौकिक सस्कृत मे वैदिक संस्कृत की ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियो का लोप हो गया था। इस प्रकार केवल ४८ ध्वनिया लौकिक सस्कृत मे रह गई थीं। उच्चारण की दृष्टि से कुछेक ध्वनियों मे भिन्नता आ गई थी। ऋ, ॠ और ऌ का उच्चारण मूल रूप मे सुरक्षित था या नही इस सम्बन्ध मे निश्चय पूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। ए और ओ का उच्चारण सयुक्त स्वरो के रूप मे न होकर मूल स्वरो के रूप मे होने लग गया था। ऐ और औ के उच्चारण मे भी परिवर्तन हो गया। इनका उच्चारण अइ और अउ जैसा हो गया। अनुस्वार का उच्चारण अधिकांश में अनुनासिक के समान होने लग गया था।

प्राचीन उच्चारण को जानने के आधार ग्रन्थ प्रातिशाख्य तथा पाणिनि व अन्य वैयाकरणो के ग्रन्थ है।

वैदिक भाषा मे स्वराघात का विशिष्ट स्थान था। तीन प्रकार के स्वरो का उल्लेख मिलता है—१. उदात्त २. अनुदात्त और ३. स्वरित। वैदिक भाषा मे स्वराघात की सार्थक सत्ता थी क्योकि स्वराघात मे परिवर्तन हो जाता था। जैसे—ब्रह्मन्। यदि उदात्त सुर आदि मे हो तो यह शब्द नपु मक लिग होगा और इस का अर्थ होगा—प्रार्थना। यदि उदात्त सुर अन्त मे हो तो इसका अर्थ 'स्तोता' होगा। अन्तोदात्त ब्रह्मन् शब्द पुलिग हो जाता है।[1]

वैदिक भाषा मे अपश्रुति का भी विशिष्ट स्थान था। सस्कृत वैयाकरणो ने इसे गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण का नाम दिया है।

संस्कृत की रूप-रचना

प्राचीन भारतीय आर्य भापा, वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत दोनो मे पद-विभाग सज्ञा और क्रिया की दृष्टि से किया गया है। सज्ञा शब्दो के दो विभाग है—(१) अजन्त—अर्थात् वे सज्ञा शब्द जिन के अन्त मे स्वर है और (२) हलन्त—अर्थात् वे सज्ञा शब्द जिन के अन्त मे व्यंजन है। इस भाषा मे तीन लिग (पुलिग, स्त्रीलिग और नपुसक लिग)[2], तीन वचन (एकवचन, द्विवचन और बहुवचन) तथा आठ कारक या विभक्तिया कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान सम्बन्ध, अधिकरण तथा सम्बोधन) है। इस प्रकार प्राचीन आर्य भाषा मे सज्ञा रूपो की दृष्टि से अत्यधिक जटिलता थी। सज्ञा के साथ जुडने वाले प्रत्ययो को सुप्‌प्रत्यय कहा जाता

---

1. सुर की अशुद्धता से हानि होने की आशंका बनी रहती थी। पाणिनीय शिक्षा में लिखा भी है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

2. संस्कृत में लिङ्ग-रचना स्वाभाविक अथवा वास्तविक लिंग से मेल खाती हुई नही है। स्त्रीवाची दाराः पुलिंग है और कलत्र नपुंसक लिग है।

है इसी लिये संज्ञा शब्दों को सुबन्त भी कहा जाता है । विशेषण तथा संख्यावाची शब्दों के रूप अधिकांश में संज्ञा शब्दों के समान ही है। विशेषण विशेष्य के अनुसार ही लिंग, वचन एवं विभक्तियां बदलता है। सर्वनाम-रूपों में अवश्य भिन्नता परिलक्षित होती है । सर्वनाम शब्दों में विभक्तियाँ सात हैं । इन में सम्बोधन नहीं होता ।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के क्रिया-रूपों में भी बहुत अधिक जटिलता है। भारोपीय भाषा के अनेक प्राचीन रूप वैदिक भाषा में सुरक्षित है । सस्कृत के व्याकरणकारों ने क्रिया रूपों की विवेचना करते हुये छः प्रयोग बताये हैं—१. कर्तृवाच्य २. कर्मवाच्य ३. भाववाच्य ४. प्रेरणार्थक (णिजन्त) ५. परस्मैपद ६. आत्मनेपद । दस लकार बताये हैं— लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ् । इन में लिङ् के विधिलिङ् और आशीर्लिङ् के रूप में दो और भेद किये जाते है। तीन पुरुष हैं—उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और प्रथम या अन्य पुरुष । तीन वचन हैं । इस प्रकार प्रत्येक संस्कृत क्रिया के पांच सौ चालीस रूप बनते हैं—६ (प्रयोग) × १० (लकार) × ३ (पुरुष) × ३ (वचन) = ५४० । इसके अतिरिक्त सभी धातुओं के रूप एक समान नहीं। धातु-रूपों की विभिन्नता के कारण उन्हें अलग अलग गणों मे रखा गया है। इस प्रकार के नाम दस हैं—(१) भ्वादिगण (२) अदादिगण (३) जुहोत्यादिगण (४) दिवादिगण (५) स्वादिगण (६) तुदादिगण (७) रुधादिगण (८) तनादिगण (९) क्र्यादिगण (१०) चुरादिगण । सकर्मक और अकर्मक दृष्टि से भी क्रियाओं के भेद किये जाते हैं ।

क्रियाओं के साथ जुड़ने वाले प्रत्यय तिङ् कहलाते हैं इस लिये क्रियाओं को तिङन्त भी कहा जाता है। अनेक क्रियाओं में तिङ् से पूर्व विकरण भी जोड़े जाते हैं। परस्मैपद तथा आत्मनेपद के तिङ् प्रत्यय भिन्न भिन्न हैं । इन प्रत्ययों के भी दो रूप हैं—(१) अविकृत (Primary) और (२) विकृत (Secondary) । कुछ क्रिया रूपों में क्रिया से पूर्व 'अ' उपसर्ग

(augment) का प्रयोग भी होता था और कुछ क्रिया रूपों में द्वित्व (Reduplication) से भी काम लिया जाता था। संस्कृत मे सन्नन्त (इच्छा Desiderative) यङन्त (आवृत्ति, Fnequentative) नाम धातु (Denominative) आदि अन्य अनेक क्रिया रूप थे । जैसे क्रमश: जिगमिषति=जाना चाहता है, बोबुध्यते=बार बार समझा जाता है, शब्दायते आदि ।

वैदिक भाषा मे चार काल थे—वर्तमान या लट्, असम्पन्न या लङ्, सामान्य या लुङ् एव सम्पन्न या लिट् । पाच भाव थे—निदश (Indicative), अनुज्ञा (Imperative), सम्भावक (Optative), अभिप्राय (Sujunctive) एवं निबन्ध (Injunctive) । बाद मे लौकिक संस्कृत मे वर्तमान, भूत और भविष्य इन तीन कालो की दृष्टि से विवेचन किया जाने लगा। भूत के तीन रूप परोक्ष, सामान्य और अनद्यतन माने जाने लगे। भावो की दृष्टि से लौकिक सस्कृत मे अभिप्राय (लेट् लकार) तथा निर्बन्ध का लोप हो गया। इन के अतिरिक्त संस्कृत में कृदन्त (Participle), तुमुन्नन्त (Infinitive) और अन्य तद्धित रूप भी है। संस्कृत योगात्मक भाषा है । इस मे समास रचना का अपना ही महत्त्व है। अनेक अव्यय और उपसर्ग भी है। वाक्य-रचना सुनिश्चित नही। संज्ञा के बाद क्रिया अथवा क्रिया के बाद सज्ञा आदि का किसी प्रकार का नियम नहीं है।

वैदिक और लौकिक संस्कृत

ऊपर प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की पद रचना की सामान्य बाते बताई गई है। वस्तुत: प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वैदिक और लौकिक सस्कृत मे विशेष अन्तर भी नही है। वैदिक सस्कृत की अपेक्षा लौकिक संस्कृत में जटिलता कुछ कम होने लग गई थी और रूप सम्बन्धी व्यवस्था अधिक दिखाई देती है। वैदिक भाषा मे स्वछन्दता नियमो का उल्लघन और भिन्नप्रयोगात्मकता अधिक थी। उदीच्य भाषा ही वैदिक

काल में अधिक मान्य थी। पाणिनि भी उदीच्य प्रदेश के निवासी थे। उनका स्थान तक्षशिला के समीप शालातुर माना जाता है। उन्होंने भी शिष्ट भाषा के रूप में उदीच्य भाषा को अपनाया और साथ ही विभाषागत भिन्नता को भी वैकल्पिक रूप में निर्दिष्ट कर दिया। वैदिक और लौकिक सस्कृत में जो भिन्नतायें आ गई थीं उनका भी निर्देश पाणिनि ने किया है। उन्होंने वैदिक भाषा की स्वछन्दता और अनियमितता को 'छन्दसि बहुलम्' आदि सूत्रों से निर्दिष्ट किया है। नीचे कुछेक भिन्नताओं का उल्लेख किया जाता है।

लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत में रूप जटिलता अधिक थी। वैदिकसस्कृत के अनेक रूप लौकिक संस्कृत तक लुप्त हो चुके थे। वैदिक संस्कृत में प्रथमा बहुवचन के वैकल्पिक रूप देवा: और देवास: थे इनमें लौकिक संस्कृत में केवल एक रूप 'देवा:' ही सुरक्षित रहा। इसी प्रकार वैदिक के देवै: और देवेभि: में से भी लौकिक संस्कृत में अन्तिम रूप लुप्त हो गया। वैदिक भाषा में सप्तमी के एकवचन रूपों में विभक्ति चिन्ह के साथ साथ शून्य विभक्ति वाले रूप भी मिलते हैं, जैसे व्योम्नि और परमे व्योमन् भी। लौकिक संस्कृत में ऐसा नहीं होता।

क्रिया में विशेष अन्तर तो नहीं आया फिर भी लेट् लकार का संस्कृत में सर्वथा लोप हो गया। वैदिक सस्कृत में लिट् लकार वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त होता था। जैसे "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" ऋग्वेद के इस वाक्य में 'दाधार' लिट् लकार का रूप है। इसका अर्थ 'धारण करता' इस प्रकार है। लौकिक संस्कृत में लिट् लकार का प्रयोग परोक्षभूत के लिए होने लग गया।

अनेक ऐसे प्रत्यय भी हैं जिनका प्रयोग केवल वैदिक संस्कृत में होता था। लौकिक संस्कृत में वे सर्वथा लुप्त हो गये। ते, तवै, तात्, ताति, त्वन आदि ऐसे ही प्रत्यय है।

वैदिक भाषा में चार प्रकार के समास हैं—१. तत्पुरुष २. कर्म-

धारय ३. बहुव्रीहि तथा ४. द्वन्द्व । लौकिक संस्कृत में इनके अतिरिक्त दो और भी हैं—१. द्विगु और २. अव्ययीभाव ।

वैदिक भाषा में उपसर्ग आवश्यक नहीं कि क्रिया के साथ जुड़े रहें । वे स्वतन्त्र पदों के रूप में पृथक् रूप में प्रयुक्त किये जाते थे । लौकिक संस्कृत में उपसर्ग क्रिया के साथ जुड़े हुए ही रहते थे । वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो बैठे ।

स्वरभक्ति वैदिक भाषा की एक मुख्य विशेषता है । इसी कारण वैदिक भाषा में दो प्रकार के रूप हो जाते थे । १. स्वर भक्ति युक्त २. स्वरभक्तिरहित । जैसे—तनुवः, तन्वः; सुवः, स्वः; सुवर्गः, स्वर्गः आदि । इनमें से लौकिक संस्कृत में स्वरभक्ति रहित रूपों को ही अधिकांश में अपनाया गया है । स्वरभक्तियुक्त रूप अपनाने की प्रवृत्ति प्राकृतों में सुरक्षित रही ।

अध्याय ६

मध्य भारतीय आर्यभाषा

वैदिक काल मे ही साहित्यिक भाषा के साथ साथ अनेक वैभाषिक प्रवृत्तिया विद्यमान थी। पाणिनि ने भी 'विभाषा' और 'अन्यतरस्याम्' आदि शब्दो से इन वैभाषिक प्रवृत्तियों का निर्देश किया है। यह बात स्मरणीय है कि अतिप्राचीन काल मे उदीच्यभाषा का अधिक महत्त्व माना जाता था परन्तु साथ ही एक प्राच्य भाषा भी थी जिसका जन-साधारण मे अधिक प्रचार था। यह भाषा असंस्कृत और विकृत थी। इस पर द्राविड़, मुंडा आदि अनार्यभाषा परिवारो का भी विशेष प्रभाव था। इस भाषा को बोलने वाले अधिकांश मे व्रात्य थे। वस्तुत: ये लोग आर्यधर्म से निष्कासित या बहिष्कृत थे। व्रात्य का अर्थ है व्रत से पुन: ग्राह्य। जो लोग व्रत का पालन न कर आर्य धर्म मे पुन: दीक्षित नही होते थे वे आर्यो से बिल्कुल दूर होजाया करते थे। ब्राह्मणों मे ऐसे उल्लेख भी मिलते है कि ये लोग सरल भाषा को भी कठिन कहते है।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि प्राच्य विभाषाओं को बोलने वाले अनेक लोग उदीच्य अथवा परिनिष्ठित भाषा का सरलता से उच्चारण नहीं कर सकते थे। सस्कृत के व्याकरणबद्ध और सुव्यवस्थित होजाने के कारण वह अधिकांश में विद्वद्वर्ग तक सीमित होने लग गई थी परन्तु जन-भाषा का विकास होने लगा। जिसका परिणाम यह हुआ कि 500 ई० पू० के आसपास परिनिष्ठित संस्कृत और सामान्य जनभाषा मे बहुत अधिक अन्तर आगया।

---

१. **अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहु:, अदीक्षिता दीक्षितवाच वदन्ति।**
ताण्ड्य ब्राह्मण १७-४

. भगवान् बुद्ध के पूर्व साहित्यिक भाषा का ही आदर था। सामान्य जनभाषा उपेक्षित थी परन्तु महावीर तथा बुद्ध के प्रयत्नों से जन-भाषा को भी गौरव प्राप्त हुआ। ये महात्मा अपने उपदेशों का प्रचार सामान्य जनता में करना चाहते थे इस लिये इन्हो ने सामान्य जनता की भाषा को ही अपनाया। बौद्धग्रन्थों मे इस विषय के भी उल्लेख मिलते है कि भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को संस्कृत के माध्यम से प्रचार करने की मनाही कर दी थी।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि सामान्य जनता का ध्यान अपनी ही भाषा की ओर आकर्षित हुआ और उस भाषा का भी समुचित आदर होने लगा।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध के समय ५०० ई० पू० से ही मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषा का काल प्रारम्भ होता है। वस्तुत: इस से पूर्व ही मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषायें प्रचलित थी परन्तु महत्त्व की दृष्टि से उनका वास्तविक काल यही से प्रारम्भ होता है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा को भी सुविधा की दृष्टि से तीन कालों मे बाटा जाता है।

१. **आदि काल**—५०० ई० पू० से ईस्वी के प्रारम्भ तक

२. **मध्य काल**—ईस्वी के प्रारम्भ से ५०० ई० तक

३. **उत्तर काल**—५०० ई० से १००० ई० तक

मध्यकालीन आर्य भाषा को प्राकृत भी कहा जाता है इसलिये इसे प्राकृत काल भी कहा जासकता है। प्राकृत शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है। इस सम्बन्ध मे बहुत अधिक मतभेद है। संस्कृत और प्राकृत के प्राचीन

---

1. विनयपिटक में इस विषय की एक कहानी है। यमेल और उतेकुल नाम के दो भिक्षु थे। उन्होंने एक दिन भगवान् बुद्ध से उनकी वाणी को छन्द (संस्कृत) में परिवर्तित करने की प्रार्थना की। भगवान बुद्ध ने उनकी निन्दा की और आदेश दिया कि मेरी वाणी को कभी छन्द में परिणत न करना। जो ऐसा करेगा वह पाप का भागी होगा।

विद्वानों ने भी इसके विभिन्न अर्थ बताये है। प्राचीन काल में संस्कृत की गौरव गरिमा बहुत अधिक थी। प्राकृत भाषाओं के रङ्गमञ्च पर उपस्थित होने के बाद भी सस्कृत की गौरव गरिमा अक्षुण्ण रही। इसी लिये अनेक विद्वानों का यह मत रहा है कि प्राकृत सस्कृत से निकली हुई एक भाषा है। इसी मत को मानते हुए सस्कृत और प्राकृत के अनेक विद्वानो ने प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति भी वैसी ही की है[1]। दूसरी ओर ऐसे भी विद्वान् है जो प्राकृत को सस्कृत से पहले की भाषा मानते है और उसी दृष्टि से प्राकृत की व्युत्पत्ति प्राक् (अर्थात् पहले) कृत मानते है[2]। वस्तुत:

---

1. "प्रकृते: संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्।"—सिंहदेवमणि, वाग्भट्टालंकार टीका।

"प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनि:।"—प्राकृत संजीवनी।

"सस्कृत रूपाया: प्रकृते: उत्पन्नत्वात् प्राकृतम्।"—प्रेमचन्द्र तर्कवागीश, काव्यादर्श टीका।

"प्रकृति: संस्कृत तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्"—हेमचन्द्र। १-१।

"प्रकृति संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते।"—मार्कण्डेय, प्राकृतसर्वस्व। पृ० १।

"प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृति: सस्कृतम्—धनिक, दशरूपक २.६०।

"प्रकृति: संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृत स्मृतम्"—प्राकृतचन्द्रिका।

"प्राकृतस्य सर्वमेव सस्कृतं योनि:"—वासुदेव, कर्पूरमंजरी टीका।

2. सयलाओ इमं वाया विसति एत्तो य णेति वायाओ।
एंति समुद्द चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं॥

वाक्पतिराज, गउडबहो।

अर्थात् सभी भाषायें प्राकृत में ही प्रवेश करती है और प्राकृत से ही निकली है, जैसे जल समुद्र में प्रवेश करता है और समुद्र से ही निकलता है।

"प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्" अथवा "प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्"—हरगोविंददास विक्रमचन्द्र शेठ।

इन दोनों मतों में किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। हम अपनी धारणाओं के आधार पर इन मतों में असंगति ढूढने का प्रयत्न करते हैं परन्तु ऐसी कोई असङ्गति नहीं है। पिछले अध्याय में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत में अन्तर नहीं है। लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत का ही परिवर्तित रूप है। वैदिक सस्कृत के काल में अन्य वैदिक विभाषायें भी थी जो मूल रूप में वैदिक सस्कृत से कुछ अधिक भिन्न नहीं थीं। इन्ही से प्राकृत भापाओं का विकास हुआ है। अब चाहे इन भाषाओं को संस्कृत अर्थात् वैदिक संस्कृत से निकला हुआ मान लिया जाय अथवा संस्कृत अर्थात् लौकिक संस्कृत से पूर्व की भापाये मान लिया जाय बात एक ही है। इसमें कोई सन्देह नही कि प्राकृत सामान्य जनता की भाषा थी।[1]

प्राकृत भाषायें अनेक हैं। इन भाषाओं का वर्गीकरण भी अनेक प्रकार से किया गया है।[2] इन भाषाओं में अत्यन्त प्राचीन पालि से लेकर भारत के बाहर प्रचलित नियम प्राकृत आदि तक का उल्लेख किया जाता है। ऊपर जो मध्यकालीन भारतीय आर्यभापा को तीन कालों में बॉटा गया है उसी के आधार पर कुछेक मुख्य भापाओं का विवरण नीचे दिया जाता है।

---

1. प्राकृतेति । सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहतसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः—तत्र भवः सैव वा प्राकृतम्" नमिसाधु, काव्यालंकार टीका।

2. डा. एस. एम. कत्रे ने धार्मिक, साहित्यिक, वैयाकरणों द्वारा वर्णित, बहिर्भारतीय, शिलालेखी और मिश्र या व्यावहारिक ये वर्ग बताये है।

Prakrit Language and their Contribution to Indian culture.

आदिकाल

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का आदिकाल ईसापूर्व ५०० वर्षों का काल माना जाता है। इस समय की भाषा को दो वर्गो मे बाँटा जाता है।

१. पालि और
२. अशोकी प्राकृत

पालि

पालि का उल्लेख धार्मिक प्राकृत के अन्तर्गत किया जाता है। महावीर और बुद्ध ने जनसाधारण को संस्कृत मे भिन्न भाषा में उपदेश दिया था। बुद्ध ने जिस भाषा में उपदेश दिया उसी को पालि माना जाता है। वस्तुत: पालि का क्या अर्थ है और बुद्ध के समय प्रचलित कौन सी भाषा पालि है—इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है।

पालि शब्द का सर्वप्राचीन प्रयोग बुद्धघोष ने किया है। इस ग्रन्थ में पालि का प्रयोग कही भी भाषा के अर्थ में नही किया गया। इस ग्रन्थ मे प्रयुक्त पालि शब्द के दो अर्थ हैं—(१) बुद्ध वचन का मूल त्रिपिटक (धम्म, सुत्त और विनय) (२) पाठ या मूल त्रिपिटक का पाठ। दोनों अर्थो में पालि का सम्बन्ध बुद्ध के उपदेशों या वाणी के साथ है।[1] भाषा के लिये यह नाम बहुत बाद मे प्रचलित हुआ। जहां कही भाषा का नाम दिया गया है वहां मागधी का ही उल्लेख मिलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिहल (सीलोन) की वरपपरओ में पालि का अर्थ मागधी भाषा किया गया है। वस्तुत: पालि और मागधी भाषायें नही। इन दोनों में पर्याप्त विभिन्नता है।

---

1. बुद्धघोष ने लिखा है—"पालिमत्तं इधानीत न तु अट्ठकथा इधा" अर्थात् सिंहल में पालिमात्र (बुद्ध वचन) ही लाया गया न कि अर्थकथा (बुद्ध वचन पर भाष्य)।

पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। प० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि पालि शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के पंक्ति शब्द से हुई है। इस शब्द का परिवर्तन-क्रम इस प्रकार है—पक्ति>पन्ति> पत्ति>पट्टि>पल्लि>पालि। अभिधानप्पदीपिका में पालि का अर्थ पक्ति स्पष्ट ही है 'तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि'। परन्तु पंक्ति से पालि होजाना उस समय के ध्वनि-परिवर्तन के अनुकूल प्रतीत नही होता। श्रीमती रीज डेविडज भी पालि को पंक्तिवाची मानती है।

मैक्स-वालेसर का मत है कि पालि शब्द का सम्बन्ध 'पाटलिपुत्र'(मगध का एक स्थान, आधुनिक पटना) से है। उनका कहना है कि ग्रीक भाषा में पाटलिपुत्र के स्थान पर पालिबोथ्र शब्द मिलता है इस लिये यह सम्भावना की जा सकती है कि 'पाटलि' के स्थान पर 'पालि' शब्द प्रचलित होगया होगा। इस शब्द का अर्थ है पाटलिपुत्र की भाषा। मैक्स वालेसर का यह मत ठीक प्रतीत नही होता। पाटलि के स्थान पर पाडलि होना तो माना जा सकता है परन्तु पालि नही। 'ट' या 'ड' के लुप्त हो जाने का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। यह तो सम्भव है कि विदेशियों को यह ध्वनि न सुनाई दी हो। इस लिये उन्होंने पालिबोथ्र शब्द सुना हो परन्तु भारत के निवासियों ने भी वैसा परिवर्तन कर लिया—यह बात युक्ति-सगत नहीं दिखाई देती।

भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने 'पालि महाव्याकरण' ग्रन्थ मे पालि का सम्बन्ध संस्कृत पर्याय से माना है। ध्वनि-परिवर्तन का क्रम इस प्रकार है—पर्याय>परियाय>पलियाय>पालियाय>पालि। अशोक के शिला-लेख में भी पालियाय शब्द मिलता है। इसका अर्थ बुद्ध का उपदेश है। यह मत भी ठीक प्रतीत नही होता क्योंकि पालियाय से पालि की व्युत्पत्ति का आधार केवल क्लिष्ट कल्पना ही है। इसके लिये कोई ऐतिहासिक या भाषावैज्ञानिक प्रमाण नही है।

भिक्षु सिद्धार्थ ने शुद्ध रूप में 'पालि' ही माना है। उन का विचार है कि यह संस्कृत पाठ का ही रूपान्तर है। परन्तु पालि शब्द की सीधी

कभी-कभी हिन्दी की भाववाचक कृदन्त पुं० संज्ञाएँ पुंविभक्ति के बिना भी रहती हैं। 'खाना-पीना' सब समझते हैं; परन्तु विशेष-अर्थ में 'खान-पान' रहता है। 'उनका खान-पान हमें कुछ जँचता नहीं है।' यहाँ संस्कृत का तद्रूप 'पान' शब्द है ; इस लिए हिन्दी ने अपनी पुंविभक्ति नहीं लगाई। 'पान' के साथ मेल के लिए अपने 'खाना' से भी पुंविभक्ति अलग कर ली—'खान-पान'। 'अपनी' धातु 'पी' से भाववाचक संज्ञा 'पीना' है ही। (हमने 'पान' के साथ 'खाना' को 'खान' कर लेने की बात कहीं है; परन्तु संस्कृत के बड़े कोश-ग्रन्थों में 'खान- पान' को संस्कृत शब्द माना है—संस्कृत 'खाद्' से 'खान' माना है—'खानम्-भोजनम्')। 'नहान' भी इसी तरह अर्थ-भेद से है—'नहान कब पड़ेगा ?'। साधारण 'नहाना' पृथक् है। इसी तरह 'मिलना' और 'मिलान' में अन्तर है। पुंविभक्ति लगा कर या अलग कर के अर्थ-विशेष प्रकट करने की पद्धति हिन्दी में है। 'खर्च' विधेय-विशेषण है—'सब रुपए खर्च हो गए'। इसमें 'आ' लगा कर तद्धितीय 'भाव' प्रकट कर लिया—'क्या खर्चा पड़ेगा ?'

'न' के अतिरिक्त अन्य कृदन्त–प्रत्यय भी 'भाव' प्रकट करने के लिए आते हैं; परन्तु अर्थभेद के लिए ही—'बहाव'। 'बह' धातु से 'आव' प्रत्यय है। 'जल का बहाव' यानी प्रवाह। 'बहना' अलग है—'प्रवहण'। इसी तरह 'चढ़ाव'-'उतराव' आदि हैं। 'चढ़ाई'-'उतराई' में 'आई' भाव-प्रत्यय है। 'चढ़ना'-उतरना' भी भाववाचक संज्ञाएँ हैं, अर्थ-सामान्य में।

'न' प्रत्यय हिन्दी में 'कर्म-प्रधान भी होता है—'तीन-चार अच्छे गाने सुने'। यहाँ 'गाना' शब्द भाववाचक नहीं है; नहीं तो 'गाने' बहुवचन न होता, 'तीन-चार' विशेषण भी न लगता। यहाँ 'गाना' में 'न' कर्म-प्रधान है—जो (पद्य आदि) गाया जाए, वह 'गाना'-गीत। चार गीत–'चार गाने'। भाववाचक संज्ञा 'गाना' कभी भी बहुवचन में न आएगी—'सब का गाना सुना; परन्तु उस बालिका का गाना सब से अच्छा रहा।' यहाँ 'गाना' भाववाचक संज्ञा है।

इसी तरह 'खाना रखा है' 'तरह-तरह के खाने बनाने में सुशीला निपुण है' यहाँ 'खाना' में 'न' प्रत्यय कर्म-प्रधान है—खाई जाने वाली चीज 'खाना'। भाववाचक 'खाना' सदा एकवचन रहेगा—'खाना-पीना भी सब को नहीं आता है!'

-ऐ। पालि धम्मो, मागधी धम्मे। इस प्रकार ध्वनि-तत्त्व और रूप-रचना दोनों दृष्टियों से पालि और मागधी में मौलिक अन्तर है।

पालि में अनेक भाषाओं की विशेपतायें देखने को मिलती हैं। पालि और मागधी के अन्तर को स्वीकार करते हुये भी यह मानना पड़ेगा कि पालि में मागधी की कुछ विशेषतायें भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार अर्ध मागधी आदि की विशेषतायें भी देखने को मिलती है। यही कारण है कि किसी एक भाषा की कुछेक विशेषताओं पर अधिक ध्यान देने से पालि का सम्बन्ध उसी भाषा के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया जाता है। विन्डिश (Windisch), गाइगर (Geiger) और रीज़ डैविड्ज (Rhys Davids) आदि ने पालि को मागधी का ही एक रूप माना है। रीज डैविड्ज का तो यह भी विचार है कि पालि कोशल प्रदेश की भाषा है। भगवान् बुद्ध ने इसी भाषा में ही उपदेश दिए होंगे क्योंकि वे अपने आप को कोशल खत्तिय (क्षत्रिय) कहते थे। ल्युडर्स (Luders) का विचार है कि पालि का मूल आधार पुरानी अर्धमागधी है। ओल्डेनबर्ग ने (Oldenberg) ने पालि और कलिङ्ग में खारवेल के खण्डगिरि शिलालेख की भाषा की समानता देख कर इसे कलिङ्ग प्रदेश की माना है। वेस्टरगार्ड (Westergard) तथा ई. कुह्न (E. Kuhn) का विचार है कि पालि उज्जयिनी की विभाषा थी क्योंकि पालि और अशोकी गिरनार (गुजरात) के शिलालेख की भाषा में समानता है। आर. ओ. फ्रैंक (R. O. Franke) का विचार है कि पालि विन्ध्य प्रदेश की भाषा थी। स्टेन-कोनो (Stein Kono) ने भी पालि को विन्ध्य प्रदेश की भाषा माना है। उनका विचार है कि पालि में पैशाची भाषा के भी कुछ लक्षण मिलते हैं। उन के विचार में पैशाची का स्थान विन्ध्यप्रदेश है। पैशाची स्थान के सम्बन्ध में स्टेनकोनो की धारणा बिल्कुल गलत है क्योंकि पैशाची का स्थान उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश ही माना जाता है। ग्रियर्सन को पालि में एक ओर मागधी की विशेपतायें दिखाई दीं तो दूसरी ओर पैशाची की भी। मूल रूप में उन्होंने पालि को मागधी

माना है परन्तु मगध से तक्षशिला जाने पर उसे पैशाची से प्रभावित माना है ।

इन अनेक मतों से इतनी बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि पालि में अनेक भाषाओं की विशेषताये विद्यमान हैं । इसी कारण कभी कभी इसे खिचड़ी या मिश्रित भाषा (Kuntsprache) भी मान लिया जाता है ।[1] पालि मे विभिन्न भाषाओं का स्वरूप देख कर तो यह अनुमान अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि अनेक भापा-विभाषाओं के मध्य एक कड़ी का काम करने वाली मध्यदेशीय भाषा ही पालि थी जो पूर्व और पश्चिम दोनों स्थानों पर समान रूप मे व्यवहार में लाई जाती थी, इस लिये मागधी और पैशाची दोनों की विशेषतायें उस मे आजाना स्वाभाविक ही है । सम्भवत: अतिप्राचीन काल मे बोली जाने वाली मध्यदेशीय विभाषा का ही पालि परिवर्तित रूप थी । यह मत अधिक तर्क सगत और स्वाभाविक प्रतीत होता है ।

पालि की ध्वनियां

वैदिक संस्कृत की अनेक ध्वनियां पालि में लुप्त हो गई थी । लौकिक संस्कृत के समान ही पालि मे जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ध्वनियां नही थी । इन के अतिरिक्त ऋ, ॠ, ॡ, ऐ और औ ध्वनियों का भी लोप हो गया । ॠ और ॡ का प्रयोग तो सस्कृत मे ही बहुत कम हो गया था । ऋ ध्वनि अ, इ और उ में परिणत हो जाती है । कभी कभी इन के साथ र् भी सम्मिलित हो जाता है । ऐ और औ के स्थान पर ए और ओ हो

1. "वस्तुत: पालि किसी एक प्रदेश विशेष की भाषा नहीं है । किसी एक प्राकृत या उस के प्राचीन रूप से पालि को सम्बद्ध करना भ्रान्त मार्ग का आश्रय लेना होगा । पालि एक मिश्रित भाषा है जिस में अनेक बोलियों का सम्मिश्रण मिलता है"—हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग खण्ड २, अध्याय २ ।

जाते है। पालि मे दो नये स्वरों का भी समावेश हो गया—ह्रस्व एँ और ओॅ। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि भारोपीय भाषा की ये ह्रस्व ध्वनियाँ किसी न किसी बोली मे सुरक्षित रह गई थी वे ही पालि मे समाविष्ट हो गईं। इस का एक और कारण भी है। पालि की यह विशेषता है कि सयुक्त व्यजनो से पूर्व ह्रस्व ध्वनि का ही प्रयोग हो; जैसे—स० मार्ग>पा० मग्ग; स० कार्य>पा० कय्य; स० पूर्ण>पा० पुन्न। इसी प्रकार सयुक्त व्यजन से पूर्व आने वाले दीर्घ ए और ओ भी ह्रस्ववत् प्रयुक्त होने लगे। जैसे स. मैत्री>पा० मेॅत्ती; स. ओष्ठ>पा. ओॅट्ठ।

इस प्रकार पालि मे दस स्वर ध्वनिया है—

ह्रस्व	अ	इ	उ	एँ	ओॅ
दीर्घ	आ	ई	ऊ	ए	ओ

व्यजन ध्वनियो मे से पालि मे वैदिक सस्कृत की सभी स्पर्श ध्वनिया है। वैदिक सस्कृत की ळ् और ळह् ध्वनिया लौकिक सस्कृत मे तो लुप्त हो गई थी परन्तु पालि मे विद्यमान रही।[2] अन्त:स्थ ध्वनिया भी सुरक्षित है। ऊष्म ध्वनियो श्, ष् और स् मे से पालि मे केवल दन्त्य स् ध्वनि है। अन्य दो ध्वनियों का लोप हो गया था। महाप्राण 'ह्' ध्वनि भी है। प्राचीन आर्य भाषा मे अनुस्वार ध्वनि स्वर के बाद ही आती थी। पालि मे यह स्वतन्त्र ध्वनि हो गई। पालि के वैयाकरणो ने इसे निग्गहीत कहा है।

---

1. डा. सुकुमार सेन के अनुसार विकास-क्रम इस प्रकार है—ऋ>-अर्>-अ; -ऋ>-इरि>-इर्>-इ; -ऋ>उर्>-उ।

Comparative Grammar of the Middle Indo-Aryan, 1951

2. वैदिक संस्कृत के समान ही दो स्वरों के मध्य में आने वाले 'ड' और 'ढ' का उच्चारण पालि में भी 'ळ' और 'ळ्ह' के समान हो जाता है। अन्य ध्वनियों के स्थान पर भी 'ळ' और ळह् हो जाते है। जैसे स वेणु>पा वेळु स द्वैध, पा द्वेळ है।

अघोष संघर्षी ध्वनियां विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय भी लुप्त हो गई। इनमें से विसर्ग और पूर्ववर्त्ती अ के स्थान पर पालि में ओ हो जाता है। इस प्रकार पालि में वैदिक संस्कृत की दस ध्वनियां (ऋ, ॠ, ॡ, ऐ, औ, श्, ष्, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय) का लोप हो गया। दो ध्वनियों (ह्रस्व, एँ और ओँ) का विकास हुआ। स्वराघात सभी मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में लुप्त होगया था। इसके स्थान पर बलाघात का प्रयोग होने लगा। इसी बलाघात के कारण कई स्थानों पर दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व या उसका लोप हो गया।

यह बात विशेषतया स्मरणीय है कि पालि में लौकिक संस्कृत के पूर्ववर्त्ती अनेक प्राचीन रूप सुरक्षित हैं इसी लिये पालि का विकास लौकिक संस्कृत से न मान कर प्राचीन वैदिक-कालीन बोलियों से माना जाता है। संस्कृत इह की बजाय पालि इध अधिक प्राचीन है। इसका संकेत पहले किया जा चुका है। प्राचीन काल में श्मशान के लिये शवशान शब्द का प्रयोग होता था। पालि सुसान शब्द इसी से विकसित हुआ है। शवशान >श्वशान>सुसान। संस्कृत श्मशान के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह शब्द किसी अन्य बोली का अनन्तरवर्त्ती रूप है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृत का सम्बन्ध अधिकांश में सर्वथा उदीच्य भाषा के साथ था और पालि का सम्बन्ध मध्यदेशीय भाषा से।

रूप रचना

रूप रचना की दृष्टि से एक ओर तो पालि पूर्ववर्त्ती वैदिक भाषा के निकट है तो दूसरी ओर अनन्तरवर्त्ती प्राकृतों में होने वाले परिवर्तनों का आदि स्रोत भी। इस लिये पालि में वैदिक संस्कृत के अनेक रूप सुरक्षित हैं। वैदिक भाषा की स्वच्छन्दता और रूप-विविधता भी पालि को विरासत में मिली है और साथ ही रूप-रचना में सरलीकरण की प्रवृत्ति भी आने लग गई थी जो प्राकृतों में जाकर और भी अधिक बढ़ गई थी।

पालि में पद के अन्त में आने वाले व्यञ्जन का प्रायः लोप हो गया

था अथवा उसके साथ 'अ' जुड गया था। इस का परिणाम यह हुआ कि सस्कृत मे अजन्त और हलन्त (व्यञ्जनान्त) का जो सज्ञा विभाग (स्वरान्त) मिलता है वह पालि मे प्राय: लुप्त होने लग गया क्योकि सभी शब्द प्राय: स्वरान्त ही रह गये। जैसे—सुमेधस्>सुमेध अथवा सुमेधस। स्वरान्त हो जाने पर इनके रूप स्वरान्त रूपो की तरह हो गये। व्यञ्जनान्त रूप बहुत कम बच गये थे। स्वरान्त रूपो मे भी उपमान के कारण समानता आने लग गई थी। विशेषतया इकारान्त और उकारान्त के सम्प्रदान-सम्बन्ध के अकारान्त सज्ञा शब्दो के समान होने लग गये। जैसे—रामस्य की समानता के आधार पर अग्गि-स्स, वाउ-स्स। सप्रदान और सम्बन्ध के रूप एक समान हो गये। अनेक नपुसक लिङ्ग के रूप भी पुल्लिङ्ग के समान होने लग गये। द्विवचन का लोप हो गया। पालि मे द्विवचन के 'द्वे-दुवे' और 'उभो' केवल ये रूप ही अवशिष्ट रहे है—शेष सब लुप्त हो गये।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के अनेक रूप पालि मे सुरक्षित भी है। वैदिक सस्कृत मे अनेक सज्ञा-रूप एक से अधिक थे। जैसे कर्ता कारक बहुवचन मे देवा: और देवास:। पालि मे इन के समानान्तर देवा और देवासे रूप है। सस्कृत मे केवल देवा: रूप ही सुरक्षित रहा।

सर्वनाम, विशेषण एव सख्यावाची शब्दो के रूप पालि मे सस्कृत के ही समान है। ध्वनिसम्बन्धी परिवर्तन अवश्य देखने को मिलता है।

क्रिया रूपो की दृष्टि से भी पालि मे वैदिक सस्कृत की अनेक विशेषतायें विद्यमान है। कई स्थानों पर परिवर्तन भी हो गये। पालि मे गण-भेद विद्यमान है। परन्तु कुछ क्रियाओ के गणो मे परिवर्तन भी हो गया है। कई गणों के रूपो मे इतनी अधिक समानता आने लगी थी कि इन्हे एक ही गण के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अधिकाश मे भ्वादिगण का प्रभाव देखने को मिलता है इसका कारण सम्भवत: यही है कि सस्कृत की सब से अधिक क्रियाये भ्वादिगण की ही है। पालि मे आत्मनेपद का प्राय: लोप हो गया है। कही कही पर ही आत्मनेपद के रूप देखने को मिलते है।

संस्कृत में कर्मवाच्य के रूपों में आत्मनेपद के साथ तिङ् प्रत्यय लगते थे परन्तु पालि में वहाँ भी परस्मैपद को तिङ् प्रत्यय लगने लगे। पालि के तिङ् प्रत्यय संस्कृत के तिङ् प्रत्ययों के समान ही हैं।

क्रिया रूपों में भी द्विवचन का लोप हो गया था। काल रचना में सम्पन्न काल (Perfect) लुट् का पालि में लोप हो गया। अन्य कालों के रूप सुरक्षित रहे। इस प्रकार दस लकारों में से लृट् लकार का भी लोप हो गया। केवल आठ लकार ही बच गये। पालि में सन्नन्त, यङन्त, णिजन्त, नाम-धातु, कृदन्त आदि रूप संस्कृत के समान देखने को मिलते हैं।

संक्षेप में, पालि की रूप रचना में सरलता की प्रवृति प्रारम्भ हो गई थी परन्तु प्राचीन रूप बहुत अंशों में सुरक्षित रहे।

अशोकी प्राकृत

काल की निश्चितता की दृष्टि से अशोकी प्राकृत का बहुत अधिक महत्त्व है। भारतीय आर्यभाषा के प्राचीन रूपों में केवल इसी का समय निश्चित है। सम्राट् अशोक ने अपने राज्यकाल में अनेक स्थानों पर शिलालेख खुदवाये थे। इनकी भाषा को अशोकी प्राकृत का नाम दिया गया है। सम्राट् अशोक के इन अभिलेखों में लेखकाल भी दिया हुआ है। इनमें स्पष्ट रूप से यह लिखा हुआ है कि यह लेख सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक के आठ, नौ आदि वर्ष बाद खुदवाया गया। सम्राट् अशोक का शासन काल ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी का मध्य भाग है। इस प्रकार अशोक के ये सभी शिलालेख २६२-२५० ई० पू० के हैं।

ये लेख शासन सम्बन्धी भी हैं और धर्म सम्बन्धी भी। ये शिलाओं, खम्भों और गुफाओं की दीवारों पर खुदे हुए हैं। हिमालय से मैसूर और बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक ये खुदे हुए मिलते हैं। इतने विस्तृत भूभाग में फैले हुए इन लेखों की एक विशेषता यह भी है कि इन लेखों का उद्देश्य जनसाधारण को धार्मिक विचारों से परिचित करना या विशिष्ट बातों का प्रचार करना था इसलिये ये लेख अलग अलग स्थानों पर वहां

की स्थानीय बोली में ही खुदवाये गये थे। इस प्रकार अशोकी प्राकृत कोई एक सुव्यवस्थित या सुसंगठित भाषा नहीं है बल्कि ई० पू० तीसरी शताब्दी की अनेक स्थानीय बोलियों का समूह मात्र है।

अशोक के इन अभिलेखों का श्रेणी विभाजन अनेक रूप से किया गया है। भाषा की दृष्टि से इन अभिलेखों में तीन मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के रूप देखने को मिलते हैं। इसी आधार पर अशोकी प्राकृत को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) उत्तर पश्चिमी (२) दक्षिण-पश्चिमी और (३) प्राच्य।

शाहबाज़गढ़ी, मानसेरा आदि के शिलालेखों में उत्तर-पश्चिमी भाषा का स्वरूप देखने को मिलता है। शाहबाज़गढ़ी उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त (पश्चिमी-पाकिस्तान) में पेशावर से चालीस मील दूर है और मानसेरा पंजाब के (पश्चिमी पाकिस्तान) के हज़ारा ज़िले में है। ये दोनों शिलालेख खरोष्ठी लिपि में हैं और वहां पहाड़ों पर खुदे हुए हैं।

दक्षिण-पश्चिमी भाषा का स्वरूप गिरनार आदि के शिलालेखों में देखने को मिलता है। गिरनार, जिसका प्राचीन नाम रैवतक है, गुजरात राज्य में है। यह लेख भी पहाड़ी पर खुदा है और ब्राह्मी लिपि में है।

प्राच्य-भाषा का स्वरूप धौली, जौगड, आदि के लेखों में देखा जा सकता है। धौली और जौगड के शिलालेख कलिङ्ग (उड़ीसा) में हैं। ये दोनों शिलालेख ब्राह्मी लिपि में हैं।

प्राच्य भाषा का प्रभाव सभी शिलालेखों पर देखने को मिलता है। इस का कारण यही है कि सब से पहले ये शिलालेख प्राच्यभाषा में लिखे जाते होंगे। बाद में उनका अनुवाद दूसरी स्थानीय बोलियों में किया जाता होगा। परिणामस्वरूप प्राच्य भाषा का कुछ रूप रह जाता होगा। धौली और जौगड के लेखों की भाषा पर उत्तर-पश्चिमी का सुस्पष्ट प्रभाव है। इस का कारण भी यही है कि सम्राट् अशोक ने इन लेखों को पहले उत्तर-पश्चिम के किसी स्थान में तैयार करवाया होगा और बाद में इन्हें धौली

और जौगड भेज कर वहां की स्थानीय बोली में अनूदित कराया होगा।

पूर्वी के अतिरिक्त कई विद्वान् मध्य-पूर्वी भाषा को अलग वर्ग में रखते है। मध्यपूर्वी के अन्तर्गत कालसी, तोपरा, जोगीमार आदि के अभिलेखों की भाषा है। कालसी देहरादून ज़िले में है और मसूरी से चकरौता की ओर जाने वाली सड़क पर सोलह मील की दूरी पर है।

ध्वनि और रूप सम्बन्धी विभिन्नतायें इन अभिलेखों का तुलनात्मक अध्ययन करने में पूर्णतया स्पष्ट होजाती हैं। शाहबाज़गढ़ी के शिलालेख की भाषा में 'र्' ध्वनि है, श्, ष् और स् इन तीनों ऊष्म व्यञ्जनों का प्रयोग मिलता है तथा ण् और ञ् भी मिलते हैं। पश्चिमोत्तरी भाषा में दन्त्य व्यञ्जन ध्वनियों के स्थान पर मूर्धन्य रूप का विकास अधिक देखने को मिलता है।[1] गिरनार की भाषा में 'र्' ध्वनि है, ण् और ञ् की भी सत्ता है। ऊष्म व्यञ्जनों में केवल स् है। श् और ष् देखने को नहीं मिलता। कालसी और जौगड की भाषा में 'र्' ध्वनि बिल्कुल नहीं है। सर्वत्र ल् है। र् का या तो लोप हो जाता है या उसके स्थान पर ल् हो जाता है। जैसे 'देवानां प्रिय: प्रियदर्शी राजा' संस्कृत के इस वाक्यांश के स्थान पर कालसी और जौगड दोनों की भाषा में 'देवानं पिये पियदसि लाजा' वाक्यांश का प्रयोग मिलता है। कालसी और जौगड के पाठों की समानता को देखते हुए मध्यपूर्वी और पूर्वी या प्राच्य को एक ही भाषा मानना ठीक है। कालसी और जौगड की भाषा में केवल 'स्' ध्वनि है, 'श्' और 'ष्' ध्वनियां नही हैं। 'ण्' और 'ञ्' ध्वनियां भी नहीं हैं।

रूप-रचना की दृष्टि से अशोकी प्राकृत में सरलता की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यह पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में रूप-सम्बन्धी बहुत अधिक जटिलता थी, पालि में सरलीकरण की

---

१. डा० सुकुमार सेन का विचार है कि शाहबाज़गढ़ी की मूर्धन्य ध्वनियां सम्भवत: वर्त्स्य थीं इसलिये दन्त्य और मूर्धन्य में अन्तर का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रवृत्ति दिखाई देती है, बाद की सभी प्राकृतों में इसी सरलीकरण की प्रवृत्ति का अधिक विकास देखने को मिलता है।

अन्य अभिलेख

शिलालेखी प्राकृत में अशोक के शिलालेखों की भाषा का ही अधिक महत्त्व है। ईसा पूर्व के दो अन्य महत्त्वपूर्ण अभिलेख भी प्राकृत में लिखे मिलते हैं। एक अभिलेख कलिङ्गराज खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख है। खारवेल जैनधर्मानुयायी थे। सम्राट् अशोक की मृत्यु के बाद ही मगध-साम्राज्य से इन्होंने अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। दूसरा अभिलेख हिलिओदोरोस (Heliodoros) का वेसनगर-अभिलेख है। हिलिओदोरोस तक्षशिला के राजा यवन अन्तिअलकिदस (Antialkidas) का राजदूत था और उसने भगवान् वासुदेव के नाम पर वेसनगर में एक गरुड़ध्वज का निर्माण कराया था। इसी पर प्राकृत का एक अभिलेख खुदा हुआ है। ये दोनों अभिलेख ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के हैं। इन दोनों अभिलेखों की भाषा पालि से विशेष मिलती-जुलती है। और संस्कृत से बहुत अधिक प्रभावित है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महावीर और बुद्ध के प्रयत्नों से जो जनभाषाओं की ओर ध्यान आकर्षित हुआ था वह धीरे २ मन्द पड़ने लगा और जनभाषाओं का स्थान फिर से संस्कृत ग्रहण करने लगी। यही कारण है कि ईस्वी बाद के अभिलेख सस्कृत में ही मिलते हैं।

मध्य काल

महावीर और बुद्ध के समय से प्राकृत या जन-भाषाओं में धार्मिक साहित्य लिखा जाने लग गया था, बाद में इन भाषाओं का साहित्यिक महत्त्व भी स्वीकार किया जाने लगा और इन भाषाओं में साहित्यिक रचनायें लिखी जाने लगीं। परिणामस्वरूप प्राकृत भाषाओं के भी साहित्यिक स्वरूप का विकास हुआ और जिन प्राकृतों में साहित्य लिखा गया वे प्राकृतें सुरक्षित भी रहीं। इन्हीं प्राकृतों को साहित्यिक प्राकृतें कहा जाता है।

क्योंकि इन रचनाओं का प्रारम्भ ईस्वी के आसपास हुआ था। इसीलिये इनका काल ईस्वी के प्रारम्भ से ५०० ई० तक माना जाता है। यही मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का मध्यकाल है।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के आदि काल का स्वरूप बहुत शीघ्र ही मध्य-कालीन स्वरूप में परिवर्त्तित नहीं हो गया था। इस परिवर्तन में भी कई सौ वर्ष लग गये थे। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आस पास सौ दो सौ वर्ष इस परिवर्तन के सङ्क्रान्तिकाल के रूप में माने जा सकते हैं। इस दृष्टि से सब से पहले अश्ववोष (लगभग १०० ई०) के लिखे नाटकों की भाषा की ओर ध्यान जाता है। इन नाटकों में तीन प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है जो विभिन्न पात्रों के मुख से कहलाई गई है। इन भाषाओं में साहित्यिक प्राकृतों का प्राचीन या सङ्क्रान्तिकालीन रूप देखने को मिलता है। अधिकतर ये भाषायें अशोकी प्राकृत के समान ही हैं। साहित्यिक होने के कारण ये संस्कृत से भी बहुत अधिक प्रभावित हैं। अश्वघोष के नाटकों की तीन प्रकार की प्राकृतें इस प्रकार हैं—(१) दुष्ट की भाषा (२) गणिका और विदूषक की भाषा तथा (३) गोभम की भाषा। दुष्ट की भाषा में प्राचीन मागधी की सभी विशेषतायें हैं। उदाहरण के तौर पर 'र्' के स्थान पर सर्वत्र 'ल्' है और 'ष्, स्' के स्थान पर सर्वत्र 'श्' है। गणिका और विदूषक की भाषा में प्राचीन शौरसेनी की विशेषतायें देखने को मिलती हैं। यह भाषा बहुत अशों में पालि के समान है। गोभम की भाषा को अर्द्धमागधी को प्राचीन रूप माना जाता है।

सङ्क्रान्तिकालीन भाषा के अन्तर्गत धम्मपद के प्राकृत संस्करण का भी उल्लेख किया जाता है। इस की भाषा उत्तर-पश्चिमी अशोकी प्राकृत के समान ही है। भारत से बाहर सर आरेल स्टेन की खोजों के कारण मध्य-एशिया के शान-शान राज्य के कुछ शासकीय पत्र मिले हैं। ये पत्र अधिकांश रूप में निय नामक स्थान में प्राप्त हुये हैं इस लिये इस की भाषा को निया-प्राकृत कहा जाता है। भारत से बाहर प्राप्त होने के

कारण इस भाषा का उल्लेख बहिर्भारतीय प्राकृत के अन्तर्गत किया जाता है। यह भाषा भी उत्तर-पश्चिमी अशोकी प्राकृत से मिलती जुलती है इस लिये इसे उसी की एक शाखा माना जा सकता है।

इस सङ्क्रान्ति काल की एक ध्वनि-सम्बन्धी सामान्य विशेषता का उल्लेख कर देना असङ्गत न होगा। इस समय दो स्वरों के मध्य में आने वाले अघोष स्पर्श व्यंजन सघोष होने लग गये थे। धीरे धीरे इन के उच्चारण में शिथिलता आने लगी और इनका उच्चारण संघर्षी ध्वनियों के समान होने लगा। अनन्तरवर्ती प्राकृतों में तो इन का लोप भी प्रारम्भ हो गया। जैसे शुक>सुग>सुग़>सुग्र। सघोष ध्वनियों के संघर्षी उच्चारण का लिखित रूप नहीं मिलता क्योंकि इस प्रकार के उच्चारण को निर्दिष्ट करने वाला कोई वर्ण उस समय की लिपि में नही था। संयुक्त व्यञ्जन बहुत कम रह गये।

रूप रचना की दृष्टि से हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सरलीकरण की जो प्रवृत्ति आदिकाल में प्रारम्भ हो गई थी वह मध्यकाल में और भी अधिक बढ़ती चली गई। परिणामस्वरूप सभी संज्ञा-शब्दों के रूपों में समानता आ गई अर्थात् सभी रूप आकारान्त शब्दों के समान हो गये। कारकों की संख्या कम हो गई और इन के अनेक रूपों में एकरूपता आने लगी। द्विवचन का तो पहले ही लोप हो चुका था। विभक्तियों के साथ साथ कारक-चिह्न या परसर्ग लगाने की प्रवृत्ति बढने लग गई। बाद में चल कर इन्हीं परसर्गों ने विभक्तियों का स्थान ग्रहण कर लिया। जैसे संस्कृत के 'देवाय दत्तम' के स्थान पर 'देवाय कए' (कृते) दत्तम्, जैसे प्रयोग चल पड़े। क्रियारूपों मे से भी अनेक रूप लुप्त होने लग गये।

प्राकृत के साहित्यिक भाषा होजाने के कारण इसके व्याकरण की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा। यह भी संस्कृत के समान व्याकरणबद्ध होने लग गई प्राकृत के व्याकरणकारों में सर्वप्रथम वररुचि का नाम लिया जाता है। वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश नामक ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

वररुचि ने इस ग्रन्थ में प्राकृत के चार भेद माने है—१. महाराष्ट्री २. पैशाची ३. मागधी और ४. शौरसेनी। प्राकृत के अनेक व्याकरण ग्रन्थ बाद में भी लिखे गये। यह परम्परा तेरहवी शताब्दी तक चलती रही। बारहवी शताब्दी के जैन आचार्य हेमचन्द्रकृत प्राकृत-व्याकरण नामक ग्रन्थ भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। हेमचन्द्र ने आर्षी या अर्द्धमागधी और शूलिका पैशाचिक का भी विशेष उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त विभिन्न नाटकों में प्रयुक्त शाकारी, ढक्की, शाबरी, चांडाली, आभीरिका, अवन्ती आदि का भी उल्लेख किया जाता है।

साहित्यिक प्राकृत के मुख्य भेद शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी, और पैशाची है।

शौरसेनी

शौरसेनी प्राकृत का सम्बन्ध मुख्यतया शूरसेन-प्रदेश के साथ रहा है। आधुनिक मथुरा के आसपास का प्रदेश प्राचीन काल में शूरसेन प्रदेश कहलाता था। यही प्रदेश मध्यदेश भी है। इसी प्रदेश की भाषा वैदिक काल मे उदीच्य और प्राच्य के मध्य एक कड़ी का काम दे रही थी। इसी से विकसित पालि मुख्य भाषा का स्थान ग्रहण किये रही। शौरसेनी भी इसी का ही विकसित रूप है। अपने समय में इसका भी स्थान बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण था। संस्कृत के नाटकों मे इसका बहुत अधिक प्रयोग किया जाता था। अधिकांश मे नाटकों में आने वाले स्त्री-पात्रों तथा मध्यमवर्ग के पात्रों विदूषक आदि की यही भाषा होती थी। सस्कृत के साथ इस का विशिष्ट सम्बन्ध होने के कारण इस पर सस्कृत का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में इसका महत्त्व सस्कृत से कम नहीं था। इसका क्षेत्र अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अधिक विस्तृत था।

इस भाषा की ध्वनि सम्बन्धी मुख्य विशेषतायें इस प्रकार है। दो स्वरों के मध्य में आने वाली त् और थ् ध्वनियां क्रमशः द् और ध् मे

परिवर्त्तित होजाती है। दो स्वरों के मध्य मे आने वाली मूल द् और ध् ध्वनियों मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। जैसे स. गच्छति> शौ. गच्छदि; सं. कथय>शौ. कधेहि, परन्तु स. जलद:>शौ. जलदो और स. क्रोध:>शौ. कोधो के 'द्' और 'ध्' मे कोई परिवर्तन नही हुआ। कही कही पर 'त्' के स्थान पर 'ड्' भी होजाता है। जैसे स. व्यापृत>शौ. वावडो।

संस्कृत 'क्ष' के स्थान पर शौरसेनी मे 'क्ख' होजाता है। जैसे सं. कुक्षि, शौ. कुक्खि; स. इक्षु>शौ. इक्खु।

रूपरचना की दृष्टि से क्रियारूपो में शौरसेनी मे परस्मैपद के रूप ही मिलते है आत्मनेपद के नही। कर्मवाच्य मे भी परस्मैपद के ही तिङ् प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। जैसे स. क्रियते>शौ. करीअदि; स. गम्यते>शौ. गमीअदि।

पुरुपोत्तमदेव ने अपने प्राकृतानुशासन मे टक्क नामक एक विभाषा का उल्लेख किया है। इस भाषा को उन्होने सस्कृत और शौरसेनी का मिश्रित रूप बताया है। इस मे अकारान्त के स्थान पर उकारान्त की प्रवृत्ति, पचमी बहुवचन 'भ्यस्' के स्थान पर कही कही, -ह -हुं -हिन्तो के प्रयोग आदि कुछ प्रवृत्तिया देखने को मिलती है। वस्तुत: इसका सम्बन्ध उत्तर-कालीन अपभ्रंश के साथ है। इसे पूर्णतया शौरसेनी नही कहा जा सकता।

शौरसेनी का प्रयोग अनेक जैन रचनाओं मे किया गया है। इन रचनाओ को जैन शौरसेनी भी कहा जाता है।

महाराष्ट्री

प्राकृत के वैयाकरणो ने महाराष्ट्री[1] को ही प्रमुख प्राकृत भाषा माना है। वररुचि और हेमचन्द्र ने महाराष्ट्री का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

1. महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्ट प्राकृत विदु:। (काव्यादर्श, १.३४)

स्थान माना है इसलिये प्राकृत की सामान्य विशेषताओं का वर्णन कर शौरसेनी, मागधी आदि का विशेष रूप में विवेचन किया है महाराष्ट्री का नहीं। उनकी दृष्टि में महाराष्ट्री सामान्यभाषा के रूप में है और सभी सामान्य विशेषतायें महाराष्ट्री की ही है। महाराष्ट्री नाम से भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि अपने समय में यह महान राष्ट्र की अथवा राष्ट्रीय-भाषा थी। काव्य विशेषतया गीतिकाव्य में इसी का प्रयोग किया जाता था। सस्कृत नाटकों का प्राकृत पद्य महाराष्ट्री में ही है। इसी भाषा में लिखे गये हालकृत गाहा-सत्तसई (गाथा सप्तशती) और प्रवरसेन कृत रावणवहो अथवा दशमुहवहो (सेतुबन्ध) प्रमुख ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ इतने उत्कृष्ट कोटि के है कि इन की तुलना संस्कृत के उत्कृष्ट ग्रन्थों के साथ की जा सकती है।

ध्वनि-तत्त्व की दृष्टि से महाराष्ट्री की प्रमुख विशेषता यह है कि यदि दो स्वरों के मध्य में अल्पप्राण स्पर्श व्यञ्जन आता है तो उसका लोप होजाता है और यदि महाप्राण स्पर्श व्यञ्जन आता है तो उसके स्थान पर केवल ह् रह जाता है। जैसे स० कृति>म० कइ; स० कवि>म० कइ; सं० कथा>म० कहा; स० वध:>म० वहो; स. मुख>म० मुह; सं० गाथा>म० गाहा।

महाराष्ट्री और शौरसेनी का प्रमुख भेदक लक्षण यही है। अन्य दृष्टियों से इन दोनों भाषाओं में बहुत अधिक समानता है। डा० मनमोहन-घोष का विचार है कि महाराष्ट्री का विकास शौरसेनी से ही हुआ है। बाद मे यह दक्षिण मे पहुची और आधुनिक मराठी का विकास इसी से हुआ है। डा० ज्यूल ब्लाक (Jules Bloch) ने इस बात को पूर्णतया प्रमाणित किया है। महाराष्ट्री को शौरसेनी-प्राकृत और शौरसेनी-अपभ्रंश के मध्य की स्थिति भी कहा जाता है।

महाराष्ट्री की अन्य मुख्य विशेषताये इस प्रकार है। दो स्वरों के मध्य में आने वाले ऊष्मव्यजन के स्थान पर प्राय: ह् हो जाता है। जैसे—सं० पाषाण>म० पाहाण; स० अनुदिवसम्>म० अणुदिअहं।

रूपरचना की दृष्टि से अपादान एकवचन में प्राय: -अहि प्रत्यय लगता है। जैसे सं. दूरात्—म० दूराहि। अधिकरण एकवचन का रूप -म्मि अथवा -ए प्रत्यय के योग से बनता है। जैसे—स० लोके>म० लोए; स०*लोकस्मिन्>म० लोअम्मि। क्रियारूपों में कर्मवाच्य के -य्- प्रत्यय के स्थान पर -इज्ज- प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे—सं० पृच्छ्यते> म० पुच्छिज्जइ; सं० गम्यते>म० गमिज्जइ। पूर्वकालिक क्रिया के लिये -ऊण प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। जैसे स० पृष्ट्वा>म० पुच्छिऊण।

महाराष्ट्री में श्वेतांबर सम्प्रदाय की कुछ जैन रचनायें भी मिलती है। महाराष्ट्री अधिकांश में काव्य की भाषा रही है परन्तु ये जैन रचनायें गद्य में हैं। इनकी भाषा को जैन महाराष्ट्री कहा जाता है।

मागधी

मगध देश की भाषा होने के कारण इसे मागधी[1] कहा जाता है। इस का सम्बन्ध वैदिक समय की प्राच्य विभाषा के साथ माना जाता है। यह भाषा शौरसेनी से इतनी अधिक प्रभावित है कि प्राकृत के वैयाकरण इस का मुख्य आधार शौरसेनी को ही मानते हैं। संस्कृत के नाटकों में केवल नीच वर्ग के पात्रों द्वारा ही यह भाषा बोली जाती है। इसके अतिरिक्त मागधी का अपना कोई विशिष्ट साहित्य नहीं है।

इसकी ध्वनि सम्बन्धी मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—मागधी मे प्राचीन प्राच्य भाषा के समान केवल 'ल्' ध्वनि है। 'र्' ध्वनि का सर्वथा अभाव है। 'र्' के स्थान पर 'ल्' हो जाता है। जैसे सं. राजा>मा० लाजा। ऊष्म ध्वनियों में मागधी में 'श्' ध्वनि है। 'स्' और 'ष्' के

---

१. बौद्ध मागधी को आदि भाषा मानते हैं। उन का विचार है कि इस मूल भाषा को सभी समझ सकते हैं। पालि और मागधी को अभिन्न मानने की प्रवृत्ति भी उन में परिलक्षित होती है।

स्थान पर भी 'श्' हो जाता है। जैसे सं० समर>मा० शमल; सं० विलास>मा० विलाश। 'ज्' के स्थान पर 'य्' और 'झ' के स्थान पर 'य्ह' हो जाता है। जैसे सं० जानाति>मा० याणादि; सं. झटिति> मा० य्हति। संयुक्त व्यञ्जनों द्य, र्य् और र्ज् के स्थान पर य्य् हो जाता है। जैसे सं० अद्य>मा० अय्य, सं० कार्य>मा० कय्य, सं. दुर्जन>मा. दुय्यण। कहीं कहीं पर 'र्ज्' के स्थान पर 'ञ्ञ्' भी हो जाता है। जैसे सं० वर्जति >वञ्ञ्दि। शौरसेनी के समान ही मागधी में भी दो स्वरों के मध्य में आने वाला 'द्' सुरक्षित रहता है चाहे वह 'त्' के स्थान पर आया हुआ हो चाहे मूल ध्वनि हो।

रूप रचना की दृष्टि से मागधी की यह विशेषता है कि कर्ताकारक एक वचन में '-अ:' के स्थान पर—'ए' हो जाता है। अन्य प्राकृतों के समान -ओ नहीं होता। सं. देव:>मा. देवो। अन्य प्राकृतों में यह रूप देवो होता है। मागधी सर्वनाम अस्मद् के प्रथमा एकवचन में एकारान्त रूप हैं, जैसे हगे, हके, अहके। हेमचन्द्र ने प्रथमा बहुवचन (वयं) का रूप भी हगे माना है। कृदन्त (क्त से बने हुए) शब्दों में प्रथमा एकवचन के रूप में या तो विभक्ति का लोप हो जाता है या विभक्ति के स्थान पर -उ हो जाता है। जैसे सं. हसित:>मा. हशिदु।

शाकारी, चांडाली, ढक्की आदि कुछेक अन्य प्राकृतें मागधी के समान ही हैं इसलिये इन्हें मागधी की ही विभाषायें माना जाता है। ग्रियर्सन ने ढक्की को 'टाक्की' माना है और उनका विचार है कि यह स्यालकोट के टक्क प्रदेश की भाषा थी। परन्तु यह बात ठीक नहीं। ढक्की पूर्वी भाषा है और इसका सम्बन्ध बंगाल (पूर्वी पाकिस्तान) के ढाका प्रदेश के साथ है। टाक्की वस्तुत: पुरुषोत्तम देव द्वारा वर्णित टक्क देशी विभाषा है जिस का उल्लेख शौरसेनी के अन्तर्गत पीछे किया जा चुका है।

अर्ध-मागधी

अर्धमागधी कोशल प्रदेश की भाषा थी। जैन-शास्त्रों (श्वेताम्बर

सम्प्रदाय के ग्यारह अगो, बारह उपाङ्गो आदि) की रचना इसी भाषा मे हुई है। वे इस भाषा को आर्षी कहते थे और उनका यह भी विचार रहा है कि यह आदिभाषा है। भगवान महावीर जब इस भाषा मे उपदेश देते थे तो पशु-पक्षी तक इसे समझ लेते थे, इस प्रकार का भी जैनियो का विश्वास है। इसका मागधी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु बहुत अगो मे यह महाराष्ट्री या शौरसेनी से भी मिलती जुलती है इसलिये इसे अर्ध-मागधी कहा जाता है अर्थात् यह आशिक रूप मे मागधी है। इसके दो रूप माने जाते है—१. धार्मिक रूप २. साहित्यिक रूप। धार्मिक रूप मे इसे जैन प्राकृत भी कहा जाता है इसके साहित्यिक रूप का प्रयोग सबसे पहले अश्वघोष की रचनाओ मे मिलता है।

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताओ की दृष्टि से इसमे शौरसेनी के समान केवल 'स्' ही है और 'ष्' व 'श्' के स्थान पर भी स् ही मिलता है। दीर्घ 'स्स्' के स्थान पर ह्रस्व 'स्' हो जाता है परन्तु पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ होजाता है। जैसे स. वर्ष>वस्स>अ०मा. वास। दन्त्य व्यञ्जन ध्वनियो के स्थान पर मूर्धन्य हो जाने की प्रवृत्ति सभी प्राकृतो मे है परन्तु अर्धमागधी मे यह कुछ अधिक परिलक्षित होती है। अर्धमागधी की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि जहा दो स्वरो के मध्य मे आने वाले स्पर्श व्यञ्जन का लोप हो जाता है वहा लुप्त होने वाले व्यञ्जन का स्थान 'य्' ध्वनि ले लेती है। इसीको य्-श्रुति कहा जाता है। जैसे स. सागर>साअर >अ मा. सायर। परन्तु दो स्वरो के मध्य मे आने वाले सघोष स्पर्श व्यञ्जन का लोप सर्वत्र नही होता। अर्धमागधी मे 'र्' और 'ल्' दोनो ध्वनिया विद्यमान है।

रूपरचना की दृष्टि से प्रथमा एकवचन मे मागधी के समान अर्धमागधी मे भी एकारान्त रूप मिलते है। शौरसेनी के समान ओकारान्त रूप भी है। सस्कृत के पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय -त्वा व -त्य अर्धमागधी मे -त्ता व -च्चा के रूप मे परिलक्षित होते है। इनके अतिरिक्त

-ट्टु, -इत्तु, रूप भी मिलते हैं। जैसे सं. कृत्वा>अ. मा. कट्टु, सं. श्रुत्वा अ. मा. सुणित्तु।

पैशाची

इस समय पैशाची भाषा का कोई साहित्य नहीं मिलता। गुणाढ्य ने वड्डुकहा (बृहत्कथा) भाषा में लिखी थी परन्तु अब उसका मूल रूप सुरक्षित नही है। वह केवल दो संक्षिप्त संस्कृत अनुवादों के रूप में उपलब्ध है। एक अनुवाद का नाम है बृहत्कथामंजरी और दूसरे का नाम कथा-सरित्सागर है। इन दोनों ग्रन्थों से बृहत्कथा के अत्यधिक महत्त्व का परिचय मिलता है।

यद्यपि पैशाची का कोई स्वरूप देखने को नहीं मिलता तथापि प्राचीन वैयाकरणों द्वारा उसकी जो विशेषतायें निर्दिष्ट की गई है उनसे उसका कुछ परिचय अवश्य मिल जाता है। वररुचि ने पैशाची का वर्णन किया है और हेमचन्द्र ने पैशाची और उसकी एक अन्य विभाषा चूलिका-पैशाची के सम्बन्ध मे लिखा है। पुरुषोत्तमदेव ने प्राकृतानुशासन में पैशाची की तीन उपभाषाओं का उल्लेख किया है। उन के नाम है—कैकय, शौरसेन और पाञ्चाल।

पैशाची की ध्वनि सम्बन्धी मुख्य विशेषताये इस प्रकार है। इसमे सघोष स्पर्श व्यञ्जन (ग, घ, ज, झ, ड, ढ, द, ध, ब और भ) अघोष (क्रमश: क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प और फ) हो जाते है, जैसे सं० गगनं>पै० गकनं, सं० मेघ>पै० मेखो ; सं० राजा >पै. राचा ; सं० नगर पै० नकर आदि। ण के स्थान पर न हो जाता है। जैसे सं० तरुणी> पै० तलुनी। मूल 'ल' ध्वनि के स्थान वर ळ हो जाता है। जैसे सं० सलिल>पै० हळिळ। पैशाची मे स् ध्वनि ही है। ष् और श् के स्थान पर भी स् हो जाता। जैसे स० शोभति>पै० सोभति ; स० विषम: पै० विसमो। इसमें दो स्वरों के मध्य मे आने वाले स्पर्श व्यञ्जनों का लोप नहीं होता।

·रूप-रचना की दृष्टि से एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पैशाची में आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनों के प्रत्यय प्रथम पुरुष एक वचन मे मिलते है अर्थात् >ते और -ति दोनो विद्यमान हैं।

सामान्य विशेषतायें

मध्यभारतीय-आर्यभाषा के मध्यकाल की उपर्युक्त साहित्यिक प्राकृतों और पालि मे ध्वनि तत्त्व की दृष्टि से विशेष अन्तर नही है। पालि की ध्वनियां ही सामान्य रूप में प्राकृतों की ध्वनियां है। विशिष्ट प्राकृतो की दृष्टि से इन में थोडा बहुत अन्तर आ जाता है। उदाहरण के तौर पर य् और श् ध्वनि का व्यवहार केवल मागधी मे होता है अन्य प्राकृतों में ये ध्वनियां क्रमशः ज् और स् में परिवर्त्तित हो जाती है। मागधी में 'स्' ध्वनि का प्रयोग नही होता। 'ष्' और विसर्ग का प्रयोग किसी भी प्राकृत में नही होता। अन्य स्वर और व्यंजन ध्वनियां पालि की ध्वनियों के समान ही है। विशेषतया शौरसेनी प्राकृत तो पालि से बहुत अधिक समानता रखे हुये है। मुख्य अन्तर यही है कि शौरसेनी में न् और य ध्वनिया नहीं है। उन के स्थान पर क्रमशः ण् और ज् मिलती है। सामान्य तौर पर सयुक्त व्यंजनों की सत्ता बहुत कम रह गई। रूप-रचना की दृष्टि से द्विवचन का सर्वथा लोप हो गया। कारको की संख्या कम हो गई। अनेक सर्वनामों की विभक्तियां सज्ञा रूपों के साथ जुड़ने लगीं। अनेक विभाषागत प्राचीन रूप, जो वैदिक और संस्कृत में भी नही है, इन प्राकृतों मे देखने को मिलते है। रूप रचना की जटिलता बहुत अशों में कम हो गई थी। अधिकांश में प्राकृत के शब्द अकार-आकार-इकार-ईकार-उकार-ऊकारान्त ही है। व्यञ्जनान्त शब्दों के भी स्वरान्त हो जाने के कारण केवल स्वरान्त शब्द ही रह गये है। लिङ्गविधान संस्कृत के ही समान है अर्थात् प्राकृत मे तीनों लिग है। आठ विभक्तियो मे से चतुर्थी और षष्ठी एकरूप हो गई। विभक्ति-चिन्हों की अनेकरूपता लुप्त होने लग गई। क्रिया-रूपो में भी सरलता और एकरूपता आने

लगी। सभी धातुयें स्वरान्त हैं। दस गणों का वर्गीकरण लुप्त होने लगा। आत्मनेपदी रूपों तथा लकारों की संख्या भी कम होने लगी। संस्कृत वाक्य-रचना और प्राकृत वाक्य रचना में विशेष अन्तर नहीं है परन्तु अनेक विभक्तियों के लुप्त हो जाने के कारण थोड़ी बहुत भिन्नता आनी प्रारम्भ हो गई थी।[1]

शब्दों की दृष्टि से प्राकृतों में अधिकांश संस्कृत के तद्भव शब्द हैं। संस्कृत तत्सम शब्दों का विशेष ग्रहण नहीं किया जाता था। फिर भी अनेक तत्सम शब्द भी प्राकृतों में प्रवेश कर गये हैं। प्राकृतों के साहित्यिक रूप धारण करने पर ऐसा होना स्वाभाविक था। अनेक आर्येतर शब्द मुंडा तथा द्राविड़ परिवार के भी प्राकृतों में समाविष्ट हो गये। प्राचीन काल में सभी शब्दों को व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत के साथ ही जोड़ने का प्रयत्न किया जाता था—इसी लिये प्राकृतों के शब्दों को या तो तत्सम कहा जाता है या तद्भव। प्राकृतों में अनेक ऐसे शब्द भी हैं जिनकी संस्कृत के आधार पर व्याख्या नहीं की जा सकती। ये शब्द या तो प्राकृत के अपने हैं अथवा आर्येतर स्रोतों से आये हैं। ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति अनिश्चित मान कर देशज कह दिया जाता है। प्राकृतों में ऐसे देशज शब्द भी अनेक हैं।

---

१. डा. सुकुमार सेन ने प्राकृतों की वाक्य-रचना पर विस्तार से विचार किया है। इस दृष्टि से उन का लिखा निम्न ग्रंथ विशेष पठनीय है—

Historical Syntax of Middle Indo-Aryan.

अध्याय ७

अपभ्रंश-काल

मध्य-भारतीय आर्यभापा के मध्य काल मे सामान्य जनता मे प्रचलित प्राकृत बोलिया भी साहित्यिक रूप धारण कर चुकी थी इसलिये महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि प्राकृते साहित्यिक प्राकृते कही जाती है। व्याकरण द्वारा इनके शुद्ध स्वरूप का नियमन भी किया जा चुका था। परिणामस्वरूप सस्कृत के समान ये भाषाये भी सामान्य जनता की भापा के प्रचलित स्वरूप से बहुत कुछ दूर हटती जारही थी और इम के विकास मे भी गतिरोध उत्पन्न होगया था। दूसरी ओर लोक-सामान्य बोलिया अपने सहज और स्वाभाविक रूप मे आगे की ओर बढ़ती चली जारही थी। सामान्य बोलियो के अजस्र प्रवाह को कोई नही रोक पाता उन्हे बन्धन मे नही बाधा जासकता। उनमे नानाविध परिवर्तन होते रहे। पहले-पहल इन व्याकरण के नियमो के अन्तर्गत न आने वाले स्वाभाविक प्रयोगो को अनादर की दृष्टि से देखा गया और इन्हे अपभ्रंश अथवा अपभ्रष्ट कहा गया। इस का सीधासादा अर्थ यही है कि ये प्रयोग विकृत या अशुद्ध माने गये। धीरे धीरे जब ये अशुद्ध रूप मे कहे जान वाले प्रयोग भी सर्वमान्य होगये तो एक नई भाषा का विकास हुआ जिमे अपभ्रश कहा जाता है।

अपभ्रंश की गणना प्राकृतो के अन्तर्गत ही की जाती है। वस्तुत: मध्यभारतीय आर्यभाषा का उत्तरकाल यही अपभ्रश है परन्तु जहा अपभ्रश एक ओर से अपनी पूर्ववर्त्ती प्राकृतों से सम्बद्ध है वहाँ दूसरी ओर इसका अनन्तरवर्त्ती आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के साथ भी घनिष्ट सम्बन्ध है इसलिये अपभ्रंशकाल को सङ्क्रान्तिकाल भी कहा जाता है। इस

महत्त्व को देखकर ही इस अध्याय में पृथक् रूप में इसका विवेचन किया जारहा है।

सामान्य तौर पर मध्य-भारतीय आर्यभाषा का उत्तरकाल ५०० ई० से १००० ई० तक माना जाता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि अपभ्रंश का प्रारम्भ ५०० ई० से ही हुआ हो। इससे पूर्व भी लोक-प्रचलित सामान्य प्रयोगों की दृष्टि से इसकी सत्ता स्वीकार की जासकती है। १००० ई० के बाद भी अपभ्रंश की विशिष्ट सत्ता बनी रही है क्योंकि आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप में परिवर्त्तित होने से पूर्व साहित्यिक और सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से भी यह मान्य रही है।

अपभ्रंश शब्द का सबसे पहले पतंजलि के महाभाष्य[1] में प्रयोग मिलता है। परन्तु प्रकरण को देखने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट होजाती है कि पतंजलि द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश शब्द का अर्थ भाषा-विशेष नहीं है। इन्होंने अपभ्रंश का सामान्य अर्थ विकृत अथवा अशुद्ध प्रयोग किया है। जो शब्द पाणिनि व्याकरण के अनुसार अव्यवस्थित समझे जासकते हैं वे अपभ्रंश शब्द हैं। पतंजलि केवल इतना ही कहना चाहते थे इससे अधिक नहीं।

भरत के नाट्यशास्त्र[2] में मिलते-जुलते विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग मिलता है। यहां भी प्रसङ्ग को देखते हुए विभ्रष्ट का अर्थ अपभ्रंश भाषा ग्रहण नहीं किया जासकता। प्रसङ्ग प्राकृत भाषा का है और भरत प्राकृत के तीन प्रकार के शब्दों का ही उल्लेख करते दिखाई देते हैं। पिछले अध्याय में प्राकृत के तीन प्रकार के शब्दों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है—तत्सम, तद्भव और देशज। भरत ने इन्हीं के समानान्तर तीन शब्दों का प्रयोग किया है। समान अर्थात् संस्कृत से उसी रूप में आये हुए

---

१. एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गौणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। १. १. १.

२. त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः॥
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च॥ १८.३

शब्द, विभ्रष्ट अर्थात् संस्कृत से उद्भूत और देशीगत अर्थात् जिनकी व्युत्पत्ति को संस्कृत के आधार पर नहीं समझाया जासकता। परन्तु भरत के नाट्यशास्त्र में एक उकार-बहुला भाषा का उल्लेख मिलता है। अपभ्रंश भाषा की एक प्रमुख विशेषता उकारबहुलता भी है इससे प्रतीत होता है कि भरत किसी अपभ्रंश भाषा से परिचित थे। भरत का समय लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी है। अपभ्रंश को इतने पूर्व का नहीं माना जासकता। अधिक सम्भावना तो यही है कि हिमालय, सिन्धु सावीर तथा अन्य आसपास के प्रदेशों की कोई एक भाषा थी जिसमें उकारबहुलता थी। यह भी संभव है कि इसी के प्रभाव से शौरसेनी प्राकृत उकारबहुला होकर अपभ्रंश के रूप में परिवर्त्तित होगई हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपभ्रंश की अनेक विशेषतायें पूर्ववर्त्ती साहित्य की भापा में देखने को मिलती हैं परन्तु केवल इसी आधार पर अपभ्रंश का वही काल मान लेना उपयुक्त नहीं है। अपभ्रंश भी तो वस्तुत: पूर्ववर्त्ती प्राकृतों का ही परिवर्त्तित रूप है इसलिये अपने से पूर्व की प्राकृतों की अनेक विशेषतायें उसमें विद्यमान होना सर्वथा स्वाभाविक ही है यदि पहले की भापा में वे विशेषतायें दिखाई दें तो उन्हें प्राकृतों की विशेषता मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

कालिदासकृत विक्रमोर्वशीय नाटक के कुछ पद्य अपभ्रंश भाषा के है। विद्वानों का विचार है कि या तो ये प्रक्षिप्त हैं या इन के पाठ में बाद में परिवर्तन कर लिया गया है। इन दोनों सम्भावनाओं को स्वीकार न करके यह भी कहा जा सकता है कि अपभ्रंश की बहुत सी विशेषतायें पुरानी प्राकृत में विद्यमान थीं इस लिये प्राकृत में लिखे गये वे पद्य भी अपभ्रंश के प्रतीत होते हैं। जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है कि ५०० ई. अपभ्रंश के लिये कोई निश्चित सीमा नहीं—उससे पूर्व भी अपभ्रंश की

---

१. हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिता:।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां नियोजयेत्॥ १८.४८

सत्ता स्वीकार की जा सकती है। कम से कम सामान्य जनता में प्रचलित स्वरूप की दृष्टि से तो उसे मानना ही चाहिये।

साहित्यिक दृष्टि से भामह ७वीं शती ई० और दण्डी (७वीं शती ई०) के समय तक अपभ्रंश महत्ता प्राप्त कर चुकी थी। भामह ने अपभ्रंश का एक भाषाशैली के रूप में उल्लेख किया है।[1] दण्डी ने काव्य में प्रयुक्त होने वाली आभीर आदि लोगों की भाषा को अपभ्रंश कहा है।[2] आठवी शती के उद्योतन ने कुवलयमाला नामक अपने ग्रन्थ में अपभ्रंश को एक काव्यशैली बताया है जिस में संस्कृत और प्राकृत दोनों का मिश्रण हो।

अपभ्रंश के भेद

सामान्य तौर पर जब अपभ्रंश का भाषा के रूप में उल्लेख किया जाता है तो इस से केवल एक ही भाषा का बोध होता है परन्तु बात ऐसी नहीं है। वस्तुत: प्राचीन प्राकृतें आधुनिक आर्य भाषाओं के रूप में परिवर्त्तित होने से पूर्व अपभ्रंश की स्थिति से गुज़री होंगी इस लिये मध्य-काल में जितनी प्राकृतें थीं उतनी अपभ्रश भाषायें होनी चाहियें। प्राकृत के प्राचीन वैयाकरणों ने मुख्य रूप में जिन प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है उन्हीं के आधार पर अपभ्रंशों का उल्लेख नहीं किया। वस्तुत: महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची आदि अपभ्रंश भाषायें भी होनी चाहियें परन्तु प्राचीन व्याकरणकारों ने तीन अपभ्रंशों का वर्णन किया है—१. नागर २. ब्राचड ३. उपनागर[3]। साथ ही यह भी कहा जाता है कि अपभ्रंश के भेद अनेक हैं। मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व में देश-भेद से अपभ्रंश के सत्ताईस भेद माने है। नौवीं शती के रुद्रट ने भी इसी

---

१. काव्यालङ्कार १.१६.२६

२. आभीरादिगिर: काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता:—काव्यादर्श-१.३६।

३. नागरो ब्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रय:।
अपभ्रंशा: परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मता:॥ प्राकृतसर्वस्व ७

आशय का मत व्यक्त किया है। इस प्रकार केवल तीन प्रकार की ही अपभ्रंश भाषायें मानना ठीक नहीं। वस्तुत: उपर्युक्त तीन भाषायें केवल पश्चिमोत्तरी प्रदेश की ही हैं। इन में से नागर का सम्बन्ध गुजरात से है, ब्राचड का सिंध से और उपनागर का इन दोनों के मध्यवर्त्ती प्रदेश से। वस्तुत: प्राचीन काल में पश्चिमी अपभ्रंश का ही अत्यधिक महत्त्व था। प्राकृतकाल की महत्त्वपूर्ण भाषा शौरसेनी प्राकृत से ही इसका विकास हुआ था। यह भाषा साहित्यिक दृष्टि से देश के पश्चिमी भाग से ले कर पूर्वी भाग तक फैली हुई थी। यही कारण है कि प्राचीन वैयाकरणों ने भी अधिकांश में इसी का विवेचन किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि हेमचन्द्र द्वारा वर्णित अपभ्रंश की विशेषतायें वस्तुत: पश्चिमी (नागर) अपभ्रंश की ही विशेषतायें है। इन के अतिरिक्त पाञ्चाल, वैदर्भी, लाटी, ओड्री, कैकेयी, गौड़ी, ढक्की आदि अपभ्रंश भाषाओं का वर्णन भी मिलता है परन्तु इनका इतना अधिक महत्त्व नहीं था।

आधुनिक युग में डा० जकोब्री (Jacobi) ने अपभ्रंश पर विचार करते हुये उस के चार रूप माने हैं: उत्तरी, पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिणी।[1] दूसरी ओर डा. टगारे ने अपभ्रंश के तीन वर्ग बताये है[2]—पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी। डा. टगारे ने पूर्वी के अन्तर्गत कण्ह तथा सरह के दोहाकोश तथा चर्यापदों की भाषा को रखा है। दक्षिणी के अन्तर्गत बराबर में लिखी हुई अपभ्रंश की रचनाओं को माना है परन्तु भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से तथाकथित पूर्वी और दक्षिणी अपभ्रंश की रचनाओं की भाषा भी पश्चिमी अपभ्रंश है। वस्तुत: साहित्यिक रूप में इसी की मान्यता रही है इस लिये एक ओर जहां पश्चिमी प्रदेश के मुलतान के निवासी अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) के सन्देशरासक की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश है वहां दूसरी ओर मिथिला प्रदेश के विद्यापति की अवहट्ठ तक

---

१. दे. सनत्कुमार चरित की भूमिका।

२. Historical Grammar of Apabhramsha.

पश्चिमी अपभ्रंश से ही प्रभावित है। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी के भी यही विचार हैं। उन्होंने पश्चिमी अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा के रूप में महाराष्ट्र से बंगाल तक प्रचलित माना है और ब्रजभाषा एवं हिन्दुस्तानी की पूर्वज कहा है।[1]

अपभ्रंश की विशेषतायें

ध्वनियों की दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्राय: प्राकृत की सभी स्वर और व्यंजन ध्वनियां अपभ्रंश में भी विद्यमान हैं। प्राकृतकाल में जिस ह्रस्व एँ और ओँ का विकास हुआ था वह अपभ्रंश में भी विद्यमान है। प्राकृत के ही समान यह ह्रस्वीकरण प्राय: संयुक्त व्यंजन के पूर्व ही होता है। जैसे—सं. प्रेक्ष>अप० पेँक्ख; सं. यौवन>अप. जोँव्वण।

पीछे कहा जा चुका है कि प्राकृत में ऋ, ॠ, ऌ का लोप हो गया था। ऋ के स्थान पर अ, इ और उ हो जाते हैं। यही स्थिति अपभ्रंश की भी है परन्तु प्राचीन वैयाकरणों ने अपभ्रंश में ऋ ध्वनि का अस्तित्व स्वीकार किया है। इसके लिये हेमचन्द्र ने तृणु और सुकृदु जैसे शब्दों के उदाहरण भी दिये है। वस्तुत: अपभ्रंश काल में संस्कृत का प्रभाव बहुत अधिक पड़ने लग गया था। संस्कृत में यह ध्वनि भले ही अपने मूल उच्चरित रूप में सुरक्षित न रही हो परन्तु लिखने में इस का प्रयोग आज तक मिलता है। सम्भव है जो शब्द अपभ्रंश काल में संस्कृत से उधार लिये हुये हों उन में मूल संस्कृत शब्दों में प्रयुक्त 'ऋ' ध्वनि को उसी रूप में ही ग्रहण कर लिया गया होगा। कहीं कहीं उच्चारण के अनुसार 'ऋ' के स्थान पर 'रि' का प्रयोग भी देखने को मिलता है। स्पष्ट है कि

---

१. दे. भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृ. १९१-२ द्वितीय संस्करण, १९५७

२. सिद्ध हेमचन्द्र ८.४.३२३

उच्चारण की दृष्टि से 'रि' को अपनाया गया परन्तु लिखने मे 'ऋ' का व्यवहार किया जाने लगा।

प्राकृत काल मे य-श्रुति का विकास हो चुका था। इस सम्बन्ध मे पीछे लिखा जा चुका है। यह य-श्रुति अपभ्रंश की बहुत बडी विशेषता है। जहा कही स्पर्श व्यजन ध्वनि के लोप के कारण दो स्वर इकट्ठे आने लगे वही पर प्राय: य-श्रुति आने लगी। परिणाम स्वरूप अपभ्रंश मे य का प्रयोग बढ गया। स. युगल>प्रा. जुअल>अप० जुयल, स. नागदत्त>प्रा णाअदत्त>अप. णायदत्त, इसी प्रकार के उदाहरण हैं। मागधी प्राकृत मे जो सर्वत्र 'ज' के स्थान पर 'य' हो जाता है। उस का कारण भी इस य-श्रुति को माना जाता है। उदाहरण के तौर पर स. 'योजनम्' मे पहले ज् का लोप होता है अर्थात् इसका प्राकृत रूप योअणम् बनता है। बाद मे य-श्रुति के कारण ही इस का 'योयणम्' रूप बनता है। अपभ्रंश मे य-श्रुति के साथ साथ कही कही पर व-श्रुति भी देखने को मिलती है। जैसे—स. रुदन्ति>प्रा. रुअन्ति>अप. रुवन्ति; स. सुभग >प्रा. सुहअ>अप. सुहव।

अपभ्रंश की व्यजन ध्वनिया प्राकृत ध्वनियो के समान है और उन मे परिवर्तन भी अधिकाश मे प्राकृत के समान ही होते है। अपभ्रंश की अपनी भी कुछ विशेषताये है।

यहा इस बात को विशेषतया स्मरण रखना चाहिये कि लिपि की दृष्टि से अपभ्रंश मे संस्कृत और प्राकृत के ही समान वर्णो का प्रयोग किया जाता रहा है। यदि उच्चारण सम्बन्धी कोई कोई परिवर्तन हुये भी तो उनके लिये विशेष वर्ण नही बनाये गये। उदाहरण के तौर पर ह्रस्व एॅ और ओॅ का अपभ्रंश मे होना निश्चित है परन्तु इन के लिये नये वर्ण लिपि मे नही जोडे गये। आधुनिक युग मे बगला भाषा का उदाहरण हमारे सामने है। बगला उच्चारण मे 'अ' ध्वनि हिन्दी 'अ' ध्वनि के उच्चारण से भिन्न है। सम्भावना की जा सकती है कि पूर्ववर्त्ती अपभ्रंश मे भी

उच्चारण की दृष्टि से कुछ भिन्नता आई होगी जिस का विकास बंगला में देखने को मिलता है परन्तु लिपि में न आ सकने के कारण इस सम्बन्ध में हमारे पास ठोस प्रमाण नहीं हैं। हम तो केवल सम्भावना ही कर सकते हैं।

अपभ्रंश में स्वर सम्बन्धी परिवर्तन मुख्य रूप में निम्न हैं —अन्तिम स्वर का या तो लोप हो जाता है या वह ह्रस्व हो जाता है। यह प्रवृत्ति प्राकृत काल में भी देखने को मिलती है। ह्रस्वीकरण के कारण ही अस्मे से अम्हि और तुष्मे से तुम्हि रूप बने। अपभ्रंश में उपधास्वर प्राय: सुरक्षित रहता है। कहीं कहीं मात्रापरिवर्तन अवश्य देखने को मिलता है। इसी प्रकार आदि अक्षर भी प्राय: सुरक्षित रहता है।

व्यञ्जन सम्बन्धी परिवर्तनों में भी प्राय: आदि-व्यञ्जन सुरक्षित रहता है। मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यञ्जन प्राय: लुप्त होजाते हैं और महाप्राण व्यञ्जनों के स्थान पर प्राय: ह् ध्वनि अवशिष्ट रह जाती है। जैसे सं. राजन्> अप. राअ, सं: पाद>अप. पाअ, सं. शोभा> अप. सोह आदि। दो स्वरों के मध्य में आने वाले क्, त्, प् के स्थान पर ग्, द्, ब्, और ख्, थ्, फ् के स्थान पर घ्, ध् भ्, भी कहीं कहीं पर हो जाते हैं अर्थात् अघोष ध्वनियों का सघोषीकरण हो जाता है। सं. मदकल> अप. मयगल, सं. सापराध> अप. साबराह, विक्षोभकर> विच्छोहगरु, आगत:> आगदो इत्यादि।

अपभ्रंश में 'म' ध्वनि प्राय: सुरक्षित रहती है किन्तु कहीं कहीं पर दो स्वरों के मध्य में आने वाली 'म' ध्वनि 'व' में परिणत हो जाती है। जैसे सं. ग्राम> अप. गावँ, सं. कमल> अप. कवँल। इनके वैकल्पिक रूप गाम और कमल भी अपभ्रंश में मिलते हैं।

अपभ्रंश की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि ण्ह्, म्ह् और ल्ह् के अतिरिक्त संयुक्त व्यञ्जन आदि में नहीं आ सकते। कई शब्दों में

---

१. अनादौ स्वर संयुक्तानां कखतथपफां गघदधबभा:

—सिद्ध हेमचन्द्र ८।४।३९६

रेफ के आगम से इसके साथ बनी संयुक्त ध्वनि अपभ्रंश में शब्द के आदि में देखने को मिलती है। सं. पश्यति > अप. प्रस्सदि; सं. दृष्टि > अप. द्रेट्ठि आदि।

रूप-रचना

भारतीय आर्यभाषा के विकास की दृष्टि से अपभ्रंश की रूप रचना विशेष महत्त्वपूर्ण है। अपभ्रंश की कुछ अपनी विशेषतायें हैं जिसके कारण एक ओर से तो वह प्राकृत से अपना सम्बन्ध विच्छेद करती दिखाई देती है तो दूसरी ओर से बाद में आने वाली आधुनिक आर्यभाषाओं से भी अपना पृथक् अस्तित्व रखे हुए है परन्तु इसकी रूप-रचना में अनन्तरवर्त्ती रूप-विकास के बीज अवश्य विद्यमान हैं। अपभ्रंश में सरलीकरण की प्रवृत्ति तो है ही साथ ही कुछ नवीन विशेषताओं का भी विकास हुआ है।

शब्द-रूप

शब्द-रूपों की दृष्टि से यह बात स्मरणीय है कि पालि में ही स्वरान्त और व्यञ्जनान्त संज्ञा-शब्द का भेद लुप्त होने लगा था। अन्तिम व्यञ्जन को लुप्त करने की अथवा 'अ' स्वर जोड़ देने की प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी है इसलिये सभी शब्द स्वरान्त हैं। जैसे सं. आत्मन् > अप० अप्पण; सं. मनस् > अप० मण। कहीं कहीं पर व्यञ्जनान्त रूप भी अवशिष्ट रह गये हैं जैसे सं. राजान: > अप० रायाणो। अधिकांश में अन्तिम स्वर ध्वनियां छ: हैं—अ, आ, इ, ई उ और ऊ। इन में से भी अपभ्रंश में अन्तिम दीर्घ स्वर को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। परिणाम स्वरूप दीर्घ और ह्रस्व स्वरों के रूप-विभेद की मात्रा भी अपभ्रंश में बहुत कम है। जैसे सं. पूजा > अप० पुज्ज; सं. किकरी>अप० किंकरि। ह्रस्वान्त शब्दों में भी प्रधानता अकारान्त शब्दों की रही इसलिये प्राय: अकारान्त शब्दों के रूप ही प्रचलित रहे।

अपभ्रंश में लिङ्ग तीन हैं परन्तु संस्कृत में जैसी रूप-विभिन्नता दिखाई

देती है वैसी अपभ्रंश में नहीं है। प्राय: ह्रस्वान्त शब्द त्रिलिङ्गी होते हैं और केवल दीर्घान्त शब्द स्त्रीलिङ्गी। शब्दों के अधिकांश रूपों के लुप्त होजाने के कारण विभिन्न लिंगों के रूपों में कोई विशेष विभिन्नता नहीं रह गई थी। प्राचीन व्याकरणकार अपभ्रंश में लिंग विधान को अतन्त्र अथवा अनियमित मानते हैं। जैसे सं. कुम्भान् > अप० कुम्भइँ, संस्कृत में कुम्भ पुल्लिग है। सं. रेखा > अप० रहइँ। रेखा शब्द स्त्री-लिंग है। सं. *अस्मे > अप० अम्हइँ। अस्मे का प्रयोग दोनों लिंगों (अर्थात् पुल्लिग और स्त्रीलिंग) में होता है। ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत में तो लिंग सम्बन्धी रूप विभिन्नता है परन्तु अपभ्रंश में नहीं। अपभ्रंश में नपुंसकलिंग के रूप लुप्त होगये। स्त्रीलिंग के रूप बहुत कम बाकी रहे। अधिकांश में पुल्लिग रूपों की प्रधानता रही।

प्राकृतों के समान ही अपभ्रंश में भी द्विवचन नहीं था। द्विवचन के भाव को प्रकट करने के लिये सं. द्वि > अप० दुइ, बे का प्रयोग किया जाता था।

पीछे कहा जा चुका है कि अनेक संस्कृत विभक्तियां पालि तथा प्राकृतों में लुप्त होने लग गई थीं। यह क्रम अपभ्रंश में भी जारी रहा। चतुर्थी तथा षष्ठी का भेद तो पहले ही लुप्त हो चुका था अपभ्रंश में पंचमी तथा षष्ठी में भी अभिन्नता आने लगी। कभी कभी द्वितीया और चतुर्थी में भी भिन्नता नहीं रखी जाती। प्रथमा और द्वितीया का भेद भी नष्ट सा होने लगा। शब्दों के अनेक वैकल्पिक रूप जैसे पुत्त, पुत्तउ, पुत्तु भी मिलते हैं। शून्य विभक्ति वाले रूप भी चल पड़े। कुछेक प्राकृत-वभक्ति चिह्नों के अतिरिक्त अपभ्रंश के विभक्ति-रूप मुख्य रूप में निम्न-लिखित माने जाते हैं।

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	उ, शून्य	शून्य, दीर्घ रूप (आ ई, ऊ)
द्वितीया	उ, शून्य	शून्य, दीर्घ रूप

तृतीया, सप्तमी	इ, इं, ए	हि, हिं
पंचमी, चतुर्थी, षष्ठी	हु, हो	ह, हे
संबोधन	शून्य रूप, दीर्घ	हो, हु

विभक्तियों के लुप्त हो जाने के कारण इन से व्यक्त होने वाले अर्थ में अस्पष्टता आजाना स्वाभाविक ही है। इसी कारण अपभ्रंश में कारक-चिह्नों या परसर्गों का प्रयोग किया जाने लग गया। विभक्तियाँ शब्द के साथ जुड़ने वाले सम्बद्ध प्रत्यय हैं परन्तु ये परसर्ग स्वतन्त्र रूप थे। अपभ्रंश में प्रयुक्त होने वाले महत्त्वपूर्ण परसर्ग निम्नलिखित हैं—

कारक	**परसर्ग**
करण	सहुँ (<सं. सह, सम), तण, तणउं, तणा
संप्रदान	रेसि, केहिं
अपादान	होन्तउ, होन्त (<सं. भू (हू)
सम्बन्ध	केरअ, केर, केरा (<सं. कृ)
अधिकरण	थिउ (<सं. स्थित) मज्झि, मज्झे (<सं. मध्य)

संज्ञा शब्दों की अपेक्षा सर्वनाम-शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है। यही कारण है कि सर्वनामों की विभक्तियां अधिक घिस गईं और संज्ञा शब्दों की अपेक्षा सर्वनामों के साथ परसर्गों का प्रयोग अधिक होने लगा।

क्रिया रूप

क्रिया रूपों के भी सरलीकरण का प्रवृत्ति पालि और प्राकृतों में ही प्रारम्भ हो गई थी। अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति और बढ़ गई। अपभ्रंश में आत्मनेपद का तो सर्वथा लोप होगया। संस्कृत के प्रभाव के कारण ही कहीं कहीं आत्मनेपदी रूप मिलते हैं। गणों की दृष्टि से क्रियाओं का विभाजन भी सर्वथा समाप्त हो गया। प्राय. सभी क्रियाओं में भ्वादिगण

की तरह ही रूपों को अपनाया जाने लगा। संस्कृत की व्यञ्जनान्त क्रियायें भी स्वरान्त हो गईं क्योंकि अपभ्रंश में स्वादिगण के -अ- विकरण को सभी क्रियाओं के साथ जोड़ कर ही उनका मूल रूप माना गया इसी कारण संस्कृत की चल् क्रिया अपभ्रंश में चल्+अ=चल है। वैदिक संस्कृत में उपसर्ग स्वतन्त्र थे, लौकिक संस्कृत में क्रिया के साथ उनका प्रयोग होने लगा। ऐसा होते हुए भी उनकी सत्ता बिल्कुल स्पष्ट होती थी परन्तु अपभ्रंश में अनेक क्रियाओं के साथ घुलमिल कर ये उनमें इतने अन्तर्भुक्त हो गये कि इनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त सा हो गया। जैसे सं. उप+विष्ट>अप. बइसइ, विठ्ठइ।

अपभ्रंश में अनेक लकार लुप्त होगये। तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का प्रयोग बढ़ने लगा। ये कृदन्त रूप अधिकांश में भूतकाल में प्रयुक्त होते थे। वर्तमान काल और भविष्यत्काल के रूपों में तिङन्त रूप भी चलते रहे। अनेक क्रिया रूप तो प्राकृतकाल से ही विकसित होते हुए अपभ्रंश में आये हैं लेकिन कितने ही अन्य रूप अपभ्रंश में स्वतन्त्र रूप में भी विकसित हुए हैं।

सामान्य तौर पर अपभ्रंश के तिङन्त रूप इस प्रकार हैं।

वर्तमान	**एक वचन**	**बहुवचन**
प्रथमपुरुष	-इ, एइ	-हिं, -न्ति
मध्यमपुरुष	-हि, -सि	-हु, -ह
उत्तमपुरुष	-उँ -इमि	-हुं, -इमु

आज्ञा	**एकवचन**	**बहुवचन**
प्रथमपुरुष	उ	न्तु, हुँ
मध्यमपुरुष	शून्य, इ, उ, ह, हि	ह, हुँ, हो

आज्ञा के उत्तम पुरुष के रूप नहीं मिलते। विधि भाव को व्यक्त करने के लिये आज्ञा भाव से तिङन्त रूपों से पूर्व ज्ज- का प्रयोग किया जाता है। जैसे- प्रथम पुरुष एकवचन करिज्जउ, बहुवचन करिज्जंतु, करिज्जहुँ।

भविष्य काल के लिये भी अपभ्रंश में स्वतन्त्र तिङन्त रूप नहीं है। वर्तमान के ही तिङन्त रूपों से पूर्व- स- या -ह- प्रत्यय का प्रयोग करके भविष्य अर्थ का बोध कराया जाता है। जैसे- प्रथमपुरुष एकवचन— करेसइ, करेहइ आदि। -स- (सं. स्य, ष्य) का प्रयोग तो प्राकृत में ही होता था। -ह- इसी का विकसित रूप है और अपभ्रंश की मुख्य विशेषता यही है।

क्रिया के तिङन्त रूपों में किसी प्रकार का लिङ्ग भेद नहीं होता। परन्तु कृदन्त रूपों का व्यवहार विशेषण के समान होता है इस लिये संज्ञा के लिङ्ग का इन पर प्रभाव पड़ता है और उनमें लिङ्ग भेद विद्यमान है। वर्तमान काल के कृदन्तों में -अंत, -माण, -अंती प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। -अंती स्त्रीलिंग है। संस्कृत के शतृ तथा शानच् प्रत्ययों के ये विकसित रूप हैं। भूतकाल के कृदन्तों में -इअ, -इउ, -इय, -इयौ, -इअअ -इऔ प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। ये सब संस्कृत के भूतकाल के कृदन्त प्रत्ययों क्त और क्तवतु के ही विकसित रूप हैं। भविष्य और विधि के लिये -इएव्वउं, -एव्वउं, -एवा, -एव्व प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। इनका विकास विशेषतया संस्कृत के कृत्य प्रत्यय तव्यत् से हुआ है। पूर्वकालिक क्रिया के लिये -इ -इउ, -इवि, -अवि, -एप्पि, -एप्पिणु -एवि, -एविणु प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत में इन के लिये क्त्वा और ल्यप् प्रत्यय हैं। प्रेरणार्थक रूप -अव- या -आव- विकरण है। कभी कभी मूल धातु के स्वर की मात्रा को बढ़ा कर भी उस का प्रेरणार्थक रूप बना लिया जाता है। जैसे—सं. मृ >अप. मर, प्रे. मारइ।

वाक्य रचना

जैसे जैसे विभक्ति रूप लुप्त होते गये वैसे वैसे संस्कृत की अनिश्चित वाक्य रचना के स्वरूप को स्थिर रखना भी कठिन हो गया। परिणाम-स्वरूप अपभ्रंश में वाक्य-रचना का स्वरूप कुछ कुछ निश्चित हाने लग

गया परन्तु वाक्य-रचना का यह निश्चित स्वरूप आधुनिक आर्यभाषाओं में ही पूर्णतया स्थिर हो गया।

प्राचीन विद्वानों द्वारा शब्दों के तीन भेद माने गये हैं—तत्सम, तद्भव और देशज। अपभ्रंश में तत्सम शब्दों का व्यवहार बहुत कम मिलता है, प्रधानता तद्भव और देशज शब्दों की है। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में प्रयुक्त होने वाले देशी शब्दों की एक सूची देशीनाममाला में दी है परन्तु इन में से अनेक देशी शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत के आधार पर मानी जा सकती है इस लिये उन शब्दों को तद्भव मानना ही ठीक है। अपभ्रंश में विदेशी अर्थात् अरबी, फ़ारसी, तुर्की आदि भाषाओं के शब्द प्राय: नहीं हैं।

पुरानी हिंदी

अनेक विद्वान् अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कह दिया करते हैं। विशेषतया हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वान् अपभ्रंश को पुरानी हिंदी मान कर ही उसके सम्बन्ध में विचार किया करते हैं। मिश्रबन्धु, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं. रामचन्द्र शुक्ल तथा राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी माना है। गुलेरी जी का विचार है—"कविता की भाषा प्राय: सब जगह एक-सी ही थी। जैसे नानक से ले कर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता की भाषा ब्रजभाषा कहलाती है, वैसे ही अपभ्रंश को भी पुरानी हिंदी कहना अनुचित नहीं चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उस में कुछ रचना प्रादेशिक हो।"

इस प्रकार के विचार साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों के ही हैं—भाषा के समुचित विकास की ओर ध्यान देने वाले लोग इस प्रकार के भ्रामक विचारों को प्रश्रय नहीं दे सकते। इस में कोई सन्देह नहीं कि अति-प्राचीन काल में जो स्थान मध्यदेश की संस्कृत को प्राप्त था, वही मध्य-

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग २

काल में पालि और शौरसेनी को प्राप्त हुआ। शौरसेनी से विकसित पश्चिमी अपभ्रंश ही साहित्यिक दृष्टि से भारत के विस्तृत भूभाग में फैली हुई थी। हिन्दी ने ही पश्चिमी अपभ्रंश का स्थान ग्रहण किया परन्तु जिस प्रकार हम पालि और शौरसेनी को मध्यदेशीय संस्कृत नहीं कह सकते अथवा अपभ्रंश को पालि और शौरसेनी नहीं कह सकते उसी प्रकार पुरानी हिन्दी को अपभ्रंश भी नहीं कह सकते। पुरानी हिन्दी अपभ्रंश का विकसित रूप अवश्य मानी जासकती है।

वस्तुतः अपभ्रंश शब्द बहुत अधिक व्यापक है। पुरानी हिन्दी का अर्थ पश्चिमी अपभ्रंश से विकसित एक भाषा मात्र है परन्तु अपभ्रंश उस भाषा का नाम है जो सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास का संक्रान्तिकालीन रूप है। एक प्रकार से अपभ्रंश पर सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का समान रूप से अधिकार है। साहित्यिक दृष्टि से भले ही पुरानी हिन्दी को अपभ्रंश से बहुत कुछ प्राप्त हुआ है परन्तु भाषा के विकास की दृष्टि से अपभ्रंश का एकाधिकार उसे प्राप्त नहीं होसकता ; इसी प्रकार यदि बंगाल के विद्वान् अपभ्रंश को पुरानी बंगला कहने लगें या गुजरात के विद्वान् उसे जूनी (पुरानी) गुजराती कहने लगें तो ठीक नहीं होगा। ये सब भाषायें समान रूप से अपने अपने विकास का दावा अपभ्रंश से अवश्य कर सकती हैं। इस विषय में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भाषाओं का विकास बोल चाल की भाषा से होता है; साहित्यिक भाषा से नहीं। साहित्यिक अपभ्रंश के आधार पर किसी प्रकार के भ्रम में पड़ना उचित नहीं।

अध्याय ८

आधुनिक भारतीय आर्य भाषा

भाषा में स्वाभाविक प्रवाह होता है; एक विशिष्ट गति होती है। जब कभी उसके इस प्रवाह या गति को रोकने का प्रयत्न किया जाता है तभी वह बन्धनों को तोड़ कर अपने नये स्वाभाविक प्रवाह से बहने लगती है। संस्कृतसाहित्य और व्याकरण के बन्धन मे बंध गई परन्तु स्वाभाविक जनभाषा का विकास न रुक सका। प्राकृतों को भी साहित्य और व्याकरण की सीमाओं के लपेट में लेलिया गया परन्तु लोक-प्रचलित भाषा की गति अवरुद्ध न हो सकी। अपभ्रंश ने भी साहित्यिक रूप धारण कर लिया और हेमचन्द्र आदि विद्वानों द्वारा उसको भी व्याकरणबद्ध कर दिया गया परन्तु जनभाषा फिर भी बन्धनमुक्त रही और साहित्य व्याकरण की चार-दीवारी से दूर रह कर उन्मुक्त वातावरण में पनपने और बढ़ने लगा। इसी से आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का विकास हुआ, जिसका प्रारम्भ १००० ई० से माना जाता है। इस समय अनेक भाषाओं का विकासहुआ इसलिये इन्हें आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। इनको नव्य भारतीय आर्य भाषायें भी कहा जाता है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का प्रारम्भिक काल अनेक युगपरिवर्तन-कारी महत्त्व-पूर्ण धटनाओं से भरा हुआ है। भारतीय संस्कृति के लिये यह नया मोड़ था। भारतवर्ष पर इससे पूर्व भी अनेक बार विदेशी आक्रमण हो चुके थे परन्तु उनसे भारतीय संस्कृति को विशेष खतरा नहीं था क्योंकि विदेशी संस्कृतियों ने भारतीय संस्कृति के सामने अपने हथियार डाल दिये थे। भारतीय संस्कृति इतनी उदार और विशाल रही है कि उसमें सभी के लिये स्थान था। इसी कारण विदेशी संस्कृतियां

भारतीय संस्कृति के अन्तस्तल में विलीन होती गईं। भारतीय संस्कृति में आत्मचिन्तन और वैयक्तिक साधना का अत्यधिक महत्त्व था। यही कारण था कि भारतवर्ष में उच्चकोटि के दार्शनिक और साधनापरक वाङ्मय की सृष्टि हुई। भारतवर्ष में ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास जो विदेशी आक्रमण हुए उनके कारण भारतीय संस्कृति का सामना एक नयी संस्कृति से हुआ जो उसके उदार और विशाल गुणों के अनुकूल नहीं थी। यह संस्कृति थी—इस्लाम की कट्टर और अनुदार संस्कृति। भारतीय संस्कृति चिन्तन प्रधान थी तो इस्लाम संस्कृति में प्रायः चिन्तन का अभाव रहा है। इसी के अन्तर्गत सूफ़ी संस्कृति में अवश्य चिन्तन को महत्त्व दिया गया है इसलिये वह भारतीय संस्कृति के प्रायः अनुकूल थी। भारतीय संस्कृति में आत्मसाधना या व्यक्तिगत चरित्र का महत्त्व था तो इस्लामी संस्कृति में सामूहिक या समष्टिगत साधना की महत्ता। इस प्रकार एक का मुंह पूर्व की ओर था तो दूसरी का पश्चिम की ओर। इस्लाम के कट्टर धर्मानुयायियों ने संस्कृतियों के सह-अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की थी, इसलिये भारतवर्ष पर विजय प्राप्त करके वे अपनी संस्कृति और धर्म का प्रसार करने लगे तथा भारतीय धर्म और संस्कृति को सर्वथा नष्ट करने की ओर प्रवृत्त होने लगे।

भाषा की दृष्टि से इस परिवर्तन को विशेषतया स्मरण रखने की आवश्यकता है क्योंकि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में इसका विशेष महत्त्व है। इस में कोई सन्देह नहीं कि यदि विदेशी आक्रमण न हुए होते तो भी आधुनिक आर्य भाषाओं का विकास होता परन्तु यह विकास सर्वथा भिन्न रूप से ही होता। एक बात और भी है कि इन विदेशी आक्रमणों के कारण आधुनिक आर्य भाषायें कमसे कम दो तीन सौ साल पहले विकसित हो गईं।

भारतवर्ष में प्राचीनता का मोह अधिक रहा है। यद्यपि जन-भाषायें विकसित होकर अपभ्रंश की स्थिति तक पहुंच गई थीं तथापि संस्कृत के प्रति लोगों का मोह बना हुआ था। जनभाषाओं का स्तर निम्न था और

उच्च कोटि के लोगों के लिये संस्कृति और सामान्य व्यवहार का माध्यम भी संस्कृत बनी हुई थी। यही कारण है कि उच्च कोटि के दार्शनिक और अन्य प्रकार के साहित्य के लिये संस्कृत को ही अपनाया जाता था। मुस्लिम इतिहासकार अल्-बेरुनी ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है। अल्-बेरुनी का समय लगभग १०२५ ई० माना जाता है इसलिये उसकी लिखी हुई बात उस समय के लिये ठीक मानी जासकती है। अल्बेरुनी ने अपने वर्णन में जन-भाषा को अधिकांश में उपेक्षित बताया है। यह भी बात विशेषतया स्मरणीय है कि उसे इन दोनों भाषाओं में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। स्पष्ट है कि उस समय तक लोग साहित्यिक संस्कृत और जन-साधारण में प्रचलित भाषा को एक ही मानते थे। साहित्यिक संस्कृत विद्वद्वर्ग की भाषा थी और दूसरी जनसाधारण की भाषा। इस बात के उल्लेख तो बाद में भी मिलते हैं कि जो लोग संस्कृत को छोड़ कर देशी भाषाओं में साहित्य रचना करते या महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखते थे उनका विशेष आदर नहीं किया जाता था।

विदेशी आक्रमण से स्थिति में परिवर्तन आने लगा। भारतीय धर्म, समाज और संस्कृति की रक्षा करने के लिये विद्वानों का ध्यान सामान्य जनता की ओर जाने लगा। भाषा के कारण विद्वद्वर्ग और सामान्य जनता में जो गहरी खाई थी उसे दूर करने की आवश्यकता थी। सामान्य जनता में संस्कृत के माध्यम से प्रचार नहीं किया जा सकता था इसलिये जन-भाषा को ही माध्यम बनाया गया। मुख्य उद्देश्य यही था कि जनता को इस्लाम की नई विभीषिका से सुरक्षित किया जाय। उनके सामने भारतीय संस्कृति और सभ्यता का ऐसा उच्च आदर्श रखा जाय जिसके सामने उन्हें ससार का बड़े से बड़ा वैभव भी फीका पड़ता हुआ दिखाई दे। यही कारण है कि प्रारम्भिक काल में अधिकांश साहित्य आध्यात्मिक या धार्मिक चला। यद्यपि ऐसा करने के लिये जन-भाषाओं को अपनाया गया तथापि संस्कृत के विद्वानों द्वारा अपनाये जाने के कारण संस्कृत शब्दावली का प्रभाव विशेष रूप में पड़ा। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह भी है

कि सारा आध्यात्मिक चिन्तन जिस पर भारत को गर्व है, मूल रूप में संस्कृत में था। जनता के सामने उसे प्रस्तुत करते समय संस्कृत शब्दावली का आजाना स्वाभाविक ही था। अपभ्रंश की अपेक्षा आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में संस्कृत शब्दावली के अधिकाधिक प्रयोग का मूल कारण यही है।

किसी भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के प्रारम्भिक इतिहास को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मराठी में ज्ञानेश्वरी एवं एकनाथी रामायण, बंगला में चंडीदास का श्रीकृष्णकीर्तन एवं कृत्तिवास की रामायण, मैथिली में विद्यापति की पदावली आदि रचनायें इसी का प्रमाण हैं।

यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि अपभ्रंश काल यद्यपि १००० ई० तक माना जाता है तथापि उसके बाद अपभ्रंश का अस्तित्व समाप्त नहीं हो गया था। वस्तुत: साहित्यिक दृष्टि से अपभ्रंश की रचनायें पन्द्रहवीं शती तक की मिल जाती हैं। यही कारण है कि अपभ्रंश को संक्रान्ति-कालीन भाषा कहा जाता है। एक ओर से यह प्राकृत की परम्पराओं से सम्बद्ध है तो दूसरी ओर यह आधुनिक आर्य भाषाओं के साथ घनिष्ठ रूप में जुड़ी हुई है। प्राकृतों ने जब साहित्यिक रूप धारण कर लिया था तो अपभ्रंश लोकभाषा के रूप में विद्यमान थी और जब आधुनिक आर्य-भाषायें विकसित होने लगीं तो अपभ्रंश ने साहित्यिक रूप धारण किया हुआ था। इस दृष्टि से संनेहय-रासय (संदेशक रासक), प्राकृत पैङ्गलम्, पुरातन- प्रबन्ध संग्रह, उक्तिव्यक्ति प्रकरणम्, वर्ण-रत्नाकर, कीर्ति-लता, चर्यापद आदि ग्रन्थ सङ्क्रान्तिकालीन अपभ्रंश की रचनायें मानी जाती हैं। इनमें से संनेहय-रासय कवि अद्दहमाण की लिखी एक सुन्दर काव्य रचना है। इसमें विरहिणी नायिका द्वारा अपने पति को संदेश भेजने का वर्णन है। इसकी भाषा में पश्चिमी हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि का प्रारम्भिक रूप भी देखने को मिल जाता है। प्राकृत पैङ्गलम् में छन्दों का शास्त्रीय विवेचन है। अधिकांश इसकी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में पुरानी अनुश्रुतियां सकलित हैं। इसकी भाषा में

भी संक्रान्तिकालीन अपभ्रंश याँ ब्रज, राजस्थानी आदि का प्रारम्भिक स्वरूप देखने को मिलता है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण के लेखक दामोदर थे। ये काशी कन्नौज के राजा गोविन्द चन्द्र (१११४-११५५ ई०) के यहां रहते थे और राजकुमारों को शिक्षा देने के लिये ही इस ग्रन्थ की रचना की गई थी। उक्ति का अर्थ लोक भाषा है और व्यक्ति का अर्थ विवेचन है। दामोदर ने स्वयं इस भाषा को अपभ्रंश या अपभ्रष्ट बताया है परन्तु इसमें कोसली (पूर्वी हिन्दी, अवधी) का प्रारम्भिक स्वरूप देखने को मिलता है। वर्ण-रत्नाकर में कवि समयों का संकलन किया गया है। इसका रचना काल चौदहवीं शती माना जाता है। इसमें विशेषतया मैथिली का प्राचीन रूप दिखाई देता है। बंगला, मगही, भोजपुरी, अवधी आदि अन्य पूर्वी भाषाओं के प्राचीन रूप भी इस ग्रन्थ की भाषा में देखे जा सकते है। कीर्तिलता, मैथिल-कोकिल विद्यापति की रचना है। इस ग्रन्थ की भाषा को विद्यापति ने अवहट्ठ कहा है जो अपभ्रंश या अपभ्रष्ट का ही दूसरा नाम है। साहित्यिक अपभ्रंशों मे लोक भाषा के सम्मिश्रित रूप को ही सम्भवत: अवहट्ठ कह दिया गया है। इसमें भी उस समय की पूर्वी भाषा के स्वरूप का परिचय मिलता है। चर्यापद में सहजिया संम्प्रदाय के सिद्धों की रचनाएं है। इसकी भाषा बारहवीं या चौदहवी शताब्दी की मानी जाती है। इसके कुल ४७ पदों मे बंगला का प्राचीन रूप देखने को मिलता है।

सामान्य तौर पर इन रचनाओं को देखने से यह मानना पड़ता है कि एक ओर तो ये रचनायें अपभ्रंश की हैं तो दूसरी ओर आधुनिक आर्य-भाषाओं के रूप में उसके विकास के प्रारम्भिक स्वरूप की रचनायें भी हैं। परिवर्तन की यह गति १००० ई० से प्रारम्भ होकर पन्द्रहवीं शती तक चलती रही। यहीं से आधुनिक आर्य भाषाओं का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट होने लगा और वे अपभ्रंश से अपना सम्बन्ध सर्वथा छोड़कर अपने स्वतंत्र रूप में दिखाई देने लगीं।

आधुनिक आर्य भाषा की सामान्य विशेषतायें

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के समय में ही जो सरलीकरण की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई थी उसके कारण अनेक रूपों का नाश हो गया था। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश तक पहुंचकर अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई इसलिये आधुनिक आर्य भाषाओं को विरासत में संस्कृत का बहुत कुछ क्षीण रूप ही मिला। इस समय इन भाषाओं को शक्ति की आवश्यकता थी इसलिये एक नया दौर चला जिसके कारण अनेक नई बातों को ग्रहण किया जाने लगा। अब अधिकांश में प्रवृत्ति सार-ग्रहण और शक्ति बढ़ाने की ही थी। इस के लिये अधिकांश में संस्कृत का ही सहारा लिया गया। यह बात देश की परम्पराओं तथा उस समय के वातावरण के सर्वथा अनुकूल थी। आधुनिक आर्य भाषाओं की सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करने की शक्ति केवल संस्कृत में ही थी।

ध्वनियां

आधुनिक आर्य भाषा की सामान्य ध्वनियों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। स्वर-ध्वनियों की दृष्टि से 'ऋ' ध्वनि का अस्तित्व अपभ्रंश में ही दिखाई देने लग गया था—इस का विशेष कारण संस्कृत का ही प्रभाव था। इसी प्रभाव के कारण आधुनिक आर्य भाषा में 'ऋ' ध्वनि ने अपना स्थान तो बना लिया परन्तु इसका उच्चारण 'रि' या 'रु' ही रहा। इसी प्रकार संस्कृत के प्रभाव के कारण 'ऐ' और 'औ' ध्वनियां भी फिर से आ गई। इन ध्वनियों के उच्चारण में कहीं कहीं नवीनता भी परि-लक्षित होती है। बंगला में 'अ' के उच्चारण की अपनी निजी विशेषता है। यह ध्वनि जिह्वा के पश्च भाग के निम्न-मध्य रूप में उठने से बंगला मे उच्चरित होती है। राजस्थानी में 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण थोड़ा भिन्न है। सामान्य तौर पर ये ध्वनियाँ संयुक्त हैं और इन का उच्चारण 'अइ' और 'अउ' या 'अए' और 'अओ' है।

व्यंजन ध्वनियों में भी संस्कृत के प्रभाव के कारण मूर्धन्य 'ष' का समावेश हो गया। उच्चारण की दृष्टि से कवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग ध्वनियां तो पहले की तरह स्पर्श ध्वनियां हैं परन्तु चवर्ग ध्वनियां स्पर्श-संघर्षी हो गई हैं। मराठी आदि में तो च् और ज् का उच्चारण त्स् और द्ज़् हो गया है। अरबी, फ़ारसी के प्रभाव के कारण भी ख़, ग़, ज़, फ़ आदि ध्वनियां आधुनिक आर्य भाषाओं में आ गई हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के काल में भी किसी प्रकार लिपि में भेद नहीं आने पाया। प्राय: प्राचीन वर्ण ही उन लिपियों में हैं जिन में आधुनिक आर्य भाषायें लिखी जाती हैं। यदि प्रारम्भिक काल में किसी प्रकार का उच्चारण भेद विद्यमान भी रहा हो तो भी उसको जानने का कोई साधन या प्रमाण हमारे पास नहीं है इस लिये ध्वनियों के सम्बन्ध में जितनी सामग्री इस समय उपलब्ध है उसी से सन्तोष करना पड़ता है।

आधुनिक युग के उच्चारण में विभिन्न भारतीय आर्य भाषाओं में उच्चारण सम्बन्धी कुछ भेद विद्यमान हैं। सिन्धी आदि कुछ भाषाओं में कुछेक ध्वनियों का आश्वसित (Implosive) उच्चारण होता है। किसी किसी भाषा में स्वरयन्त्रस्थानीय स्पर्श (Glottal Stop)भी जिसे ? इस चिह्न से लिखा जाता है, विद्यमान है। पंजाबी में शब्द के आदि में आने वाली सघोष महाप्राण ध्वनियों की अपनी ही एक विशेषता है। ये ध्वनियां विशेष प्रकार के स्वर विन्यास के साथ उच्चरित होती हैं और इनका उच्चारण अघोष हो जाता है। मध्य में उनके स्वर-विन्यास में और परिवर्तन हो जाता है। इस स्वर-विन्यास को अलग अलग चिह्नों द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। जैसे सं. बुभुक्षा>हिन्दी, भूख, पंजाबी 'पुण्क्ख'; सं. ध्यान>पंजाबी तिण्आन आदि।

ध्वनि परिवर्तन

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में अनेक प्रकार के ध्वनि परिवर्तन

हुये है। प्रत्येक भाषा के विकास का अपना ही स्वरूप है। कुछ सामान्य विशेषताओं का नीचे उल्लेख किया जाता है।

सब से बड़ी विशेषता यह है कि प्राकृतकाल में जो समरूप संयुक्त व्यंजन ध्वनियां (अर्थात् दीर्घ व्यंजन ध्वनियां जैसे क्क्, क्ख्, ग्ग आदि) थीं उनके स्थान पर केवल एकही ध्वनि आधुनिक भारतीय आर्य भाषा मे रह जाती है। पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि व्यजन की दीर्घता के स्थान पर ह्रस्व दीर्घ हो जाता है। जैसे—सं. पत्र>प्रा. पत्त>ग्रा.भा.ग्रा. पात (पत्ता भी); सं. सप्त>प्रा. सत्त>ग्रा.भा.ग्रा. सात; सं. अष्ट>प्रा. ग्रट्ठ>ग्रा. भा. आग्राठ; सं. त्रीणि>प्रा. तिण्णि>आ. भा. आ, तीन। इस प्रकार के ग्रनेक उदाहरण ग्रनेक भारतीय आर्य भाषाओं में से दिये जा सकते हैं। इस दृष्टि से पंजाबी ग्रौर सिन्धी अपवाद हैं उन में इस प्रकार का परिवर्तन नहीं मिलता। उदाहरण के तौर पर पंजाबी मे सात के स्थान पर सत्त, ग्राठ के स्थान पर ग्रट्ठ और तीन के स्थान पर तिन आदि रूप मिलते हैं। ये भाषायें इस समय भी इस विशेषता के आधार पर प्राकृत के ही ग्रधिक निकट हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के ध्वनि परिवर्तन की दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि यदि अनुनासिक व्यञ्जन के बाद कोई अन्य व्यञ्जन आये तो अनुनासिक व्यञ्जन क्षीण होकर लुप्त हो जाता है परन्तु पूर्ववर्त्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है। जैसे-सं-चन्द्र>प्रा. चन्द>हि. चांद, सं. दन्त> हि. दांत, सं. कण्टक>हिं. कांटा। इस दृष्टि से भी पंजाबी और सिन्धी प्राकृतों के ही अधिक निकट है क्योंकि इन में यह परिवर्तन भी नहीं होता। उपर्युक्त उदाहरणो के क्रमश: पंजाबी रूप इस प्रकार हैं—चन्न, दन्द, कण्डा। इसीप्रकार सं. कंम्प>हिं. काँप, सि० पं. कम्ब, इस उदाहरण में भी यह परिवर्तन नहीं हुआ।

ध्वनि परिवर्तन की तीसरी मुख्य विशेपता यह है कि दो स्वरों के

मध्य में आने वाली ड् और ढ् ध्वनियां अधिकतर ड़ और ढ में परिणत हो जाती है। जैसे सं० दण्ड>प्रा. दण्ड, हिं. दांड़ डांड़।

पद के अन्त में या मध्य में यदि इ या ई के बाद अ हो तो दोनों मिलकर 'ई' हो जाते हैं। जैसे सं. घृत>प्रा. घिअ>आ.भा.आ. घी (पञ्जाबी घिउ)। इस प्रकार यदि उ व ऊ के बाद अ हो तो दोनों मिल कर उ (ऊ) हो जाते है। जैसे सं. वत्सरूप>प्रा. बच्छरूअ>भोजपुरी बछरू (हिन्दी-बछड़ा)

रूप-रचना

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के कितने ही रूप मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा में लुप्त हो गये थे इसलिये रूप-रचना की दृष्टि से आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं को बहुत कम सामग्री प्राप्त हुई। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की रूपरचना सम्बन्धी अनेक विशेषतायें अपभ्रंश में ही प्रकट होने लग गई थीं। उनका समुचित विकास इन भाषाओं मे हुआ। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में जो ध्वनि परिवर्तन हुए उनके कारण भी रूप-रचना में अनेक परिवर्तन हो गये।

शब्द-रूप

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा मे आठ विभक्तियां और तीन वचन होने के कारण प्रत्येक शब्द के चौबीस रूप थे। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में इनकी संख्या बहुत कम रही। यहाँ तक कि केवल पांच छः रूप ही रह गए। आधुनिक भारतीय आर्य भाषा में तो इन की सख्या और भी कम हो गई और साधारण तौर पर केवल दो रूप ही मिलते है—(१) विकारी और (२) अविकारी। विशिष्ट तौर पर कुछेक रूप ही बचे रहे।

अधिकांश आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कर्ता कारक के एकवचन और बहुवचन के रूपों में कोई भेद नही रहा। केवल सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी हिंदी में बहुवचन के भिन्न रूप मिलते है। जैसे-सिन्धी मे एकवचन

पिउ (<पिता) और बहु० पिउर (<पितर:); मराठी में एक० रात् (<रात्रि:) और बहु० राती (<रात्र्य:); पश्चिमी हिंदी में एक० बात् (<वार्त्ता) और बहु० बातइँ, बातें (<*वार्त्तानि)। प्राय: अन्य विभक्ति रूपों में केवल ये रूप ही रहे गये—करण एकवचन और बहुवचन, सम्बन्ध बहुवचन और अधिकरण एकवचन (या सम्प्रदान एकवचन)।

अनेक विभक्तियों के सर्वथा लुप्त हो जाने के कारण अपभ्रंश के समान ही परसर्गों का प्रयोग अधिक हो गया। संस्कृत में अनेक परसर्गों का प्रयोग होता था उन्हीं से विकसित होकर अनेक परसर्ग आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रयुक्त होने लगे। इस सम्बन्ध में आर्येतर भाषाओं का प्रभाव भी माना जाता है। संस्कृत में सज्ञा और क्रिया शब्दों में मौलिक अन्तर है। इस लिये दोनों के साथ जुड़ने वाले प्रत्ययों में भी विभिन्नता है परन्तु भारत की आर्येतर भाषाओं में यह बात नहीं है। इसका प्रभाव आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर पड़ा। परिणाम स्वरूप अनेक क्रिया रूप भी संज्ञा शब्दों के साथ जुड़ने लगे और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में नये रूपों का विकास होने लगा। कभी कभी किसी प्रत्यय के कारण ही कारक रूप का विकास हो गया। जैसे * सं. घोटक-त्य>* घोडअच्च> मराठी घोटाचा। द्राविड़ प्रभाव के कारण बहुवचन रूप बनाने के लिये सब (<सर्व), लोग (<लोक) आदि शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा; जैसे हिन्दी में हम सब, हम लोग।

सर्वनाम रूपों में आदर-सूचक सर्वनामों का विकास आधुनिक भारतीय आर्य भाषा की एक और मुख्य विशेषता है। संस्कृत में भवान्, भवती, अत्रभवान्, अत्रभवती, तत्रभवान्, तत्रभवती आदि आदर सूचक सर्वनाम थे। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ में उत्तमपुरुष और मध्यमपुरुष में विशिष्ट आदरार्थी सर्वनामों का विकास हुआ। जैसे—हिन्दी आप (<अप्पण <आत्मन्)। बहुवचन के द्वारा भी इस आदर भाव को प्रकट किया जाता है।

लिङ्ग की दृष्टि मे अधिकतर दो लिङ्ग रह गये--पुलिङ्ग और स्त्री-लिङ्ग। नपुंसक लिंग की सत्ता गुजराती और मराठी मे है। सिंहली भाषा में चेतन और अचेतन भेद से लिंग मिलते है। शब्दों के लिंग में संस्कृत का ही अनुसरण नहीं किया गया। संस्कृत में आत्मन् और अग्नि शब्द पुलिंग थे परन्तु हिन्दी आत्मा और अग्नि या आग शब्द स्त्रीलिंग हैं।

क्रिया-रूप

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के क्रिया-रूपों का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। इस दृष्टि से प्राचीन भाषा के साथ इसका बहुत कुछ सम्बन्ध विच्छेद होता जा रहा है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में तीन कालों का रूप पूर्ण स्पष्ट रहता है। अनेक रूप प्राचीन रूपों से विकसित हुए हैं परन्तु अनेक रूपों का स्वतन्त्र विकास भी हुआ है।

भूतकाल में तीन प्रकार के प्रयोग प्रचलित हैं—१. कर्तरि प्रयोग २. कर्मणि प्रयोग ३. भावे प्रयोग। कर्तरि प्रयोग में क्रिया कर्त्ता की विशेषण रूप में प्रयुक्त होती है; कर्मणि प्रयोग में क्रिया कर्म की विशेषण बन जाती है और भावे प्रयोग में क्रिया स्वतन्त्र रहती है। उदाहरण के तौर पर हिन्दी में 'वह गया, उसने पुस्तक पढ़ी और उसने राजा को देखा' क्रमश: कर्तरि कर्मणि और भावे प्रयोग हैं। भिन्न भिन्न भाषाओं में इनके स्वरूप में विशिष्ट अन्तर देखने को मिलते है।

सामान्य कालों के साथ साथ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में योगिक कालों का भी विकास हुआ। अधिकाँश में प्रवृत्ति सयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाने की है।

शब्द-कोष

अनेक लोगों का यह विश्वास है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत शब्दों का प्रवेश आधुनिक युग में इन्हें जटिल बनाने के लिये

किया जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें संस्कृत के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। इन भाषाओं के विकास में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द ही अधिकतर प्रयुक्त होते रहे हैं। अपभ्रंश में ही तत्सम शब्दों की प्रवृत्ति कुछ अधिक बढ़ गई थी। यह प्रवृत्ति सर्वथा स्वाभाविक थी। इसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता का समावेश नहीं होने पाया था। सांस्कृतिक दृष्टि से यह उचित भी था क्योंकि सभी भाषाओं को सामान्य बन्धन में बाँधने वाली यही भाषा ही तो है जो वर्षों से सभी भारतवासियों के मध्य एक स्वाभाविक श्रृंखला का काम करती रही है। इसलिये संस्कृत शब्दों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को समृद्ध करने की भावना इस सामान्य श्रृंखला को स्थिर रखने के समान है जिसके बिना हमारी राष्ट्रीयता और सांस्कृतिकता के नष्ट हो जाने का खतरा विद्यमान है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास को पूर्णतया समझने वाला व्यक्ति संस्कृत के महत्त्व को नहीं भूल सकता और न ही गुजराती, मराठी, हिन्दी, पंजाबी, आसामी, बंगला आदि को भिन्न मान सकता है। वास्तव में ये सब एक परिवार की ही सदस्या हैं। इन में परस्पर विरोध या विद्वेष कैसा ?

आधुनिक भारतीय भाषाओं मे आर्येतर भाषाओं को भी नहीं भुलाया जा सकता। कई बार इन भाषाओं के आर्य-भिन्न पारिवारिक विकास को महत्त्व दे कर विरोधी प्रवृत्तियों को भड़काने का प्रयत्न किया जाता है परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि वर्षों से संस्कृत के माध्यम से उत्तर और दक्षिण तथा पूर्व और पश्चिम के सभी भागों में एक सामान्य सांस्कृतिक रङ्गमञ्च रहा है। द्राविड़ परिवार की भाषाओं ने संस्कृत से बहुत कुछ ग्रहण किया है और बदले में उससे विकसित भाषाओं को बहुत कुछ दिया भी है। संस्कृत के साथ इस परिवार की भाषायें बोलने वालों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसलिये संस्कृत के शब्द सभी भाषाओं के लिये समान रूप में उपादेय हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के शब्दकोष पर प्रभाव डालने वाली दो मुख्य भाषायें और हैं। इन में से एक फ़ारसी है । अरबी का प्रभाव इसी के माध्यम से पड़ा है। दूसरी भाषा अंग्रेजी है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने वाला व्यक्ति किसी भी भाषा से द्वेष की बात नहीं सोच सकता। भाषाओं के परस्पर सम्पर्क में आने से एक दूसरे से प्रभावित होना स्वाभाविक है। इस स्वाभाविक प्रभाव से किसी भाषा के क्षीण या नष्ट होने का कोई भय नहीं। इस के विपरीत भाषा की शक्ति बढ़ती है। संसार की कोई भी भाषा पूर्ण भाषा नहीं। जिस प्रकार अपूर्ण मानव को अन्य मानवों के सहयोग से पूर्णता का आभास होता है—अपनी आत्मा को विश्वात्मा मान कर वह अपने आप को दूसरों के साथ एकाकार तक कर सकता है उसी प्रकार मूल रूप में भाषा एक है अर्थात् वह एक माध्यम है जिस के द्वारा विचारों और भावों का आदान-प्रदान होता है इस लिये सभी भाषायें प्रयत्न करती हैं। एक दूसरे के सहयोग, आदान-प्रदान और सम्बन्ध की भावना से जहां भाषाओं में विकास होता है वहाँ उन भाषाओं को बोलने वालों में आत्मीयता, घनिष्ठता और एकता भी बढ़ जाती है। इस लिये भाषा के वास्तविक स्वरूप को समझने वाला व्यक्ति भाषा के बारे में अन्धा या कट्टर नहीं हो सकता। इस प्रकार फ़ारसी का (और अरबी का भी) जो प्रभाव आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं पर स्वाभाविक रूप में पड़ा है—वह इन भाषाओं की समृद्धि का ही कारण समझा जा सकता है: कितने फ़ारसी के शब्द अपने आप भारतीय भाषाओं में प्रविष्ट हो गये हैं—उन्हें चुन चुन कर निकालने की कोई आवश्यकता नहीं।

यदि हम एक और दृष्टि से देखें तो फ़ारसी और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का सम्बन्ध भी परिवारिक है। पीछे कहा जा चुका है कि फ़ारसी प्राचीन ईरान का ही आधुनिक विकसित रूप है। प्राचीन ईरानी और संस्कृत एक दूसरे के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है।

फ़ारसी के अनेक शब्द ध्वनि-परिवर्तन के कारण कुछ बदल गये हैं परन्तु हैं मूल रूप में संस्कृत के अनेक शब्दों के समान ही। तुलना के लिये कुछ शब्द यहां दिये जाते हैं। संस्कृत के नीलोत्पल, मूषक, अङ्गुष्ठ, खर, शिर, दन्त और भ्रू शब्द फ़ारसी में क्रमश: नीलोफ़र, मूश, अङ्गश्त, ख़र, सर, दन्दान और अब्रू हैं। क्या फ़ारसी या संस्कृत वाले इन शब्दों को अपनी अपनी भाषाओं से निकाल सकते हैं? ये शब्द चाहे किसी स्रोत से आये हों—अब उन भाषाओं की निजी सम्पत्ति बन चुके हैं। इस लिए यदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में फ़ारसी के शब्द आते हैं तो ये शब्द भी उनके अपने परिवार की ही एक भाषा के हैं—उनके स्वाभाविक प्रवेश के मार्ग में बाधा उपस्थित करना उचित नहीं। परन्तु इस का यह मतलब नहीं कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें अपनी सारी परम्परा को तिलांजलि दे कर केवल अरबी-फ़ारसी के ही शब्दों को ग्रहण कर लें। यह प्रवृत्ति किसी भी भाषा के लिए घातक हुआ करती है। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में धार्मिक विद्वेष के कारण भाषा-विद्वेष पैदा हो गया और हिन्दी से भिन्न उर्दू का विकास इसी का परिणाम है। संस्कृत को पूर्णतया परित्याग कर केवल अरबी फ़ारसी के बल पर इस भाषा का विकास किया गया। यही कारण है कि उर्दू ने अपने देश की विकसित परम्पराओं से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है ; इसी कारण वह हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं से सर्वथा भिन्न दिखाई देती है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के शब्दकोष पर प्रभाव डालने वाली दूसरी मुख्य भाषा अंग्रेजी है। जिस प्रकार फ़ारसी के साथ इन भाषाओं का पारिवारिक सम्बन्ध है उसी प्रकार अंग्रेज़ी के साथ भी। भारतीय जनता पर किये गये अत्याचारों के कारण यदि अंग्रेज़ों से विद्वेष की भावना रही भी हो तो उसे राजनैतिक या सामाजिक माना जा सकता है परन्तु केवल इसी कारण से अंग्रेज़ी भाषा के प्रति विरोध की भावना ठीक नहीं है। यदि अंग्रेज़ी के स्वाभाविक रूप में कुछेक शब्द आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में प्रविष्ट हो गये हैं तो उन्हें तो निकालना कोई बुद्धिमत्ता नहीं

है। परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि जान बूझ कर अंग्रेजी के शब्दों को आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर लादने का प्रयत्न किया जाय। ऐसी भाषा भी उर्दू के समान ही देश की परम्पराओं और भाषा के समुचित विकास के अनुकूल नहीं समझी जा सकती।

वाक्य योजना

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की वाक्य-योजना अपेक्षाकृत अधिक सुव्यवस्थित और सुनिश्चित है। विभक्ति-रूपों के लुप्त हो जाने के कारण शब्दों और अन्य रूपों के स्थान का महत्त्व बहुत कुछ बढ़ गया। इस प्रकार वाक्य-योजना में कर्ता और क्रिया का क्रम चल पड़ा है अर्थात् कर्ता का प्रयोग पहले होता है और क्रिया का बाद में। कई बार बोलचाल में अव्यवस्था भी देखने को मिलती है परन्तु अधिकांश में वाक्यों का स्वरूप निश्चित ही है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण

आधुनिक युग में भारत में अनेक आर्यभाषायें बोली जाती है। इन भाषाओं का एक वर्गीकरण ग्रियर्सन ने किया था परन्तु वह वर्गीकरण डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी को मान्य नहीं था। उन्होंने उनका एक दूसरा ही वर्गीकरण प्रस्तुत किया। डा० चैटर्जी का मत जानने से पूर्व ग्रियर्सन के वर्गीकरण के सिद्धांत को समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा।

सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि जब आर्य लोग भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से भारत में प्रविष्ट हुए थे तो वे क्रमबद्ध समूह के रूप में नहीं आये थे बल्कि वे अनेक वर्गों में विभाजित होकर आये थे। इस प्रकार आर्यो का एक वर्ग यहां पहले आकर बस गया था और दूसरा वर्ग बाद में आया। यह क्रम सम्भवत: बहुत देर तक चलता रहा होगा। अन्त में एक समन्वित आर्य संस्कृति का विकास भारत में हुआ होगा। अब सरलतया यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत में सबसे पहले प्रविष्ट होने वाले आर्यो का कौन सा वर्ग था अथवा सब से अन्त में आर्य कौन

से थे परन्तु सन् १८८० में हार्नले[1] (Hornle) ने एक सिद्धांत प्रस्तुत किया कि भारत में आर्यों के समूह दो वर्गों में विभाजित होकर आये। इनमें से एक वर्ग को पूर्वागत आर्यों का वर्ग कहा जाता है और दूसरे वर्ग को परागत आर्यों का वर्ग। हार्नले ने अपने सिद्धांत का आधार भाषागत विभिन्नता बताया है। उनका यह विचार है कि पूर्वागत आर्यों की भाषा परागत आर्यों की भाषा से भिन्न थी यद्यपि इन दोनों भाषाओं का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसके लिये हार्नले ने यह भी कहा कि भारत पर दो बार आक्रमण हुए। पहला आक्रमण पूर्वागत आर्यों का था और दूसरा परागतों का।

ग्रियर्सन ने हार्नले के मत को थोड़े से संशोधन के साथ स्वीकार कर लिया। वे पूर्वागत और परागत आर्यों के आगमन की बात तो मान सकते हैं और उनमें भाषा सम्बन्धी भिन्नता को भी स्वीकार करते हैं परन्तु इसके लिये वे दो भिन्न भिन्न आक्रमणों की बात मानना आवश्यक नहीं समझते थे।[2] इस के साथ ही यह अनुमान लगाया जाता है कि आर्यों के एक वर्ग ने दूसरे वर्ग को हटाने का प्रयत्न किया होगा। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मध्यदेश का उलेख मिलता है। पीछे इस प्रदेश की भाषा के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। इस मध्यदेश का विस्तार भौगोलिक दृष्टि से दूर दूर तक माना जाता है। इसके उत्तर में हिमालय की सीमा है और दक्षिण में विन्ध्य मालाओं की। पश्चिम में यह पूर्वी पंजाब के सरहिन्द स्थान तक फैला हुआ था और पूर्व में गंगा-यमुना के सङ्गम तक। गंगा और यमुना के साथ साथ तीसरी नदी सरस्वती का उल्लेख भी पुराणों से मिलता है। इस प्रकार मध्यदेश की स्थिति मान कर यह कहा जाता है कि आर्यों का एक

---

1. Comparative Grammar of the Gaudian Languages P. XXXI.

2. **भारत का भाषा सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १ हिंदी संस्करण** १९५९ पृ. २१४

वर्ग पहले इसी मध्यदेश मे आकर बस गया। जब आर्यों का दूसरा वर्ग आया तो इन पूर्वागत आर्यों को मध्यदेश छोड कर चारो दिशाओं मे भागना पड़ा। परागत आर्य मध्यदेश में बस गये। ग्रियर्सन इसी अनुमान को ही सर्वथा सम्भाव्य नही मानते। यह भी सम्भावना की जा सकती है कि पूर्वागत आर्य मध्यदेश मे बसे रहे और परागत आर्य ही मध्यदेश के चारो ओर फैल गये। किसी भी सम्भावना को क्यो न स्वीकार किया जाय बात वस्तुत: एक ही है। दोनों सम्भावनाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि आर्यो का एक वर्ग मध्य देश मे बसा हुआ था और दूसरा वर्ग मध्य देश के चारों ओर फैला हुआ था। ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य भाषा को दो वर्गो मे विभाजित किया है —१. अन्तरंग या भीतरी (Inner) और (२) बहिरंग या बाहरी (Outer)। मध्यदेश की आर्य भाषा को अन्तरंग कहा जाता है और इसके चारों ओर के प्रदेश की आर्य भाषा को बहिरंग कहा जाता है। बहिरंग भाषा के प्रदेश मे उत्तरपश्चिमी सीमान्त प्रदेश के हजारा जिले से लेकर पश्चिम पजाब सिध (यह सारा प्रदेश अब पश्चिमी पाकिस्तान के अन्तर्गत है), महाराष्ट्र, उत्कल, बिहार, बगाल और आसाम का प्रदेश सम्मिलित है। यद्यपि गुजरात मध्यदेश से बाहर का प्रदेश है तथापि यह माना जाता है कि प्राचीन काल में मथुरा वालो ने गुजरात पर आक्रमण कर भाषा की दृष्टि से उसे भी अन्तरंग वर्ग मे ही सम्मिलित कर लिया था।[1] बाद मे अपने एक अन्य निबन्ध मे ग्रियर्सन ने केवल पश्चिमी हिंदी को अन्तरंग भाषा मान कर अन्य भाषाओं को बहिरंग माना है। बहिरंग भाषाओं के अन्तर्गत सिहली और जिप्सी का भी उल्लेख किया है।

ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण का मुख्य आधार भाषा विभिन्नता है। उनका यह विचार है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की ध्वनियों, रूपों आदि के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है

1. Bulletin of the School of Oriental Studies, London Institution, 1930 I-III-32.

कि अन्तरंग और बहिरंग भाषाओं में मौलिक भेद हैं। (Linguistic, survey of India) (भारत का भाषा सर्वेक्षण खण्ड १, भाग १) में ग्रियर्सन ने मुख्य रूप में तीन भिन्नताओं का उल्लेख किया है।

ध्वनि तत्व

सब से पहली भिन्नता ध्वनि-तत्त्व की है। ध्वनियों की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त भिन्नता है जिनमें से ऊष्म-वर्णों के उच्चारण की भिन्नता प्रमुख है। अन्तरग भाषा में दन्त्य स् का उच्चारण ठीक होता है परन्तु बहिरंग भाषाओं में स् के उच्चारण में कठिनाई होती है। जिस प्रकार ईरानी शाखा की भाषाओं मे स् के स्थान पर ह् हो जाता है उसी प्रकार बहिरंग भाषाओं में भी हो जाता है। पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा काश्मीर में यही स्थिति है। कही कहीं स् का सर्वथा लोप हो जाता है। ग्रियर्सन ने सिन्धु के लिये ग्रीक इन्दुस का उदाहरण दिया है। पूर्वी-भाषाओं में स् के स्थान पर श् हो जाता है। बंगाल तथा महाराष्ट्र में श् उच्चारण प्रचलित है और पूर्वी बंगाल तथा आसाम में यह 'ख्' हो जाता है।

संज्ञा-रूप

सस्कृत सयोगात्मक भाषा थी। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाये अधिकाधिक वियोगोन्मुख है। इनमें से कुछेक भाषाओं मे सयोगात्मकता भी देखने को मिलती है। इस वस्तुस्थिति को देखते हुए ग्रियर्सन का मत है कि अन्तरंग भाषायें अभी वियोगावस्था में है। हिन्दी के परसर्ग का, को, से आदि मूल शब्द के साथ जुड़कर प्रयुक्त नहीं होते बल्कि उन से अलग उनका प्रयोग किया जाता है। दूसरी ओर बहिरग भाषाये वियोगा-वस्था को पार कर फिर से सयोगात्मक होने लगी है। जिससे यह प्रतीत होता है कि वे विकास की एक मंज़िल पूरी तरह पार कर चुकी है और अब दूसरी मंज़िल की ओर अग्रेसर है। इस दृष्टि से सिन्धी, कश्मीरी

और बंगला के उदाहरण दिये हैं । बंगला में सम्बन्धकारक की -एर विभक्ति का प्रयोग संक्षिप्त रूप में किया जाता है ।

क्रिया-रूप

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत के अनेक क्रिया-रूप लुप्त हो गये हैं । संस्कृत में भूतकाल के लिये कृदन्त रूपों का प्रयोग किया जाता था । उनका विकास आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में हुआ है । इस के अतिरिक्त संस्कृत में कुछेक सर्वनामों के दो दो रूप थे—१. पूर्ण और २. लघु । उदाहरण के तौर पर मध्यमपुरुषवाची सर्वनाम का करण-कारक में पूर्ण रूप 'त्वया' था और लघुरूप 'ते' । इसी प्रकार उत्तम-पुरुष वाची सर्वनाम के दो रूप 'मया' और 'मे' थे । इनमें से पूर्ण रूप स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त किया जा सकता था और लघु रूप किसी शब्द के साथ जुड़ कर ही आता था अकेले नहीं । इस पृष्ठभूमि को देखते हुए ग्रियर्सन का यह मत है कि अन्तरङ्ग भाषाओं के क्रिया रूपों का विकास उस भाषा से हुआ है जिन में स्वतंत्र सर्वनाम का प्रयोग किया जाता था । यही कारण है कि वह क्रिया मे अन्तर्भुक्त नहीं हो पाया अर्थात् क्रिया के रूप से ही सर्वनाम का बोध नहीं हो पाता ; जैसे हिन्दी में मैने मारा, तूने मारा, उसने मारा, हमने मारा, तुमने मारा, उन्होंने मारा । इन सब सर्वनामों के साथ 'मारा' का रूप अपरिवर्तित है। केवल 'मारा' कहने से सर्वनाम का बोध नहीं हो जाता ।

दूसरी ओर बहिरंग भाषाओं के क्रियारूपों का विकास उस भाषा के क्रिया रूपों से हुआ है जिसमें सर्वनाम के लघुरूप का प्रयोग किया जाता था । परिणामस्वरूप सर्वनाम का यह लघुरूप क्रिया में अन्तर्भुक्त हो गया और केवल क्रिया रूप से सर्वनाम का बोध हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त ग्रियर्सन ने यह भी कहा है कि अन्तरंग भाषाओं का व्याकरण बड़े सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है परन्तु

बहिरंग भाषाओं का व्याकरण अधिक जटिल है जिसे प्रस्तुत करने में पर्याप्त विस्तार की अपेक्षा होती है।

ग्रियर्सन ने इन दो वर्गों के अतिरिक्त एक अन्तर्मध्य का तीसरा वर्ग भी माना है। पहाड़ी भाषाओं का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार उन्होंने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वर्गीकरण को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है[1] —

अ—बहिरंग उप-शाखा

(क) उत्तर पश्चिमी समुदाय
  (१) लहँदा या पश्चिमी पंजाबी
  (२) सिन्धी
(ख) दक्षिणी समुदाय।
  (३) मराठी
(ग) पूर्वी समुदाय
  (४) उड़िया
  (५) बिहारी
  (६) बंगाली
  (७) असमी

आ— अन्तर्मध्य उपशाखा

(घ) बीच का समुदाय
  (८) पूर्वी हिन्दी

(इ)—अन्तरङ्ग उपशाखा

(ङ) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय
  (९) पश्चिमी हिन्दी
  (१०) पंजाबी
  (११) गुजराती

1. दे० "भारत का भाषा सर्वेक्षण" भाग १, खण्ड १, पृ० २२२।

(१२) भीली
(१३) खानदेशी
(१४) राजस्थानी

(च) पहाड़ी समुदाय

(१५) पूर्वी पहाड़ी या नेपाली (खसकुरा)
(१६) मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी (नैनीताल तथा मसूरी के आसपास की पहाड़ी बोलियाँ जैसे कुमायूनी और गढ़वाली भी इसी में सम्मिलित हैं)
(१७) पश्चिमी पहाड़ी (जौनसारी, सिरमौरी, किउँठाली, कुल्लुई तथा चमआली)

ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण को ठीक नहीं माना जाता। जो लोग आर्यों का मूल निवास-स्थान भारत ही मानते हैं उनके लिये तो यह मत सर्वथा अग्राह्य है परन्तु जो विद्वान् आर्यो का बहि:स्थान से आगमन मानते भी हैं तो भी उन्हे यह वर्गीकरण ठीक प्रतीत नहीं होता। ग्रियर्सन ने अपने वर्गीकरण का मुख्य आधार आर्यों का दो वर्गों में विभाजन माना है। इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। भाषा की दृष्टि से भी यह मत मान्य प्रतीत नहीं होता। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने ग्रियर्सन के वर्गीकरण की विस्तृत आलोचना की है[1]। उन्हों ने ग्रियर्सन की सभी युक्तियों का खण्डन किया है और यह प्रतिपादन करने का प्रयास किया है कि अन्तरंग और बहिरंग दृष्टि से वर्गीकरण सर्वथा अवैज्ञानिक है।

ऊपर ग्रियर्सन के जो मुख्य तर्क प्रस्तुत किये गये हैं उनका खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है। स् का ह् में परिवर्त्तित हो जाना केवल बहिरंग भाषा में ही नहीं है बल्कि अन्तरंग में भी ऐसा परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के तौर पर पश्चिमी हिन्दी में ताको, ताहि आदि प्रयोग हैं। सं. तस्य>तस्स>तास>ताह>ता—ध्वनि सम्बन्धी इस परिवर्तन-क्रम को

१. Origin and Development of Bengali Language.

देखते हुए यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि पश्चिमी हिन्दी में स् के स्थान पर ह् हो जाता है। दूसरी ओर बहिरंग वर्ग की भाषाओं में 'स्' का विधिवत् उच्चारण मिलता है। जैसे बहिरंग वर्ग की एक भाषा लहँदा में—करेसी (<सं. करिष्यति)। हिन्दी के बारह (<सं. द्वादश) और केहरि (<स. केसरिन्) शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि अन्तरंग वर्ग की भाषाओं में स् के स्थान पर ह् हो जाता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि स् ध्वनि मध्यदेशीय भाषा शौरसेनी प्राकृत की विशेषता थी और उसी प्रकार श् ध्वनि प्राच्य भाषा मागधी की। इन दो भिन्न प्राकृतों से विकसित होने के कारण पश्चिमी हिन्दी में 'स्' ध्वनि की और बंगला में श् ध्वनि की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है। मराठी तथा गुजराती में स् के स्थान पर श् मिलता है परन्तु यह परिवर्तन परवर्त्ती स्वरों इ, ई, ए तथा अन्तःस्थ ध्वनि य् से प्रभावित होता है। जैसे मराठी शिक्णें (<सं. शिक्षणं) और गुजराती करशे (सं. करिष्यति)। जहाँ उपर्युक्त ध्वनियां बाद में नहीं हैं वहाँ 'स्' अपने मूल रूप में सुरक्षित रहता है। जैसे—मराठी सक्णें (<सं. शक्) गुजराती साद् (<स. शब्द)

ग्रियर्सन का दूसरा मुख्य तर्क बहिरंग भाषाओं के संयोगावस्था में पहुंचने और अन्तरंग भाषाओं के वियोगावस्था में ही रह जाने का है। वस्तुतः यह बात ठीक नहीं। पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत में संज्ञारूपों में विभक्तियां भी जुड़ती थीं और परसर्ग भी लगते थे, आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में अधिकतर विभक्तियां लुप्त हो गई इसलिये परसर्ग का प्रयोग बढ़ गया। फिर भी सभी भाषाओं में कुछ विभक्तिरूप बचगये हैं। ये अवशिष्ट रूप तथा कथित अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की भाषाओं में हैं। पश्चिमी हिन्दी में—घोड़े का <घोड़हिकअ< घोटस्य+कृत। घोड़े इस रूप में प्राचीन विभक्ति का रूप अवशिष्ट है जो शब्द के साथ जुड़ा हुआ है।

डा. चैटर्जी ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत क्रियारूपों की व्याख्या से भी

सहमत नहीं हैं। उनका यह विचार है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा के युग में क्रिया के तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का व्यवहार बढ़ गया। सकर्मक क्रियाओं में कर्मवाच्य का प्रयोग अधिक मिलता है। इस प्रयोग में कर्ता का रूप करण हो जाता है और क्रिया कर्ता के स्थान पर कर्म का विशेषण बन जाती है। जैसे—सं. मया पुस्तकं पठितम् > मैंने पुस्तक पढ़ी। पश्चिमी और दक्षिणी वर्ग की भाषाओं में कर्मवाच्य के ये रूप सुरक्षित हैं परन्तु मागधी प्राकृत से निकली पूर्वी भाषाओं में कर्मवाच्य के रूप कर्तृवाच्य के बन गये है। क्रिया के साथ अन्य सर्वनामीय प्रत्ययों के जड जाने से ऐसा हो गया है। पश्चिम वर्ग की लहँदा तथा सिन्धी भाषाओं में भी सर्वनामिक प्रत्यय जोड़े गये हैं परन्तु इन प्रत्ययों के जुड़ जाने से भी उन क्रियापदों में कर्मवाच्यत्व विद्यमान है। इस प्रकार अन्तरंग और बहिरंग भाषाओं का वर्गीकरण न मान कर केवल क्रिया के कृदन्त रूपों की दृष्टि से दो प्रकार की भाषायें मानी जा सकती हैं—(१) पश्चिमी भाषायें जिन में कर्मवाच्य का रूप सुरक्षित है और (२) पूर्वी भाषायें जिस में कर्मवाच्य ने कर्तृवाच्य का रूप धारण कर लिया है। नीचे दिये हुए उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

पश्चिमी भाषायें

(कर्मणि प्रयोग)

पश्चिमी हिन्दी	मैंने पोथी पढ़ी
गुजराती	में पोथी बाँची
मराठी	मीं पोथी वाचिली
सिन्धी	(मूँ) पोथी पढ़ी-मे
लहँदा	(मैं) पोथी पढ़ि-म्

इन सब वाक्यों में—मैं, में, मीं मूँ उत्तमपुरुष एक वचन सर्वनाम हैं जिसका प्रयोग पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों में हो सकता है। सस्कृत 'अस्मद्' शब्द के तृतीया विभक्ति अर्थात् करण कारक के 'मया'

रूप से इन का विकास हुआ है । कर्मणि प्रयोग में कर्ता करण बन जाता है । पोथी शब्द कर्म है और इन सब भाषाओं में स्त्रीलिंग है । कर्मवाच्य के प्रयोग में क्रिया कर्म के अनुसार चलती है इसलिये सभी वाक्यों में क्रिया (पढ़ी, बांची, वाचिली, पढ़ी, पढ़ि) स्त्रीलिंग में है । यदि स्त्रीलिंग कर्म के स्थान पर पुल्लिग कर्म रख दिया जाय तो क्रिया भी पुलिंग होजायेगी । जैसे पश्चिमी हिन्दी—मैंने ग्रन्थ पढ़ा; लहँदा—मैं ग्रन्थ पढ़े-म् । सिन्धी—मे और लहँदी—म् सर्वनामिक प्रत्यय है परन्तु इन से क्रिया के कर्मवाच्य के प्रयोग में कोई अन्तर नहीं आया ।

पूर्वी भाषायें

(कर्त्तरि प्रयोग)

पूर्वी हिन्दी मैं पोथी पढ़ेउँ

भोजपुरी हम पोथी पढ़ली

मैथिली हम पोथी पढ़लहुँ

बंगला आमि पुथि पुड़िलाम
(मुइ पुथि पुड़िलि-लुम)

उड़िया आम्भे पोथि पढ़लुँ
(मु पोथि पुढिलि)

उपर्युक्त सभी वाक्यों में क्रिया का सम्बन्ध सर्वनाम कर्ता (जो मूल में भी कर्ता था परन्तु कर्मणि प्रयोग के कारण करण का रूप धारण कर चुका था) के साथ है कर्म के साथ नहीं । सर्वनामिक प्रत्ययों के कारण क्रिया ने कर्तृवाच्य का रूप धारण कर लिया है ।

इस प्रकार ग्रियर्सन द्वारा किया गया अन्तरंग और बहिरंग का वर्गीकरण ठीक प्रतीत नहीं होता । यदि हम भारतीय आर्य भाषाओं के विकास क्रम की ओर ध्यान दे तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अति-प्राचीन काल से उदीच्य, प्रतीच्य, मध्यदेशीय आदि भेद भाषा में विद्यमान थे । आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण भी उसी आधार पर

किया जा सकता है। डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने इसी परम्परा को ध्यान में रखते हुए जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह नीचे दिया जाता है।

[क] **उदीच्य (उत्तरी)**
१. सिन्धी
२. लहँदा
३. पूर्वी पंजाबी

[ख] **प्रतीच्य (पश्चिमी)**
४. गुजराती
५. राजस्थानी

[ग] **मध्यप्रदेशीय**
६. पश्चिमी हिन्दी

[घ] **प्राच्य (पूर्वी)**
७. (अ) कोशली या पूर्वी हिन्दी
(आ) मागधी प्रसूत
८. बिहारी
९. उडिया
१०. बगला
११. असमिया

[ङ] **दाक्षिणात्य (दक्षिणी)**
१२. मराठी

डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने काश्मीरी तथा पहाडी भाषाओं को वर्गीकरण में स्थान नही दिया है क्योंकि उनका यह विचार है कि काश्मीरी का विकास भारत-ईरानी वर्ग की दरदी शाखा से हुआ है। इसी प्रकार पहाडी भाषाओं की उत्पत्ति भी वे खस या दरदी भाषाओं से मानते है। पहाड़ी भाषाओं के तीन वर्ग हैं—१. पूर्वी पहाड़ी की भाषायें जिनमे खसकुरा अथवा नेपाली मुख्य है। २. मध्यपहाड़ी की भाषाये जिनमे

गढ़वाली और कुमायूंनी सम्मिलित हैं तथा ३. पश्चिमी पहाड़ी की भाषायें जिनमें चमेआली, मण्डेआली, कुल्लुई, किउंठाली, सिरमौरी आदि का उल्लेख किया जाता है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वर्गीकरण में विभाजन-पूर्व भारत को ही दृष्टिगत रखा जाता है। विभाजन के बाद कुछ भागों के पाकिस्तान में सम्मिलित हो जाने के कारण भाषा की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं आया क्योंकि पूर्वी पाकिस्तान को बंगला भाषा का एक विस्तृत भाग भारत में भी है। पश्चिमी पाकिस्तान के प्रदेशों में लहँदा और सिन्धी बोली जाती है। भारत में इनका अपना विशिष्ट प्रदेश कोई नहीं परन्तु लहँदा और सिन्धी भाषाओं को बोलने वाले अनेक लोक पाकिस्तान छोड़ कर भारत में आ बसे हैं इसलिये ये भाषायें भारत के विभिन्न भागों में अब भी बोली जाती हैं। लहँदा भाषा भाषियों ने तो अधिकांश में पंजाबी या हिन्दी को अपना लिया है इसलिये इसके भारत में सुरक्षित रहने की सम्भावनायें कम हैं परन्तु सिन्धी लोग अभी भी अपनी भाषा को सुरक्षित रखने में विशेष प्रयत्नशील हैं। अनेक सिन्धी विभिन्न स्थानों पर वर्गों में बसे हुए हैं और उनमें एकता की भावना भी बहुत प्रबल है इसलिये उनकी भाषा अधिकांश में सुरक्षित है।

भारत से बाहर की आधुनिक आर्य भाषाओं में हबूड़ी और सिंहली का नाम विशेष रूप में लिया जाता है। नीचे मुख्य भाषाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

सिन्धी

सिन्धी पश्चिमी पाकिस्तान के सिन्ध प्रदेश की तथा भारत में बसे हुए सिन्धियों की भाषा है। इसका मुख्य क्षेत्र सिन्धु नदी के दोनों किनारों का प्रदेश है जो पश्चिम में नीचे की ओर समुद्री किनारे तक फैला हुआ है। सम्भवत: सिन्धी नाम ही सिन्धु नदी के कारण प्रचलित होगया होगा। इसका लहँदा भाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सिन्ध में लहँदा की एक

बोली सिराइकी हिन्दकी भी बोली जाती है। सिन्धी भाषा साहित्यिक है। इसकी मुख्य बोलियां छः मानी जाती हैं—१. विचोली २. सिराइकी ३. थरेली ४. लासी ५. लाड़ी और ६. कच्छी। विचोली सिन्ध के मध्य भाग की बोली है और इस में साहित्य-रचना भी होती है।

सिन्धी की उत्पत्ति व्राचड अपभ्रंश से मानी जाती है। पुराने ज़माने में सिन्ध प्रदेश के अन्तर्गत एक व्राचड प्रदेश था उसी के नाम पर ही अपभ्रंश का व्राचड नाम पड़ गया था। सिन्धी भाषा की अपनी लिपि लंडा है किन्तु इसे गुरुमुखी और फ़ारसी लिपि में भी लिखा जाता है। अधिकांश में फ़ारसी लिपि के संशोधित रूप का व्यवहार ही किया जाता है। आज कल भारत में बसे हुए सिन्धियों द्वारा देवनागरी लिपि के व्यवहार पर ज़ोर दिया जा रहा है। सिन्धी की ग्, ज्, ड्, तथा ब् की विशिष्ट आश्वसित ध्वनियां हैं जिनके कारण लिपि-सम्बन्धी कठिनाई अवश्य है।

लहँदा

लहँदा का अर्थ है सूर्य का अस्त। सूर्यास्त की दिशा पश्चिम है इस लिये लहँदा का अर्थ पश्चिमी भाषा है। इसे पश्चिमी पञ्जाबी भी कहा जाता है। कई स्थानों पर तो पंजाबी और लहँदा में अन्तर रखना भी कठिन हो जाता है। इसे कई बार लहँदी भी कहा जाता है परन्तु ग्रियर्सन का यह विचार है कि लहँदा शब्द संज्ञापद है विशेषण नहीं इस लिये इसे लहँदी कहना ठीक नहीं[1]। इसके अन्य नाम जटकी, उच्ची तथा हिन्दकी हैं। जटकी का अर्थ जाट लोगों की बोली है। उच्ची का मतलब ऊँचे कसबे की भाषा है। हिन्दकी का मतलब हिन्दुओं की भाषा है क्योंकि लहँदा के एक बड़े भूभाग में पश्तो-भाषी पठान भी रहते हैं उनकी भाषा से इसका अन्तर रखने के लिये ऐसा कहा जाता है।

लहँदा की अनेक बोलियाँ हैं। इन में से मुलतानी मुलतान, मुज़फ़्फ़र-

---

१. भारत का भाषासर्वेक्षण भाग १, खण्ड १ पृ. २५१

गढ़ तथा डेरागाज़ीखाँ के जिलों में बोली जाती है। इसी की एक शाखा बहावलपुरी और सिराइकी हिन्दकी भी है। खेत्रानी और जाफिरी का प्रयोग लगारी तथा सुलेमान की पहाड़ी के पास रहने वाले खेजान तथा जाफ़र लोगों की बोली है। थळी का प्रयोग डेरा-इस्माइलखाँ के ज़िले तथा अन्य उत्तरी भाग में किया जाता है। थळी का सम्बन्ध थल या मरुस्थल से है। पश्चिमोत्तरी का प्रयोग हजारा, पेशावर आदि जिलों मे किया जाता है।

लहँदा पञ्जाबी से भिन्न है और अनेक दृष्टियों मे सिन्धी के निकट है। काश्मीरी का भी इस पर बहुत प्रभाव है। इसमें लोकगीतों और लोक-गाथाओं के अतिरिक्त कोई साहित्य नहीं है। इसकी अपनी लिपि लंडा है परन्तु यह इतनी अधिक दोषपूर्ण है कि अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना बनी रहती है क्योंकि इसमें स्वर और उन की मात्रायें बहुत कम हैं। उदाहरण के तौर पर 'लालाजी अजमेर गये हिन' इस वाक्य को लण्डा लिपि में 'लालाजी अज मर गये हिन' ऐसा पढ़ा जा सकता है। सन् १८१९ में कैरी ने इस लिपि में बाइबल का अनुवाद छपवाया था। अधिकांश में लहँदा के लिये फ़ारसी लिपि का व्यवहार किया जाता है जिसे प्रचलित करने वाले बहुसंख्यक मुसलमान है।

पूर्वी पञ्जाबी

पहले लहँदा और पूर्वी पञ्जाबी की सीमारेखा निर्धारित करना कठिन प्रतीत होता था परन्तु अब पाकिस्तान बन जाने के बाद पञ्जाब का जो पूर्वीभाग भारत के हिस्से आया है उसमें लहँदा क्षेत्र न होने के कारण केवल पूर्वी पञ्जाबी का क्षेत्र ही रह गया है। पश्चिम की ओर लहंदा भाषा का क्षेत्र है और पूर्व की ओर पश्चिमी हिन्दी का. इस लिये पञ्जाबी का क्षेत्र केन्द्रीय मध्य-पूर्व ही माना जाता है।

मुख्य रूप में पञ्जाबी की दो बोलियां हैं—१. माझ और २. डोगरी। अमृतसर के आसपास बोली जाने वाली माझ ही परिनिष्ठित भाषा मानी जाती है। इसकी भी मुख्य लिपि लण्डा थी परन्तु पहले लिखा जा चुका है

कि लण्डा लिपि में बहुत अस्पष्टता है। इसके लिये कभी कभी यहां तक कहा जाता है कि लिखे मूसा पढ़े खुदा। सिक्खों के दूसरे गुरु अंगददेव ने इसी लिये देव नागरी लिपि के आधार पर सुधार किया और गुरुमुखी लिपि बनाई। इस लिपि का मुख्य उद्देश्य गुरु-वाणी को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना था। अधिकांश में सिखों ने इस लिपि को अपना लिया। इसके अतिरिक्त फ़ारसी और देवनागरी लिपि का भी प्रयोग किया जाता रहा है। डोगरी अधिकांश में जम्मू रियासत की भाषा है। इस पर लहँदा और काश्मीरी का अधिक प्रभाव पडा है। इसकी लिपि टक्करी है जो लण्डा लिपि के समान ही है।

पञ्जाबी मे कुछ वर्ष पूर्व तक अधिक साहित्र नहीं था। वस्तुत: यह एक बोली के रूप में ही थी। अधिकांश लोक-साहित्य ही मिलता है। गुरु ग्रन्थ साहब गुरुमुखी लिपि में अवश्य लिखा गया परन्तु भाषा की दृष्टि से उसकी अधिकांश रचनायें प्राचीन हिन्दी की है। लिपि के कारण उनमें कुछ पंजाबीपन अवश्य आगया है। आधुनिक युग में पञ्जाबी में पर्याप्त साहित्य लिखा जारहा है। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि सभी क्षेत्रों में यह प्रगति कर रही है। अधिकांश साहित्य अब गुरुमुखी लिपि में ही प्रकाशित किया जाता है।

गुजराती

नाम से ही यह बात स्पष्ट है कि गुजराती गुजरात प्रदेश की भाषा है। दक्षिण में गुजराती क्षेत्र की सीमायें मराठी प्रदेश के साथ जुड़ी हुई है और उत्तर में सिन्धी की एक बोली कच्छी के साथ सम्बन्धित है। राजस्थानी के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहां तक कहा जाता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक ये दोनों भाषायें एक ही थीं। एल. पी. टेसीटरी का विचार है कि इसकी उत्पत्ति प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से हुई है। इस पर मध्यदेश की शौरसेनी का भी अत्यधिक प्रभाव है। मध्यदेश से अनेक लोगों के गुजरात में जाकर बसने के उल्लेख मिलते हैं। सब से

पहले महाभारतकालीन कृष्ण मथुरा से द्वारिका जा बसे थे। गुजरात शब्द गुर्जर जाति के नाम से सम्बन्धित है।

गुजराती के मुख्यतया दो रूप हैं। एक शिक्षितों की भाषा ग्रौर दूसरी अशिक्षित लोगों की बोली। शिक्षित भाषा साहित्यिक है। गुजराती में उत्कृष्ट कोटि की साहित्य रचना मिलती है। लिपि गुजराती की अपनी है परन्तु वह देवनागरी लिपि या उसके कैथी रूप से बहुत मिलती-जुलती है।

राजस्थानी

राजस्थानी राजस्थान प्रदेश की भाषा है। गुजराती और राजस्थानी के घनिष्ठ सम्बन्ध का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। राजस्थानी पर भी मध्यदेशीय शौरसेनी का विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। राजस्थान का सम्बन्ध अनेक जातियों से रहा है ग्रौर वर्षों से यह विविध राज्यों में विभक्त रहा है इसलिये राजस्थानी की बोलियां ग्रनेक हैं। मुख्यरूप में पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी, मध्यपूर्वी, राजस्थानी, उत्तरपूर्वी, राजस्थानी और मालवी का उल्लेख किया जाता है। पश्चिमी राजस्थानी में मारवाड़ी के साथ साथ मेवाड़ी तथा शेखावटी भी सम्मिलित हैं। इसका क्षेत्र जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर ग्रौर उदयपुर हैं। मध्यपूर्वी की मुख्य-बोलियां जोधपुरी और हाड़ौती हैं। बूंदी और कोटा के हाड़ा राजपूतों की बोली हाड़ौती कहलाती है। उत्तर पूर्वी राजस्थानी की विभाषायें मेवाती और ग्रहीरवाटी हैं। मेवाती का केन्द्रस्थल ग्रलवर है और यह मेव जाति के लोगों की बोली है। ग्रहीरवाटी दिल्ली के दक्षिण पश्चिम में बोली जाती है। इन्दौर के चारों ग्रोर का प्रदेश मालवा कहलाता है, यहां की भाषा को मालवी कहा जाता है। इनके ग्रतिरिक्त भीली, गूजरी आदि भी राजस्थानी के ग्रन्तर्गत हैं।

पश्चिमी हिन्दी

मध्य प्रदेश की भाषा हमेशा भारत में प्रमुख रही है। ग्राधुनिक युग में मध्य प्रदेश की भाषा की उत्तराधिकारिणी पश्चिमी हिन्दी है ग्रौर

आजतक उसी प्राचीन परम्परा को बनाये हुए है । इसका विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा ।

पूर्वी हिन्दी

पूर्वी हिन्दी को कोसली भी कहा जाता है । इसकी मुख्य भाषा अवधी का नाम भी कोसली है । इसके अतिरिक्त बघेली और छत्तीसगढ़ी भी इसकी बोलियां हैं। भाषा के विकास की दृष्टि से इसका सम्बन्ध अर्द्ध-मागधी के साथ रहा है जो एक ओर से तो शौरसेनी से प्रभावित है तो दूसरी ओर से मागधी से परन्तु शौरसेनी की अपेक्षा मागधी का प्रभाव उस पर अधिक रहा है । यही कारण है कि पूर्वी हिन्दी का पश्चिमी हिन्दी के साथ सम्बन्ध तो है परन्तु पूर्वी भाषाओं के साथ इसका सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ है ।

बिहारी

पूर्वी हिन्दी के अतिरिक्त अन्य पूर्वी भाषायें बिहारी, उड़िया, बंगला और असमिया मागधी से उत्पन्न हुई हैं । बिहारी भाषा का क्षेत्र उत्तर-प्रदेश और बिहार दोनों में है । इसकी मुख्य बोलियां मैथिली, मगही और भोजपुरी हैं । मैथिली की अपनी लिपि है जो अधिकांश में बंगला लिपि से मिलती जुलती है । भोजपुरी और मगही की लिपि कैथी है । प्रकाशित साहित्य में देवनागरी लिपि का ही प्रयोग किया जाता है ।

उड़िया

उड़ीसा की प्रमुख भाषा उड़िया है । प्राचीनकाल में उड़ीसा का नाम उत्कल था । यह कहा जाता है कि ईसा की सातवी आठवीं शताब्दी से पूर्व उड़िया बंगला के साथ सम्बद्ध थी इसलिए इन दोनों भाषाओं में बहुत समानता है । उड़िया की अपनी लिपि है । इस पर तेलुगु और मराठी का बहुत प्रभाव पड़ा है ।

बंगला

बंगाल के दो भाग माने जाते हैं—१. पूर्वी और २. पश्चिमी। सन् १९४७ के बाद बंगाल का पूर्वी भाग पूर्वी पाकिस्तान के अन्तर्गत आ गया है। अब केवल पश्चिमी भाग ही भारत में है। पूर्वी भाग की बोली पूर्वी है जिसका केन्द्रस्थल ढाका है। पश्चिमी भाग की बोली पश्चिमी है; इसका केन्द्र पूर्वी बंगाल की राजधानी कलकत्ता है। इसकी अपनी लिपि बंगला है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में साहित्य की दृष्टि से बंगला का उत्कृष्ट स्थान है। बंगला साहित्य का प्रभाव सभी आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं पर पड़ा है। सबसे पहले अंग्रेजी साहित्य और विचार-धारा से बंगला साहित्य ही प्रभावित हुआ था। इसलिये आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं ने अंग्रेजी विचारधारा को बहुत कुछ बंगला के माध्यम से ग्रहण किया। बंगला के उत्कृष्ट साहित्यकार रवीन्द्रनाथ टैगोर भारत की अमूल्य सम्पत्ति हैं।

असमिया

असमिया बंगला से अत्यन्त घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। इस की लिपि भी प्राय: बंगला ही है। अधिकतर आसामी बंगला पढ़ लिख सकते हैं। आज कल बंगला से स्वतन्त्र रह कर असमिया भाषा और साहित्य के विकास की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ती जा रही है। कहीं कहीं पर तो भयङ्कर वैमनस्य और कटुता के दर्शन भी होते हैं। भाषा-समस्या को लेकर आसाम राज्य में जो हाल ही में उपद्रव हुए हैं वे इसी भावना को प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि असमिया भाषा की दृष्टि से आसाम राज्य पृथक् इकाई के रूप में है तथापि अनेक बंगला-भाषा-भाषी लोग अभी भी आसाम राज्य में हैं।

मराठी

मराठी नव-निर्मित महाराष्ट्र प्रदेश की मुख्य भाषा है। भाषा के

विकास की दृष्टि से इसका सम्बन्ध महाराष्ट्री प्राकृत के साथ है । इसकी बोलियों में मुख्य रूप में कोंकण की कोंकणी तथा बस्तर की हलवी का नाम लिया जाता है। आजकल इन दोनों को मराठी से पृथक् मानने का विचार भी ज़ोर पकड़ रहा है। हलवी पर मागधी का बहुत अधिक प्रभाव देखने को मिलता है इस लिये उसे मराठी के साथ सम्बन्धित नहीं माना जाता। आधुनिक युग में इसका मुख्य केंद्र पुर्णे (पूना) है। लिपि देवनागरी है। मराठी में उच्चकोटि का साहित्य है।

इन के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं में काश्मीरी का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसका सम्बन्ध आधुनिक आर्यभाषा के साथ न होकर दरदी भाषाओं के साथ है। हबूड़ी और सिंहली आधुनिक आर्यभाषायें तो है परन्तु भारतीय नहीं। कहा जाता है कि ईसा से सौ दो सौ वर्ष पूर्व कुछ भारतीय जातियां ईरान, आर्मीनिया आदि देशों के मार्ग से योरप चली गई थीं। इन्हें जिप्सी भी कहा जाता है। इनकी भाषा हबूड़ी है। सिंहली सिंहल द्वीप (Ceylone) की प्रमुख भाषा है।

अध्याय १०

हिन्दी का विकास

पिछले अध्याय में हिन्दी के दो रूपों का उल्लेख किया गया है—(१) पूर्वी और (२) पश्चिमी। पूर्वी हिन्दी का सम्बन्ध अर्द्धमागधी के साथ है और पश्चिमी हिन्दी का मध्यदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश के साथ। हिन्दी के इन दोनों रूपों में पश्चिमी हिन्दी का अधिक महत्त्व है क्योंकि साहित्यिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से यही सब से अधिक प्रमुख है। पूर्वी हिन्दी की सभी बोलियां साहित्यिक हिन्दी की विभाषायें ही हैं। पश्चिमी हिन्दी के महत्त्व का कारण वह विशाल परम्परा है जो उसे शौरसेनी अपभ्रंश से विरासत में मिली है। मध्यदेश की भाषा का हमेशा महत्त्व रहा है इसलिये पश्चिमी हिन्दी का महत्ता प्राप्त करना स्वाभाविक ही है। इस मुख्य कारण के अतिरिक्त पश्चिमी हिन्दी की महत्ता बनाये रखने के अन्य कारण भी हैं जिनमें राजनैतिक प्रमुखता विशेष रूप में उल्लेखनीय है।

हिन्दी के विकास को तीन युगों में विभाजित किया जाता है।

१. आदियुग (१००० ई० से १५०० ई० तक)
२. मध्ययुग (१५०० ई० से १८०० ई० तक)
३. आधुनिक युग (१८०० ई० से आज तक)

आदि युग

आदि युग में हिन्दी का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से होना प्रारम्भ हुआ था। इस युग में हिन्दी और अपभ्रंश दोनों साथ साथ भी रही हैं। बोलचाल की अपभ्रंश तो हिन्दी का रूप धारण करने लगी थी परन्तु साहित्यिक अपभ्रंश उस समय भी अपना प्रभुत्व जमाये हुए थी। पुरानी

हिन्दी और अपभ्रंश में उस समय अत्यधिक समानता थी इसलिये बहुत से विद्वान् अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कह दिया करते हैं। वस्तुत: अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी को एक ही भाषा के विभिन्न रूप मान कर अलग अलग नाम से सम्बोधित करना ही अधिक उपयुक्त है।

राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से हमें यह स्मरण रखना है कि आदि-युग से पूर्व ही भारत पर विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। ११वीं शताब्दी में तुर्कों ने पंजाब को अपने कब्ज़े में कर लिया था। महमूद गज़नवी ने १०वीं शताब्दी के अन्त और ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक आक्रमण किये थे। इसी प्रकार १३वीं शताब्दी तक तुर्क लोग आक्रान्ता विदेशी ही बने रहे। ये लोग थे तो तुर्की-भाषा-भाषी परन्तु ईरानी लोगों से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण इन्होंने फ़ारसी भाषा को भी अपना लिया था। यहां तक कि सभी राजकीय और सांस्कृतिक कार्यों में वे इसी का प्रयोग किया करते थे। पंजाब पर आधिपत्य जमाने के बाद इन लोगों ने यहाँ की रहने वाली जनता से सम्पर्क बढ़ाये और विवाह आदि के सम्बन्ध भी परस्पर होने लगे।

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी का समय राजनैतिक उथल-पुथल की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण था। इस समय भारत अनेक छोटे छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। पृथ्वीराज चौहान दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् थे। उसके राज्य में दिल्ली के साथ साथ अजमेर का राज्य भी था और उसके राज्य की सीमायें पश्चिम से तुर्क लोगों द्वारा शासित पंजाब राज्य के साथ जुड़ी हुई थीं। पूर्व की ओर कन्नौज राज्य था जिसमें अयोध्या और काशी के प्रदेश भी सम्मिलित थे। इसका अन्तिम सम्राट् जयचन्द्र था। सन् ११९१ में अफ़गान शासक वंश के मुहम्मद गौरी ने पानीपत के समीप सम्राट् पृथ्वीराज को हरा दिया। इससे अगले वर्ष ही जयचन्द्र को भी मुंह की खानी पड़ी। परिणामस्वरूप दिल्ली और कन्नौज राज्य मुसलमानों के हाथ मे चले गये। सन् १२०६ में कुतबुद्दीन ऐबक

दिल्ली का पहला सम्राट् बना। कुतबुद्दीन ऐबक मुहम्मद गौरी का गुलाम था। इसलिये इस साम्राज्य को गुलाम वश का साम्राज्य कहा जाता है। इस काल में दिल्ली साम्राज्य की सीमायें पूर्व मे बिहार और बगाल तक फैल गई थी। इसी समय से पंजाब के स्थान पर दिल्ली का महत्त्व बढ़ गया क्योंकि मुस्लिम शासकों की यही राजधानी थी। भाषा की दृष्टि से फ़ारसी को प्रमुखता प्राप्त थी परन्तु भारतीयों के साथ व्यवहार की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश बनी।

भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग किया जाता था। राजस्थान में डिंगल तथा पिंगल का व्यवहार किया जाता था। डिगल राजस्थानी भाषा का साहित्यिक रूप थी और पिंगल का सम्बन्ध पश्चिमी अपभ्रंश के साथ था। मध्यदेश में मथुरा के आसपास ब्रज भाषा का बोलबाला था। ब्रजभाषा का विकास पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ है। मध्यदेशीय भाषा होने के कारण यह सभी दिशाओं में फैली हुई थी और अन्य सब भाषाओं से अधिक प्रमुख मानी जाती थी। इसके अतिरिक्त अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि का प्रयोग किया जाता था।

उस समय की व्यावहारिक बोलचाल की अन्त:राज्यीय भाषा के नमूने प्राप्त नहीं होते। उस समय की जो सामग्री मिलती है उसमें कुछ शिलालेख, ताम्रपत्र आदि हैं और बहुत कुछ साहित्यिक ग्रन्थ हैं। शिलालेख तो बहुत कम है। उनके अतिरिक्त अन्य सामग्री प्राय: अप्रामाणिक है। कम से कम भाषा की दृष्टि से तो उसमें अनेक परिवर्तन हो चुके होंगे। फिर भी ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि व्यवहार में पश्चिमी अपभ्रंश से निकली हिन्दी का प्रयोग किया जाता था और साहित्यिक दृष्टि से राजस्थानी और ब्रज का ही अधिक महत्त्व था।

हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में पश्चिमी अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिये है। हेमचन्द्र का समय सन् १०८८-११७२ माना जाता है।

उसके दिये हुए उदाहरणों से हिन्दी के विकास का प्रारम्भिक रूप देखने को मिल जाता है—

> भल्ला हुआ जु मारिग्रा बहिणि महारा कन्तु ।
> लज्जेजम् तु वअस्सिग्रहु, जई भग्गा घरु एन्तु ।

अर्थात् हे बहन ! यह ग्रच्छा हुआ कि मेरा पति मारा गया, यदि वह भागा हुआ घर आता तो मुझे सखियों के मध्य लज्जित होना पड़ता । भल्ला>हिं० भला, हुआ>हिं० हुग्रा, मारिग्रा>हिं० मारा, महारा> हि० हमारा, भग्गा>हिं० भागा ग्रादि रूप हिन्दी के प्राचीन रूपों का ही संकेत करते दिखाई देते हैं । इसी प्रकार हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण से ग्रन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं ।

प्राचीन ग्रन्थों में चन्दवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो का महत्त्वपूर्ण स्थान है । चन्द पृथ्वी राज के समकालीन थे । उनका काव्य रचना करने का समय सन् ११६८ से ११९२ तक माना जाता है परन्तु पृथ्वीराज-रासो की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है कम मे कम भाषा की दृष्टि से तो इसे बारहवीं शताब्दी की भाषा का नमूना नहीं माना जाता । डा० सुनीति-कुमार चैटर्जी इसकी भाषा को बोलचाल की भाषा न मानकर साहित्यिक बोली मानते है[1] ।

हिन्दी के विकास की दृष्टि से खुसरो का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है । अमीर खुसरो का समय सन् १२२५ से १३२५ तक माना जाता है । खुसरो ने अधिकांश में फ़ारसी ग्रन्थ लिखे । उनके नाम से प्रचलित अनेक पहेलियां और मुकरियां हैं । इनकी भाषा बहुत कुछ ग्राधुनिक हिन्दी है जिससे यह प्रतीत होता है कि लोक व्यवहार में इनकी भाषा में बहुत परिवर्तन हो गये है । ऐसा माना जा सकता है कि अमीर खुसरो की भाषा उसके ग्रपने काल में लोक-व्यवहार में प्रचलित भाषा रही होगी । यह

---

1. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी ।

भाषा प्राचीन खडी बोली ही थी । इस पर ब्रजभाषा का विशिष्ट प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त १२वी से १३वी शताब्दी के बाबा फरीद द्वारा हिन्दी मे काव्य रचना करने की बात भी कही जाती है । बाबा फरीद सूफी सत थे । उनका पूरा नाम शेख फरीदुद्दीनगज-शकर था । उनका जन्म ११७३ ई० मे तथा मृत्यु १२६६ ई० मे मानी जाती है । उनकी रचनाये गुरुग्रन्थ-साहिब मे सकलित है । भापा की दृष्टि से खडी बोली की प्रधानता है । परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि गुरुग्रन्थ-साहिब का सकलन बहुत बाद मे अर्थात् सन १६०४ मे पॉचवे सिख गुरु अर्जुनदेव द्वारा किया गया था इसलिये उसमे परिवर्तन हो जाने की सम्भावना बनी रहती है । उस भापा को भी आदि युग की भाषा का नमूना नही माना जा सकता ।

कबीर तथा अन्य सन्त कवियो की रचनायें सामान्य भाषा की है । कबीर का जन्म सन् १३९८ और मृत्यु सन् १५१८ में मानी जाती है । कबीर की भाषा मे अनेक भाषाओ के रूप देखने को मिलते है इसलिए किसी एक भाषा पर जोर देकर कबीर की रचनाओं की वही भाषा मान ली जाती है । कोई उनकी भाषा को पूर्वी कहता है तो कोई राजस्थानी । अनेक भाषाओ के मिश्रण को देखकर कबीर की भाषा खिचडी भी कह दी जाती है । कबीर वस्तुत: अपने विचारो का प्रचार करना चाहते थे इस लिये उन्होने अवश्य भापा के सर्व सामान्य रूप को अपनाया होगा । यह भापा पश्चिमी अपभ्र श से निकली ब्रजभाषा मिश्रित हिन्दी (खडी बोली) ही रही होगी । भाषा की दृष्टि से कबीर की उपलब्ध प्रामाणिकतम रचनाओ को भी सर्वांश मे कबीर के समय की भाषा का नमूना नही माना जा सकता क्योकि कबीर की रचनाये कबीर के शिष्यो द्वारा सकलित की गई थी और जो हस्तलिपियाँ मिलती है वह बाद की है । गुरु नानक की वाणी भी खडी बोली प्रधान थी ।

सन् १३२६ मे मोहम्मद तुगलक ने दक्षिण पर आक्रमण किया । उसके बाद अनेक मुसलमान दक्षिण की ओर भी बढ गये । ये लोग अपने

साथ दिल्ली की सामान्य व्यवहार में आने वाली भाषा भी ले गये। यह भाषा बाद में दक्खिनी हिन्दी और उर्दू के रूप में प्रचलित हुई। इस भाषा के लेखकों में बंदानिवाज का नाम विशेषतया लिया जाता है। उसका समय सन् १३२१ से १४५२ नक माना जाता है। बाद में अन्य अनेक रचनायें लिखी गईं। इन रचनाओं की भाषा मुख्य रूप में खड़ी बोली है जो एक ओर तो ब्रज भाषा से प्रभावित है तो दूसरी ओर फ़ारसी से। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्तर से जो भाषा दक्षिण की ओर गई वह ब्रजभाषा प्रभावित खड़ी बोली ही थी। खड़ी बोली और ब्रज दोनों पश्चिमी अपभ्रंश से निकली हैं इसलिये यह कहना असंगत न होगा कि आदि युग में पश्चिमी अपभ्रंश का साहित्यिक स्थान ब्रजभाषा ने ग्रहण किया और लोक सामान्य व्यवहार का स्थान खड़ी बोली ने। यद्यपि राजस्थानी आदि के कारण ब्रज भाषा आदियुग में बहुत अधिक महत्त्व तो प्राप्त न कर सकी तथापि उसकी परम्परा विद्यमान थी जिसका विकास आगे चल कर हुआ।

मध्यकाल

सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक का काल हिन्दी का स्वर्ण काल माना जाता है। भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से इस काल का महत्त्व है। काव्य की विभिन्न धारायें सुस्पष्ट होकर प्रवाहित हो रही थी और भाषा का भी स्वरूप निश्चितप्राय हो गया था। बोलचाल की भाषा के रूप में खड़ी बोली अभी विकसित हो रही थी परन्तु साहित्यिक क्षेत्र में प्रमुख स्थान ब्रज और अवधी को प्राप्त था। अवधी में लिखा रामचरितमानस तो हिन्दी साहित्य का उत्कृष्टतम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सन् १५७५ है। इस की भाषा ठेठ अवधी होते हुए भी तत्सम प्रधान है। इस से पूर्व जायसी बोलचाल की अवधी में पद्मावत जैसे उच्चकोटि के महाकाव्य की रचना कर चुके थे। जायसी की भाषा का रूप सर्वसामान्य है जिससे यह प्रतीत होता है कि उनके काल में अवध

प्रदेश में अवधी ही बोली जाती थी। यह पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत है। इस की अपेक्षा ब्रजभाषा का महत्त्व अधिक था। सूरदास नन्ददास तथा अन्य अष्टछाप कवियों ने पश्चिमी अपभ्रंश की विरासत रूप में इस भाषा का स्वागत किया और इस में उत्कृष्ट कोटि के साहित्य का निर्माण किया। ब्रजभाषा के महत्त्व का कारण अधिकांश धार्मिक है। ब्रज भाषा कृष्ण के मथुरा-वृन्दावन की भाषा है इसलिये कृष्ण भक्त कवियों का इसके प्रति मोह स्वाभाविक ही है। कृष्ण भक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य कवि भी इसके साहित्यिक महत्त्व को स्वीकार कर इस में साहित्य-रचना करते थे। रामभक्त तुलसीदास ने जहां अवधी में साहित्यरचना की वहां ब्रज-भाषा में उन्होंने विनयपत्रिका, गीतावली आदि ग्रन्थ लिखे। ब्रजभाषा साहित्यिक भाषा होने के साथ साथ ब्रज प्रदेश की बोलचाल की भाषा थी।

सत्रहवीं शताब्दी और उनके बाद का प्राय: सारा मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य ब्रजभाषा में ही लिखा गया। इससे भी ब्रजभाषा के महत्त्व का स्पष्ट परिचय मिलता है।

यद्यपि खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप आदि युग में ही विकसित हो चुका था तथापि खड़ी बोली में साहित्य-रचना नहीं की गई। इस दृष्टि से ब्रजभाषा और अवधी के सामने इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। मध्ययुग के राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना यह है कि भारतीय साम्राज्य की बागडोर तुर्कों के हाथ से निकलकर मुग़ल सम्राटों के हाथों में आगई। यह परिवर्तन लगभग १५२६ ई० में हुआ जब बाबर भारत का सम्राट् बना। इनमें सहिष्णुता की भावना बहुत थी इसलिये भारतीयों के साथ इनके सम्बन्ध अच्छे रहे। मुग़ल बादशाहों ने भारत की भाषाओं में साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा का ही अधिक सम्मान किया। बाबर के पौत्र अकबर के नाम से कुछ दोहे प्रचलित है उनकी भाषा भी ब्रज है। जैसे—

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि।
ताको जनम सफल है, कहत अकब्बर साहि॥

इसी प्रकार

पीथल[1] सों मजलिस गई, तानसेन सों राग।
हँसिबौ, रमिबौ, बोलिबौ, गयौ बीरबल साथ॥

जहांगीर, शाहजहां और औरंगज़ेब के भी दरबारों में ब्रजभाषा का ही महत्त्व माना जाता है।

खड़ी बोली के आदि कवि अमीर खुसरो थे परन्तु उनके समय में साहित्यिक दृष्टि से इसे अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं था। अमीर खुसरो को अपवादस्वरूप माना जासकता है। कबीर फरीद आदि सन्त कवियों ने भी इसे अपनाया। गुरुनानक आदि सिख गुरुओं की भाषा अधिकतर यही रही। मध्ययुग में खड़ी बोली के अस्तित्व के कुछ अन्य प्रमाण भी मिलते है। चौदहवीं शताब्दी के आसपास दक्षिण में उत्तरी भारत के मुसलमानों के साथ जो बोलचाल की भाषा गई थी उसने १७वीं शताब्दी में साहित्यिक रूप धारण कर लिया था। इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आदि और मध्ययुग में विदेशियों ने जहाँ कहीं भारतीय शब्दों का दिया है वे खडी बोली के ही है। मोर-क्को के इब्न-बतूता (सन् १३०४ से १३७८ तक) की भ्रमण-कथा में खड़ी बोली के शब्द मिलते है। बाबर के नाम से भी एक दोहा मिलता है जिसकी भाषा अरबी-तुर्की मिश्रित खड़ी बोली है।

मुज-का न हुआ कुज हवस-ए-मानक-ओ-मोती।
फुक़रा हालीन बस बुल्गुसिदुर पानी-ओ-रोती॥[2]

खड़ी बोली का वास्तविक विकास उत्तरभारत में न होकर दक्षिण भारत में हुआ। उत्तर भारत में तो ब्रजभाषा अपना आधिपत्य जमाये हुए

---

1. बीकानेर के पृथ्वीराज को पीथल कहा है।

2. इस का अर्थ यह है कि मुझे माणिक्य और मोतियों की इच्छा नहीं है। फ़कीरी हाल में रहने वालों के लिये पानी और रोटी ही काफ़ी हैं।

थी परन्तु दक्षिण भारत मे इसके विकास का वातावरण अधिक अच्छा था। सम्भावना तो यह है कि प्रारम्भ मे दक्षिण मे हिन्दी की अनेक बोलिया पहुँची होगी परन्तु धीरे धीरे इन्होने एक परिष्कृत रूप धारण किया और साहित्यिक भाषा का विकास होने लगा। सोलहवी शताब्दी मे गोलकुण्डा के कवि मुल्ला वज्ही तथा सुलतान मुहम्मद कुली-कुत्ब-शाह (१५८०—१६११) ने इस मे साहित्य रचना की। भाषा-परम्परा की दृष्टि से यह भाषा भी पूर्णतया सस्कृत और प्राकृत से प्रभावित थी और इसकी रचनाशैली भी भारतीय परम्पराओ के अनुकूल थी। केवल लिपि फारसी थी इसी प्रकार अन्य मुसलमान कवि भी इसी भाषा मे ग्रन्थ लिखते रहे। ये लोग उत्तर भारत के फारसी प्रभाव से बहुत दूर थे इस लिये इस भाषा मे फारसी के शब्द नही थे।

उत्तरी भारत की लोक-सामान्य भाषा (खडी बोली हिन्दी) का व्यवहार करने वाले लोगो का भी दक्खिनी हिन्दी से परिचय हुआ और वे भी उसमे साहित्य-रचना करने लगे। इन्होने दरबारी भाषा फारसी के शब्दो का खुलकर प्रयोग किया। अठारहवी सदी के वली इस भाषा मे लिखने वाले पहले कवि थे। वे उर्दू के पहले कवि माने जाते है। उनका रचना काल अठारहवी सदी का प्रारम्भ ही है। वे हैदराबाद (दक्खन) के ही थे। उस समय फारसी शब्दो को जान बूझ कर भाषा पर लादा नही जाता था। वे शब्द इधर उधर बिखरे हुए ही रहते थे इसलिये उर्दू के प्रारम्भिक रूप को रेख्ता (बिखरी हुई) कहा जाता था। कबीर और फरीद की भाषा को भी रेख्ता कहा जाता था। इस भाषा का उत्तर भारत मे विशेष प्रचार हुआ क्योकि उस समय की आवश्यकता को इसने पूर्ण किया। यह भी फारसी लिपि मे लिखी जाती थी और अधिकतर मुसलमानी भाषा के रूप मे विख्यात थी। यही बाद में उर्दू बनी तथा देश की परम्पराओं को छोड कर अरबी फारसी के साथ ही अधिक सम्बन्धित होगई। दक्खनी को पहले हिन्दवी कहा जाता था परन्तु इस नाम को छोड दिया गया। इसका एक नाम हिन्दोस्तानी भी चल पड़ा था परन्तु दरबारी भाषा को ज़बाने उर्दू

कहने के कारण बाद में यह उर्दू के नाम से भी प्रसिद्ध हो गई। इस का प्रचार दिल्ली में तो था ही लखनऊ आदि नगरों में भी होने लगा। इसके मुख्य कवियों में मीर, सौदा, इंशा, ग़ालिब, ज़ौक और दाग़ के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक युग

उर्दू मुसलमानों की भाषा मानी जाती थी। हिन्दुओं द्वारा प्रारम्भ में उसकी उपेक्षा की गई। परन्तु इसके दरबारी महत्त्व को देखते हुए इसकी उपेक्षा नहीं की जासकती थी। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक उनका ध्यान भी इस ओर आकर्षित होने लग गया था और वे इसे खड़ी बोली कहने लग गये थे। खड़ी बौली नाम के सम्बन्ध में तो विशेष मत-भेद है। सम्भवत: उर्दू के मुकाबले में ब्रज, अवधी आदि को पड़ी (हुई) भाषायें मान कर उर्दू को खड़ी (हुई) भाषा मान लिया गया। यह भाषा वैसे तो अमीर खुसरो से भी पूर्व की है और जब तक दक्खिनी के रूप में रही तब तक देश की परम्परा के अनुसार ही विकसित होती रही परन्तु जब इस भाषा में मुमलमानों के द्वारा अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग अधिक बढ़ता देखा गया तो हिन्दुओं में संस्कृत के शब्दों को डालने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। हिन्दी का आधुनिक रूप इसी से विकसित हुआ है।

राजनैतिक-दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी के अन्त में मुग़ल साम्राज्य के नष्ट होने के लक्षण दिखाई देने लग गये थे। दिल्ली पर आधिपत्य जमाने वाली तीन शक्तियाँ प्रकट होने लगीं—मराठा, अफ़ग़ान और अंग्रेज। सन् १७६१ ई० में पानीपत की लड़ाई में अफ़ग़ानों के हाथों मराठों को करारी चोट पहुँची। सन् १७६४ में अंग्रेज़ों की सेनायें बढ़ते बढ़ते हिन्दीप्रदेश तक आ पहुँची थीं। उन्नीसवीं सदी में तो अंग्रेजों का भारत पर एकाधिकार ही हो गया। इस समय अंग्रेज़ों को यहाँ के लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये यहाँ की भाषायें सीखने की आवश्यकता प्रतीत हुई, इसलिये फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की गई। इसी कालेज में लल्लूलाल

ने रह कर प्रेमसागर नामक ग्रंथ की रचना की। इसकी भाषा परम्परा प्राप्त हिन्दवी या खड़ी बोली भी है जिस पर ब्रज और संस्कृत का प्रभाव देखने को मिलता है। बहुत से विद्वान् उत्तरी भारत के मुसलमानों द्वारा अरबी, फ़ारसी से लदी हिन्दवी के उर्दू रूप को ही मूल रूप मान कर यह भूल कर बैठते हैं कि संस्कृत-प्रभावित हिन्दी का विकास उर्दू से बाद में हुआ। वे इसके दक्खिनी रूप तथा इससे पूर्व उत्तर भारत में सर्वसामान्य भाषा के रूप में प्रचलित स्वरूप को सर्वथा भुला देना चाहते हैं। यह कहना तो बहुत विचित्र प्रतीत होता है कि लल्लू लाल जी ने एक नई भाषा का आविष्कार किया था। यह बात ग्रियर्सन ने कही भी है।[1] वस्तुत: उर्दू शाही दरबार तक सीमित थी—सामान्य व्यवहार में परम्पराप्राप्त भाषा ही जिसमें अरबी, फ़ारसी के शब्दों की संख्या नगण्य थी, प्रचलित थी। उसी भाषा का उपयोग भारत के विशाल भूभाग के पारस्परिक व्यवहार के लिये किया जाने लगा। उसे साहित्यिक रूप देने के लिये संस्कृत शब्दों का प्रयोग देश की परम्पराओं के सर्वथा अनुकूल और स्वाभाविक था। अंग्रेज़ों ने यद्यपि शासनीय भाषा उर्दू को प्रश्रय दिया परन्तु वे सामान्य लोगों की भाषा खड़ी-बोली हिन्दी की सर्वथा उपेक्षा न कर सके।

इस प्रकार खड़ी बोली हिन्दवी की दो शैलियाँ हिन्दी और उर्दू के रूप में चल निकलीं। अनेक लोगों ने अरबी-फ़ारसी और संस्कृत के प्रभाव से मुक्त शुद्ध या ठेठ हिन्दवी लिखने के भी प्रयास किए। इनमें इंशा-अल्लाखां का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी 'ठेंठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' लिख कर इस दिशा में अच्छा प्रयास किया परन्तु यह शैली अधिक सफल नहीं हो पाई और न ही इसका विशेष प्रसार हो सका। वस्तुत: खड़ी बोली को अपने

---

१. **दे. लालचंद्रिका की भूमिका।**

"Such a language did not exist in India before...... when, therefore, Lallujilal wrote his Premsagara in Hindi, he was inventing an altogether new language."

शब्द-कोष विस्तृत करने की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्त्ति या तो संस्कृत कर सकती थी या फ़ारसी अथवा इन दोनों का सम्मिलित रूप उसे शक्ति प्रदान कर सकता था। जिस वातावरण मे हिन्दी और उर्दू का विकास हो रहा था उसे देखते हुए अन्तिम सम्भावना बिल्कुल कम होती जा रही थी। परिणामस्वरूप हिन्दी और उर्दू भिन्न भिन्न भाषाओं के रूप में ही विकसित हुईं।

अध्याय ११

हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी

पिछले अध्याय मे हिन्दी का विकास बताते हुए हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया गया है। इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तर को पूर्णतया ध्यान मे रखने की आवश्यकता है । विकास की दृष्टि से इन तीनों का मूलस्रोत एक ही है परन्तु भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पड़ कर ये अलग अलग भाषायें बन गई है और एक भाषा से दूसरी भाषा का बोध नही होता।

हिन्दी

आजकल हिन्दी भाषा का प्रयोग भारत के एक विशाल भू-भाग की भाषा के लिये किया जाता है। भारत के अधिकांश लोग इस भाषा का अन्त:राज्यीय दृष्टि से व्यवहार करते है। मुख्य-रूप में पंजाब के कुछ भाग, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश और बिहार हिन्दी के केन्द्र माने जाते है।

मूल रूप में हिन्दी शब्द का सम्बन्ध हिन्द के साथ है। भारत का एक नाम हिन्द भी है। अतिप्राचीन काल में आर्य लोग सप्तसिंधु प्रदेश के निवासी माने जाते थे। सम्भवत: उन्होने अपनी पवित्र-भूमि को आर्यावर्त्त का नाम भी दिया था। इस भूमि-भाग के लिये भारत-खण्ड या भारत-भूमि शब्द का भी प्रयोग किया जाता था । बौद्ध-धर्म के अनेक प्राचीन ग्रन्थों में भारत के लिए जम्बूद्वीप शब्द का प्रयोग भी किया गया। इन सब शब्दों का प्रयोग सम्भवत: उत्तरी भारत के लिए किया जाता था। हिन्द जैसे व्यापक प्रदेश को व्यक्त करने वाले शब्द का सम्बन्ध इन प्राचीन

शब्दों में से किसी के साथ नहीं है। सप्तसिन्धु प्रदेश के सिन्धु शब्द से ही हिन्द शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। ईरानी लोग 'स्' को 'ह्' रूप में उच्चरित करते हैं यही कारण है कि संस्कृत के अनेक शब्द जिनमें 'स्' है ईरानी में 'ह्' परिवर्तन के साथ मिलते हैं। सिन्धु का ईरानी रूप हिन्दु बना। धीरे धीरे यहां के लोगों को हिन्दू कहा जाने लगा और हिन्दुओं के प्रदेश को हिन्द। वैसे हिन्द के निवासी अर्थ में कहीं कहीं हिन्दी शब्द का भी प्रयोग किया जाने लगा।[1] अंग्रेज़ी का इण्डिया (India) शब्द भी इसी के साथ सम्बन्धित है। ग्रीक में सिन्धु नदी के लिये 'इन्दोस' शब्द का प्रयोग किया जाता है। सम्भवत: स् का ग्रीक में लोप हो गया। यहाँ के लोगों के लिए 'इन्दोई' शब्द का तथा इस प्रदेश के लिए 'इन्दिके' अथवा 'इन्दिका' शब्द का भी प्रयोग किया जाने लगा। यही शब्द लैटिन में इण्डिया है। सम्भवत: प्राचीनकाल में हिन्द शब्द का प्रयोग केवल उत्तरी-भारत के लिए किया जाता था परन्तु अब काश्मीर से कन्या कुमारी तथा अमृतसर से आसाम तक हिन्द का प्रदेश माना जाता है। सन् १९४७ से पूर्व पाकिस्तान भी हिन्द का ही एक भाग माना जाता था और इस से पूर्व ब्रह्मा और सीलोन भी हिन्द का ही एक भाग थे। अंग्रेज़ी का इण्डिया शब्द हिन्द का समानार्थक ही है।

भाषा के अर्थ में हिन्दी शब्द का प्रयोग बहुत बाद में किया जाने

---

१. अमीर खुसरो ने हिन्दू और हिन्दी शब्दों का अलग अलग अर्थों में व्यवहार किया है। उसने हिन्दी का अर्थ हिन्द के रहने वाले मुसलमान किया है और हिन्दुओं से उन्हें पृथक् माना है। आजकल 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई सभी केलिये किया जाता है; जैसे, हिन्दी-चीनी भाई भाई या इकबाल के प्रसिद्ध गीत की यह पंक्ति—हिन्दी है हम वतन है हिन्दोस्तां हमारा।

लगा। इसके पुराने नाम हिन्दुई, हिन्दवी[2], हिन्द्वी, दक्खिनी (दखनी या दकनी भी), हिन्दुस्थानी (हिन्दोस्तानी या हिदुस्तानी भी), खडी—बोली आदि भी है। हिन्दुई, हिन्दवी और हिन्द्वी से ही हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। जब पहले-पहल मुसलमान भारत मे आए और पजाब तथा दिल्ली के आस पास के प्रदेश मे बस गए तो उन्होने यहा पर बसे हुए हिन्द-वासियो या हिन्दुओ की बोलचाल की भाषा सीखी। हिन्द के लोगो या हिन्दुओ की भाषा होने के कारण इसे हिन्दुई आदि नाम दिए गए। बाद मे यही भाषा इन स्थानो पर बसे हुए मुसलमानो की भाषा हो गई परन्तु नाम यही चलता रहा। हिन्दुई नाम से यह समझ लेना कि यह भाषा हमेशा हिन्दुओ की ही रही है, मुसलमानो ने इसे कभी नही अपनाया, बहुत बडी भूल होगी। किसी एक देश का निवासी दूसरे देश मे जा कर यदि वहा की भाषा सीख लेता है तो वह उस भाषा के नाम मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही करता। इसी प्रकार मुसलमानो ने भी यहा की भाषा को समझा, सीखा और उसी का व्यवहार भी किया जैसा कि स्वाभाविक है। उन्होने इस का मूल नाम रहने दिया।

जब उत्तर भारत के मुसलमान हिन्दुई, हिन्दवी या हिन्द्वी को साथ ले कर दक्षिण भारत मे पहुचे तो इस का प्रयोग वहा भी होने लगा। बाद मे इसी का नाम दक्खिनी पड गया। वस्तुत: दक्खिनी या हिन्दुई मे कोई अन्तर नही हे, केवल स्थान भेद से कुछ अन्तर आ जाना स्वाभाविक ही है। दखनी या दक्नी दक्खिनी शब्द के ही रूपान्तर है। इसी लिए शुद्ध सस्कृत शब्द दक्षिणी है।

विभिन्न प्रदेशो के निवासी उत्तरभारत विशेषतया उत्तरप्रदेश के

---

२. अमीर खुसरो ने हिन्दवी शब्द का प्रयोग किया है—चू मन तूतिये हिन्दम् अर रास्त पुर्सी जे मन हिन्दवी पुर्स ता नगज गोयम्। अर्थात् मै हिन्द की तूती हू और अगर तू ठीक पूछता है तो मुझ से हिन्दवी मे पूछ जिस से मै बढ़िया कह सकू।

लिए हिन्दुस्थान शब्द का प्रयोग करते हैं इसी लिए वहाँ से आए व्यक्ति और उसकी भाषा को हिन्दुस्थानी या हिन्दुस्तानी (हिन्दोस्तानी) कहते है। यह नाम भी तुर्कों द्वारा दिया हुआ ही प्रतीत होता है। जब तुर्कों ने यहां के लोगों को हिन्दु माना तो उनके प्रदेश को हिन्द या हिन्दुस्तान भी मान लिया। यहां की भाषा के लिये हिन्दुस्थानी या हिन्दुस्तानी नाम प्रचलित हो जाना स्वाभाविक है। यह भाषा उस समय उत्तरभारत मे बोली जाने वाली प्राचीन हिन्दवी ही हो सकती है। जिस प्रकार भारतीय प्रदेश के लिए हिन्द और हिन्दुस्थान दोनों शब्दों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार यहां की भाषा के लिए भी हिन्दी या हिन्दुस्थानी दोनों शब्दों का प्रयोग करना स्वाभाविक ही है।

बाद में हिन्दी और उर्दू के दो विभिन्न भाषाओं के रूप में विकसित हो जाने और फिर से हिन्दुस्थानी का एक नया आन्दोलन छिड़ जाने के कारण हिन्दुस्थानी की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमिका को भुला दिया गया और यह कहा जाने लगा कि हिन्दुस्थानी संस्कृत-निरपेक्ष और फ़ारसी-निरपेक्ष भाषा थी जिस से हिन्दी और उर्दू का विकास हुआ।[1] ग्रियर्सन ने इस विचार को स्वीकार किया है और उनका यह भी कहना है कि 'हिन्दुस्तानी' शब्द का व्यवहार योरप के प्रभाव के अन्तर्गत किया जाने

1. "We may now define the three varieties of Hindostani as follows :—Hindostani is primarily the language of the Upper Gangetic Doab, and is also the lingua franca of India, capable of being written in both Persian and Devanagri characters, and without purism, avoiding alike the excessive use of either persian or Sanskrit words when employed for literature. The name 'Urdu' can therefore be confined to that special variety of Hindostani in which Persian words are of frequent occurrence and which hence can only be written in the Persian character, and similarly, Hindi can be confined to the form of Hindostani in which Sanskrit words abound, and which hence can only be written in the Devanagri character." Grierson : Linguistic Survey of India. Vol. IX Part I p.43.

लगा है ।[1] वस्तुत: यह बात ठीक नहीं । हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग बाबर ने आत्मचरित में किया है ।[2] वहां पर हिन्दुस्तानी को भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है । पिछले पृष्ठों में बाबर के एक दोहे का उद्धरण भी दिया गया है। उसकी भाषा हिन्दी है परन्तु अरबी-तुर्की शब्दों का प्रभाव है । स्पष्ट है कि बाबर ने जिस हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया है वह हिन्दी का पर्यायवाची है परन्तु स्वयं पूरी तरह से हिन्दी में अभ्यस्त न होने के कारण उसने अरबी और तुर्की के शब्दों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया है । बाबर के हिन्दी न जानने की बात भी आत्मचरित के नीचे पाद-टिप्पणी में दिये हुये उद्धरण से स्पष्ट है। योरप के लोगों के आने से बहुत पूर्व बाबर द्वारा हिन्दोस्तानी शब्द का प्रयोग इस बात का प्रबल प्रमाण है कि यह शब्द योरप के लोगों की देन नहीं है । सम्भवत: आधुनिक युग में हिन्दी और उर्दू की मिश्रित शैली के रूप में अथवा इन में आये संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों से रहित भाषा के रूप में इस नाम को अधिक प्रचलित करने का श्रेय उनको दिया जा सकता है । जब अंग्रेज़ लोग भारत में आये तो उस समय स्थिति बहुत बदल चुकी थी । हिन्दुस्थानी में अरबी-फ़ारसी के शब्दों को जोड़ कर उर्दू का विकास किया जा चुका था और वह कचहरियों की भाषा भी बनी हुई थी जिसे बढ़ावा देने वाले मुस्लिम शासक थे इस लिये अंग्रेज़ों ने इसे ही हिन्दुस्थानी मान लिया और इसी के नाम पर वे उर्दू को बढ़ावा देने लगे । अंग्रेज़ों की यह राजनैतिक चाल थी परन्तु पादरी केलॉग ने अपने हिन्दी भाषा के व्याकरण की दिसम्बर, १८९५ में लिखी भूमिका में हिन्दी और उर्दू के सम्बन्ध में

---

1. "The word 'Hindostani' was coined under European influence, and means the language of Hindostan." Grierson : Linguistic Survey of India Vol. IX Part I P. 43

2. I have made him sit down before me and desire a man who understood the Hindustani Language to Explain to him what I said sentence by sentence in order to reassure him." Memoirs of Babar, Lucas, King Edition Vol. II P. 170.

अत्यन्त स्पष्ट शब्दों मे लिखा है कि हिंदी भारत के बहुसंख्यक लोगों की भाषा है और उर्दू हिन्दी का फ़ारसी-प्रभावित रूप है तथा केवल शासकीय या मुसलमानों की भाषा है ।[1]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी उर्दू से पहले की एक भाषा थी। इस में देश की परम्पराओं के अनुसार संस्कृत के तत्सम, तद्भव और देशज शब्द थे। जिस प्रकार अरबी-फ़ारसी से अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषायें प्रभावित हुई उसी प्रकार हिन्दी भी परन्तु हिन्दी की सारी शब्द-सम्पत्ति स्वाभाविक थी इस लिये यह अरबी-फ़ारसी के शब्दों से लदी हुई नहीं थी। जब जानबूझ कर इसमें से संस्कृत के शब्द निकाल निकाल कर अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे जाने लगे तो इसने उर्दू का रूप धारण कर लिया। हिन्दुस्तानी और हिन्दी को विभिन्न भाषायें मान कर हिन्दी और उर्दू को हिन्दुस्तानी का रूपान्तर मानना सर्वथा गलत है।

उर्दू

यद्यपि हिन्दी और उर्दू की उत्पत्ति और विकास का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है तथापि इसके सम्बन्ध में जो ऊपर विचार किया गया है वही अधिक स्वाभाविक और युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। हिन्दी का अन्य आधु-

1. "Of the two hundred and fifty million inhabitants of India, speaking a score or more of different languages, fully one fourth, or between sixty and seventy millions, own the Hindi as their vernacular......in short, throughout an area of more than 248,000 square miles, Hindi is the language of the great mass of population. Only where Mohammedan influence has long prevailed, as in the large cities, and on account of the almost exclusive currency of Mohammedan speech in Government offices have many Hindus learned to condemn their native tongue and affect the Persianized Hindi known as Urdu." Rev. S.H Kellogg: A Grammar of the Hindi Language, Preface, P. III-

निक भारतीय आर्यभाषाओं के समान ही विकास हो रहा था; यदि तुर्की आक्रमण न होते तब उसका स्वाभाविक विकास, चाहे कुछ देर बाद ही, अवश्य होता और उसमे विदेशी शब्द न होते। परन्तु उर्दू की अपनी कोई विशिष्ट परम्परा नही है। उसका विकास तो हिन्दी से ही हुआ है। जिस प्रकार आजकल हिन्दी की वाक्य-रचना मे अग्रेजी शब्दो का प्रयोग कर एक प्रकार आङ्गल-भारतीय (Anglo-Indian) भापा का निर्माण कर लिया जाता है उसी प्रकार हिन्दी के परम्परा प्राप्त शब्दों के स्थान पर अरबी-फारसी (शासकीय भाषा) के शब्द रख कर उर्दू का निर्माण कर लिया गया। सौभाग्य से तथाकथित आङ्गल भारतीय (हिन्दी-अग्रेजी मिश्रित) भापा को न तो सामान्य जनता ने अपनाया और न ही उसे साहित्यिक संरक्षण प्राप्त हुआ; अग्रेजी साम्राज्य से मुक्ति प्राप्त करने की उत्कट भावना ने ऐसा होने भी नही दिया नही तो शायद यह भी उर्दू के समान ही एक विशिष्ट भाषा का रूप धारण कर लेती परन्तु उर्दू का मार्ग प्रशस्त था। इसका व्यवहार मुसलमान जनता द्वारा किया जाने लगा क्योकि इन्हे अरबी-फारसी से मोह था; दूसरे इसको मुगल शासको द्वारा सरक्षण प्राप्त था इसी लिये इसमे साहित्य-रचना भी होने लगी और इसने भारतीय भाषाओं मे अपना एक स्थायी स्थान बना लिया।

उर्दू शब्द ही इस बात का प्रमाण है कि यह भापा वास्तव मे एक कृत्रिम वातावरण मे निर्मित हुई परन्तु विशिष्ट वर्ग मे आदृत होने के कारण प्रगति के पथ पर अग्रेसर होती गई। सामान्य तौर पर यह माना जाता रहा है कि उर्दू तुर्की शब्द है जिसका अर्थ तुर्की भाषा मे बाजार है। इस लिये उर्दू प्रारम्भ मे एक बाजारू भापा थी। तुर्की मे उर्दू का अर्थ पडाव अथवा शिविर भी होता है। इस शब्द का सम्बन्ध अग्रेजी होर्ड (Horde) तथा रूसी ओर्द (Orda) से भी माना जाता है। यह कहा जाता है कि बाबर के समय शाही पड़ाव को उर्दू कहा जाता था। जब मुगल शासको ने दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया और वही पड़ाव डाल कर रहने लगे तो शाही स्थान का नाम 'उर्दू-ए-मुअल्ला' पड़ गया।

'मुअल्ला' का अर्थ है 'महान्' । पूरे वाक्यांश का अर्थ है 'महान् शिविर' । मुगल शासकों के इस उर्दू या पड़ाव के स्थान पर जिस तुर्की-अरबी-फ़ारसी मिश्रित भाषा का विकास होने लगा उसी को ज़बाने उर्दू कहा जाने लगा। इसका शरीर तो हिंदी या हिन्दुस्थानी ही रहा परन्तु वेषभूषा अरबी-फ़ारसी के कारण सर्वथा बदल गई । इसी ज़बाने उर्दू को बाद में केवल 'उर्दू' ही कहा जाने लगा। अब भी पेशावर की सीमा पर उर्दू का अर्थ सैनिक-शिविर ही है ।

उर्दू के लिये 'रेख़्ता' शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्त्रियों की भाषा के लिये 'रेख़्ती' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है । रेख़्ता का अर्थ है छितरे हुये । हिन्दी में कहीं कहीं अरबी-फ़ारसी के शब्दों के छितरे हुये होने के कारण हिंदी का एक रेख़्ता पड़ गया था । वस्तुत: रेख़्ता हिन्दी की ही एक शैली थी । उर्दू की अपेक्षा इस में अरबी-फ़ारसी के शब्द अपेक्षाकृत कम होते थे । उर्दू की देखा-देखी रेख़्ता में भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगा परिणामस्वरूप इन दोनों में कोई भेद नहीं रह गया और रेख़्ता तथा उर्दू को एक भाषा माना जाने लगा। रेख़्ता का अर्थ गिरता या पड़ता भी माना जाता है। सम्भवत: उर्दू के मुकाबले में हिन्दी की इस शैली को गिरी हुई या पड़ी हुई मान कर उर्दू को खड़ी बोली कहा जाने लगा होगा । पहले कहा जा चुका है कि खड़ी बोली शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न अभी हल नहीं किया जा सका। लोगों का यह भी विचार है कि इसका सम्बन्ध खरी अर्थात् टकसाली शब्द से है । विकृत होकर यही शब्द खड़ी बन गया है । इस शब्द का प्रारम्भिक प्रयोग तो उर्दू के लिये किया गया परन्तु बाद में इसका व्यवहार हिन्दी के लिये भी किया जाने लगा । खड़ी बोली हिन्दी और खड़ी बोली उर्दू इन दोनों का प्रयोग होता है। हिन्दी की पुस्तकों में खड़ी-बोली से अभिप्राय आधुनिक साहित्यिक हिन्दी से होता है, ब्रज, अवधी आदि हिन्दी की अन्य बोलियों से इस का भेद बताने के लिये भी इस शब्द का व्यवहार किया जाता है। खड़ी बोली दिल्ली-मेरठ के आस पास के

प्रदेश की बोली भी मानी जाती है। वस्तुत: हिन्दी और उर्दू के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को जताने वाला यह शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ग्रैहम बेली का यह विचार है कि उर्दू भाषा का उद्भव खड़ी बोली से नहीं हुआ बल्कि इसका सम्बन्ध पंजाबी से है। उनका कहना है कि मुसलमान लोग खड़ी बोली के केन्द्रस्थल दिल्ली में आने से पूर्व लगभग दो सौ वर्षों तक पंजाब में रहते थे। वहां की भाषा से ही उन्होंने उर्दू का विकास किया होगा—इस मत का कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। वस्तुत: ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी की परिस्थितियों की कल्पना आधुनिक परिस्थितियों के आधार पर ही नहीं कर लेनी चाहिये। आज हिन्दी, उर्दू, पंजाबी आदि भिन्न भिन्न भाषाओं के रूप में हैं परन्तु उस समय इस प्रदेश में पश्चिमी अपभ्रंश का ही अधिक महत्त्व था और इस भाषा का विस्तार भारत के एक बड़े भूभाग पर था। जब पहले-पहल मुसलमान यहां आये होंगे तो उन्होंने इसी भाषा को अपनाया होगा। इस में कोई सन्देह नहीं कि उस समय पंजाबी और हिन्दी दोनों का विकास हो रहा होगा परन्तु पंजाबी की अपेक्षा खड़ीबोली हिन्दी अधिक व्यापक थी यहीं कारण है कि सिख गुरुओं की रचनायें तक खड़ी-बोली हिन्दी में हैं। इस में कोई सन्देह नहीं कि पंजाबी का प्रभाव भी खड़ी बोली हिन्दी पर पड़ा होगा परन्तु इस का यह मतलब नहीं कि खड़ी बोली या उसकी एक शैली उर्दू का विकास पंजाबी से हुआ है। खड़ी बोली की विकास-परम्परा को देखते हुये किसी प्रकार के भ्रामक विचार को प्रश्रय देने की कोई गुंजायश नहीं रह जाती।

हिन्दी और उर्दू

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी का ही अरबी-फ़ारसी मिश्रित रूप उर्दू के रूप में विकसित हो गया। लोगों का यह भी विचार है कि हिन्दी में संस्कृत के शब्द ठोंसने की प्रवृत्ति उर्दू की प्रतिद्वन्द्विता के कारण आई। जब एक ओर अरबी-फ़ारसी के कृत्रिम

शब्दों से उर्दू का निर्माण होने लगा तो दूसरी ओर हिन्दी में भी संस्कृत के शब्द बरबस ठूंसे जाने लगे। इस में कोई सन्देह नहीं कि इस बात में थोड़ी बहुत सत्यता अवश्य है परन्तु हिन्दी को संस्कृतमयी बनाने का मूल कारण यह नहीं है। यदि हिन्दी को संस्कृतमयी बनाने का यही कारण होता तो यह प्रश्न उठता है कि गुजराती, मराठी, बंगला आदि अन्य-आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत के शब्दों की उतनी अथवा उससे भी अधिक संख्या देखने को मिलती है तो क्या उन्हें भी किसी उर्दू जैसी भाषा की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ा ?

वस्तुतः संस्कृत से शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्राकृत काल में ही भारतीय आर्य भाषा में विद्यमान थी। अपभ्रंश में तो संस्कृत के अनेक तत्सम शब्दों को ग्रहण किया गया। आधुनिक युग में अंग्रेज़ी प्रभाव के कारण भारतीय विचारधारा में एक क्रान्ति सी आने लगी। हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें अपने मूल रूप में उन विचारों को वहन करने में असमर्थ थीं। सब से बड़ी समस्या शब्दों की थी ? किसी भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषा में शब्दों के निर्माण की शक्ति नहीं थी। प्रश्न सब से बड़ा यह था कि किस भाषा से शब्दों का ग्रहण किया जाये। अरबी-फ़ारसी, अंग्रजी और सस्कृत ये भाषायें ही मुख्य रूप में सामने दिखाई देती थीं। अरबी-फ़ारसी और अंग्रेज़ी के जितने शब्द आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में स्वाभाविक तौर पर या आसानी से खप सकते थे उन्हें तो इन भाषाओं ने सहर्ष अपना लिया और आत्मसात् भी कर लिया परन्तु विशाल संख्या में विदेशी भाषाओं से शब्द ग्रहण कर अपना शब्द-भंडार भरने की प्रवृत्ति किसी भी भारतीय भाषा में न आ पाई। संस्कृत के साथ भारतीय आर्य भाषाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है—हमेशा यही भाषा उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करती रही है। इस समय भी संस्कृत ने ही इनकी सहायता की। हिन्दी ने भी अन्य भारतीय आर्यभाषाओं के समान संस्कृत से शब्द लिये और अपने को अधिकाधिक समृद्ध बनाया। संस्कृत के कारण ही इन सब भाषाओं में अभी तक एकता और घनिष्ठता

बनी हुई है। केवल उर्दू ही अपनी विदेशी वेष-भूषा का परित्याग न कर पाई। वस्तुत: इसको प्रश्रय और बढ़ावा देने वालों की प्रवृत्ति कभी भी इस देश की परम्पराओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं रही है। वे भाषा को समृद्ध बनाने के लिये इन परम्पराओं की ओर क्यों देखते? हिन्दी और उर्दू के अलग अलग भाषायें बनने का कारण हिन्दी और उर्दू की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता नहीं है बल्कि इस के मूल में सांस्कृतिक और धार्मिक कारण हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि मुसलमानों को भारतीय भाषायें भारतीय-संस्कृति और धर्म की प्रतीक दिखाई देती हैं और वे उर्दू को इस्लामी संस्कृति की वाहिनी शक्ति भी मान बैठे हैं। मैंने महाराष्ट्र प्रदेश में रहने वाले अनेक मराठी-भाषी मुसलमानों को अपनी मातृभाषा उर्दू कहते सुना है। सन् १९५१ के जनगणना विवरण में यह बात स्पष्ट रूप में कही गई है कि यद्यपि मद्रास राज्य में रहने वाले मुसलमानों की भाषा तामिल है फिर भी वे उर्दू को ही अपनी मातृभाषा मानते हैं। स्पष्ट है कि मुसलमान अपनी कट्टर धार्मिकता के कारण अरबी-फ़ारसी से अपना सम्बन्ध बनाये रखने के कारण उर्दू को माध्यम रूप से अपनाये हुये है। यदि मुसलमानों में यह कट्टरता न होती और उन्हें यहाँ की परम्परा प्राप्त संस्कृति और भाषा से सहानुभूति होती तो हिन्दी और उर्दू का प्रश्न ही नहीं उठता और न ही इन दोनों भाषाओं में किसी प्रकार का संघर्ष होता।

हिन्दुस्थानी

पीछे हिन्दुस्थानी को हिन्दी का पर्यायवाची माना गया है परन्तु अब हम जिस हिन्दुस्थानी शब्द पर विचार कर रहे हैं, वह अपेक्षाकृत नवीन है। इस का प्रयोग एक ऐसी भाषा के लिये किया जाता है जिस में हिन्दी और उर्दू दोनों की शब्दावली का यथासम्भव समन्वय हो। हिन्दुस्थानी को हिन्दुस्तानी भी कहा जाता है। वस्तुत: इसका मूल रूप हिन्दुस्थानी ही है। आधुनिक फ़ारसी में अस्तान और प्राचीन फ़ारसी में स्तान शब्द भी हैं

परन्तु 'हिन्दुस्थानी' का सम्बन्ध संस्कृत के 'स्तान' शब्द के साथ है। इसी का परिवर्त्तित रूप स्तान होगया है।

आधुनिक युग में राष्ट्रीय जागरण के साथ साथ सभी अंग्रेज़ी दासताओं से मुक्ति प्राप्त करने की भावना भारतीयों के दिल में घर करती जारही थी। परिणाम-स्वरूप भाषा की दासता को भी उतार फैंकने के प्रयत्न किये जाने लगे। अंग्रेज़ी के स्थान पर यदि सार्वदेशिक भाषा के रूप में किसी भाषा को अपनाया जासकता था तो वह हिन्दी हा थी इस लिये हिन्दी का यह महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार भी किया जाने लगा। गान्धी जी स्वयं हिन्दी के पक्षपाती थे। वे सन् १९१७ तथा सन् १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशनों के दो बार सभापति भी बने। उन्होंने दक्षिण में भी दक्षिणभारत प्रचार सभा रूप में हिन्दी को बढ़ावा देने की प्रेरणा दी। अन्य अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी प्रचार के लिये राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के निर्माण की भी प्रेरणा दी। परन्तु दूसरी ओर मुसलमानों की साम्प्रदायिकता उभड़ने लगी। इसी के कारण गान्धी जी का विरोध किया जाने लगा। मुसलमानों के विरोध का गान्धी जी पर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने हिन्दी के स्थान पर हिन्दुस्थानी की योजना बनाई। इसे उर्दू और हिन्दी का समन्वित रूप माना जाने लगा परन्तु व्यवहार में इसका स्वरूप बहुत कुछ उर्दू जैसा था। इसके लिये फ़ारसी देवनागरी दोनों लिपियां अनिवार्य मानी गईं।

कहने को हिन्दुस्तानी को हिन्दी और उर्दू का समन्वित रूप माना गया था परन्तु स्वतन्त्रता से पूर्व जिस प्रकार की हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया जा रहा था वह हिन्दी से बहुत दूर उर्दू प्राय ही थी। इश्क़ (प्रेम) वज़ीरे आला (प्रधान मन्त्री) जङ्ग (लड़ाई), शीरीं (मीठा) जैसे शब्दों का व्यवहार सामान्य तौर पर हिन्दुस्तानी में किया जाता था। यदि हिन्दी प्रेमी इस उर्दूमयी हिन्दुस्तानी का विरोध करते तो उन्हें साम्प्रदायिक कह दिया जाता और उदारता तथा विशालहृदयता के उपदेश भी दे दिये जाते।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की हिन्दुस्तानी भले ही नाम के अनुसार सारे हिन्दुस्थानी के प्रतिनिधित्व का दावा करती परन्तु व्यवहार मे ऐसा होना असम्भव था। गुजराती, बगाली, मराठी, उडिया आदि भारतीय आर्य भाषाओ का स्वरूप सस्कृतमय था इसलिये वे फारसी-मिश्रित हिन्दुस्तानी को आसानी से समझ नही सकते थे। उसके प्रति उनकी आत्मीयता की भावना नही हो सकती थी। दक्षिण की भाषाओ पर तो वैसे ही फारसी का बहुत कम प्रभाव पडा है इसलिये वे भी इस कृत्रिम भाषा को आसानी से स्वीकार नही कर सकते थे। सवसे बडी बात तो यह थी कि स्वय उर्दू-प्रेमी मुसलमान इसे स्वीकार करने के लिये तैयार न थे।

कभी कभी हम राजनैतिक विचारधारा के दबाव के नीचे इस तरह दब जाते है कि वैज्ञानिक तथ्यो तक की उपेक्षा करने लग जाते है। इस प्रकार की प्रवृत्ति हिन्दुस्तानी या उर्दू के समर्थको मे बहुत अधिक दिखाई देती थी। वस्तुत: हिन्दुस्तानी के समर्थक उर्दू वालो से किसी भी प्रकार से समझौता कर लेना चाहते थे, भले ही इस से भारतीयता की आत्मा का गला ही क्यो न घुट जाये, भारतीय आर्यभाषाओ की प्रेरणा स्रोत सस्कृत को भुला कर अपनी सारी परम्पराओ को छोड कर कोई विदेशी के आगे हाथ फैलाये—यह बात कितनी हास्यास्पद प्रतीत होती है। किसी को अरबी या फारसी से घृणा नही है परन्तु सस्कृत के 'गणित' के स्थान पर 'हिन्दसा' और सस्कृत के 'त्रिकोण' शब्द के स्थान पर 'मुसल्लस' जैसे शब्दो को ग्रहण करने का वैज्ञानिक-तर्क क्या हो सकता है? राजनैतिक दृष्टि से किसी एक वर्ग या सम्प्रदाय को प्रसन्न करने के लिये भाषा को नष्ट भ्रष्ट कर देना कहा की बुद्धिमत्ता है?

यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि जिन विदेशियो के नाम सुन कर आज भी हमारे अन्त:करण को चोट सी पहुँचती है उन्होने भारतीय भाषा को इस प्रकार विकृत करने की कल्पना ही नही की थी। उदाहरण के तौर पर महमूद गजनवी के अत्याचारो की कहानी अत्यन्त

हृदय-विदारक है परन्तु उसने भी संस्कृत के महत्त्व को स्वीकार किया। उसने अपने सिक्कों पर संस्कृत का प्रयोग किया। कट्टर मुस्लिम कहे जाने वाले औरङ्गज़ेब को भी संस्कृत से कोई घृणा नहीं थी। यहाँ तक कहा जाता है कि औरङ्गज़ेब के एक पुत्र ने दो प्रकार के आम बादशाह के पास भिजवाये और प्रार्थना की कि वे इन के नाम रखें। औरंगज़ेब ने दोनों प्रकार के आमों के लिये 'सुधारस' और 'रसनाविलास' जैसे संस्कृत शब्दों वाले नाम ही सुझाये। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इस देश की मुख्यभाषा संस्कृत के महत्त्व को जानते थे।

अरबी-फ़ारसी के जो शब्द हिन्दी में अपने आप आ गये हैं उन्हें तो हिन्दी की सम्पत्ति माना जाना चाहिये परन्तु बलात् शब्दों के लादने की प्रवृत्ति ठीक नहीं। इस दृष्टि से हिन्दुस्तानी उर्दू की सहगामिनी थी और उसे प्रसारित करने का आधार भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण न होकर राजनैतिक था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत-विभाजन के कारण हिन्दी और उर्दू की समस्या दूर हो गई। परिणाम-स्वरूप जिन राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुसार हिन्दुस्तानी को जो थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन मिल रहा था वह भी ख़तम हो गया। नये संविधान के अनुसार हिन्दी को ही राज्यभाषा-पद प्राप्त हुआ जिस पद की वह पूर्णतया अधिकारिणी थी।

हिन्दी की शब्दावली

दो भाषाओं के परस्पर सम्पर्क में आने पर एक दूसरे की शब्दावली का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक है इस लिये प्रत्येक भाषा को खिचड़ी कहा जाता है। इसी प्रकार हिन्दी की शब्दावली पर अनेक प्रभाव पड़ चुके हैं जिनमें से संस्कृत, तुर्की, अरबी, फ़ारसी और अंग्रेज़ी भाषाओं का नाम मुख्य रूप में लिया जा सकता है।

प्राकृत काल में तीन प्रकार के शब्द माने जाने लगे थे। उसी के आधार पर हिन्दी में भी तीन प्रकार के शब्द माने जाते है। तत्सम, तद्भव, और देशज। इस के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के शब्दों के आ-

जाने से एक चौथे प्रकार की शब्दावली भी मानी जाती है अर्थात् विदेशी। कुछ लोगों का यह विचार भी है कि हिन्दी की शब्दावली को तीन वर्गो मे रखा जा सकता है।

१. **भारतीय आर्य भाषाओं के शब्द**—इनमें संस्कृत, प्राकृत आदि के शब्दों की गणना की जाती है।

२. **भारतीय अनार्य भाषाओं के शब्द**—इनके अन्तर्गत भारतीय अनार्य भाषाओं अर्थात् द्राविड़, मुंडा आदि भाषाओं के शब्द रखे जाते है।

३. **विदेशी शब्द**—इनके अन्तर्गत तुर्की, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेजी, पुर्तगाली आदि के शब्द रखे जाते है।

सामान्य तौर पर तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों के भेद केवल भारतीय आर्य भाषाओं के शब्दों की दृष्टि से ही किये जाते है। यह परम्परा भी प्राकृत काल से चली आ रही है। संस्कृत के मूल शब्द हिन्दी के तत्सम शब्द माने जाते हैं, जिन शब्दों में ध्वनि परिवर्तन हो गये हैं परन्तु मूल व्युत्पत्ति का पता संस्कृत से लगता है वे हिन्दी के अन्तर्गत आते हैं। जिन शब्दों के मूल स्रोत का पता नहीं वे देशज माने जाते हैं। इस प्रकार यह वर्गीकरण केवल सस्कृत पर ही आधारित है। इस दृष्टि से हिन्दी का 'अग्नि' शब्द तत्सम है और 'आग' शब्द तद्भव, क्योंकि 'आग' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत अग्नि (>अग्गि>अग्ग, आग) शब्द से हुई है। कभी कभी तत्सम और तद्भव शब्दों के मध्य की एक और श्रेणी भी मानी जाती है। इसे अर्द्धतत्सम कहा जाता है। अर्द्धतत्सम शब्द यद्यपि सर्वथा सस्कृत के मूल शब्द तो नहीं होते परन्तु इतने मूल शब्द से मिलते जुलते होते है कि उन्हें तत्सम जैसे ही माना जा सकता है। उदाहरण के तौर पर सस्कृत कृष्ण शब्द हिन्दी का तत्सम शब्द है, 'कान्ह' उसका तद्भव रूप है परन्तु किशन अर्द्ध-तत्सम है।

वस्तुत: केवल संस्कृत के आधार पर ही तत्सम, तद्भव और देशज शब्द कहना ठीक नही। इनके अन्तर्गत अनार्य और विदेशी शब्दों को भी

रखा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर अंग्रेजी के स्टेशन, रेलवे ट्रेन आदि शब्द हिन्दी के तत्सम शब्द ही तो हैं। तत्सम का अर्थ है उसी के समान। अर्थात् मूल भाषा के शब्द यदि उसी रूप में ही ग्रहण किये जायें तो वे तत्सम होंगे। चाहे वे सस्कृत के हों या अंग्रेज़ी के उन्हें तत्सम ही कहा जाना चाहिये। इसी प्रकार तद्भव का अर्थ है उससे पैदा होने वाला। यदि मूल भाषा के शब्द विकृत होकर किसी भाषा में आयें तो उन्हें तद्भव ही कहा जाना चाहिये, वह संस्कृत के हों या अन्य किसी भाषा के। देशज शब्द भी साधारणतया वे माने जाते हैं जिनका सम्बन्ध संस्कृत से नहीं ढूंढा जा सकता। वस्तुतः वे शब्द भी देशज नहीं माने जा सकते जिनका सम्बन्ध किसी अन्य भाषा के साथ हो। यदि शब्दों के मूल रूप की पूर्णतया खोज की जाय तो अवश्य उसका सम्बन्ध किसी न किसी भाषा के साथ जुड़ जायगा। वास्तव में हमारा अज्ञान ही हमें उन शब्दों को देशज या देशी भाषा मानने के लिये बाध्य कर देता है। हेमचन्द्र ने नाममाला के अन्तर्गत अनेक ऐसे शब्दों की भी गणना की थी जिनका सम्बन्ध संस्कृत शब्दों के साथ जोड़ा जा सकता है। स्पष्ट है कि वे इन शब्दों की व्युत्पत्ति से पूर्णतया परिचित न होने के कारण उनकी गणना देशज शब्दों में कर बैठे। फिर भी अनेक ऐसे शब्द होते हैं जिनका विकास उसी भाषा में स्वतंत्र रूप में होता है। जैसे हिन्दी के पौं-पौं, छप-छप, फट-फटिया आदि शब्द। ये शब्द ही वस्तुतः देशज हैं।

हिन्दी में संस्कृत के शब्द अनेक हैं। नीचे कुछ अन्य भाषाओं के शब्दों के उदाहरण दिये जाते हैं।

द्राविड़—पिल्ले > हिन्दी पिल्ला, शुरुट्ट > चुरुट आदि।

मुंडा—कोड़ी आदि।

तुर्की—क़ैंची, क़ाबू, क़ुली, ग़लीचा, चाक़ू, तोप, बहादुर, बीबी, बेग़म, लाश आदि।

अरबी-फारसी—अमीर, ग़रीब, खानदान, खि़ताब, हिम्मत, काग़ज, दवा, दवात आदि

अंग्रेजी—डॉक्टर, अफ़सर, हस्पताल (>हॉस्पीटल), गिलास (>ग्लास), टिकट आदि।

पुर्तगाली—अलमारी, आया, इस्त्री, कमीज, चाबी, तंबाकू, तौलिया, पिस्तौल, बिस्कुट, बोतल आदि।

तिब्बती—चुंगी आदि।

चीनी—चाय आदि।

हिन्दी मे सबसे अधिक शब्द संस्कृत के है। उसके बाद फ़ारमी, अंग्रेजी आदि के शब्दों का स्थान है।

हिन्दी एक विशाल प्रदेश की भाषा है। साथ ही इसका प्रयोग राज्यभापा या राष्ट्रभाषा के रूप में अन्य अहिन्दी प्रदेशों के निवासियों द्वारा भी किया जाता है। इस प्रकार हिन्दी के आदश रूप पर हिन्दी की अपनी बोलियों तथा अन्य भारतीय आर्यभाषाओं का भी प्रभाव पडता रहता है।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी

भारत एक विशाल देश है। आधुनिक युग में यहां अनेक जातियाँ और धर्म है। भापा की दृष्टि से भी अनेक भाषायें और बोलियां भारत में फैली हुई है। ग्रियर्सन ने सर्वेक्षण के अनुसार भारत की भिन्न २ भाषाओं और बोलियों की कुल संख्या ८७२ बताई है। इन मे से कई भाषाओं और बोलियों की दुबारा गणना भी हो गई प्रतीत होती है। इसी बात को समझते हुये डा. ग्रियर्सन ने कुल भाषाओं की संख्या १७९ और बोलियों की सख्या ५४४ मानी है। दूसरी ओर सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार भाषाओं की कुल संख्या २३७ मानी जाती है जिन में १८८ भाषायें है और अन्य ४९ बोलियां।

सन् १९२१ के बाद से भारत की भौगोलिक सीमाओं में बहुत अन्तर आ चुका है। सन् १९२१ की जनगणना में ब्रह्मप्रदेश को भी सम्मिलित किया गया था जोकि अब भारत का अङ्ग नहीं है। सन् १९४७ के बाद भारत के कुछ पश्चिमी और पूर्वी प्रदेश विभाजित हो कर पाकिस्तान का रूप धारण कर चुके हैं। मुख्य भाषाओं की दृष्टि से तो विशेष अन्तर नहीं आया क्योंकि जो भाषायें पाकिस्तान में बोली जाती हैं उनके बोलने वाले भारत में भी हैं। जैसे पश्चिमी पाकिस्तान की मुख्य भाषायें सिन्धी और पंजाबी हैं तथा पूर्वी पाकिस्तान की मुख्य भाषा बंगला है। इन के अतिरिक्त पाकिस्तान के अनेक लोग उर्दू को भी अपनी भाषा मानते हैं। ये चारों मुख्य भाषायें भारत में भी बोली जाती हैं।

यदि भारत में केवल मुख्य भाषाओं की दृष्टि से ही विचार किया जाये भाषाओं की संख्या बहुत कम है। इन भाषाओं के नाम इस प्रकार हैं:— आसामी, उड़िया, उर्दू, कन्नड़, काश्मीरी, गुजराती, तामिल, तेलुगू, पंजाबी, बंगाली, मराठी, मलयालम, सिन्धी, और हिन्दी। इन के अतिरिक्त संस्कृत यद्यपि बोलचाल की भाषा नहीं है तथापि इसका प्रचार सारे भारत में है। अंग्रेजी भाषा का व्यवहार करने वालों की भी एक छोटी संख्या विद्यमान है। अरबी-फ़ारसी भी कहीं कहीं अपना अस्तित्व बनाये हुये है।

भारत में बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान हिंदी को दिया जा सकता है। इस का प्रयोग न केवल उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और पंजाब के अधिकांश भागों में किया जाता है बल्कि अहिन्दी राज्यों में भी इस का विस्तार है। साधारणतया दो भिन्न भारतीय भाषायें बोलने वालों के परस्पर बोलचाल का माध्यम हिन्दी ही है। इस लिये भारतीय भाषाओं का सच्चा प्रतिनिधित्व यही भाषा करती है। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से संसार में इस का स्थान तीसरा माना जाता है। पहला स्थान चीनी भाषा की उत्तरी बोली को प्राप्त है और दूसरा स्थान अंग्रेजा को।

भारत मे हमेशा मध्यदेशीय बोली ही प्रमुख रही है। संस्कृत, पालि, शौरसेनी और पश्चिमी अपभ्रंश के बाद मध्यदेशीय बोली का स्थान हिंदी को प्राप्त हुआ है इस लिये उसका प्रमुखता प्राप्त करना स्वाभाविक ही है। भारत की अधिकाश भापाओ के रामान हिन्दी का विकास वैदिक सस्कृत से हुआ हे ; अभी तक सस्कृत इन सब भापाओ का पालन-पोपण कर रही है इप लिये हिन्दी तथा अन्य अनेक भारतीय भापाओं के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध बना हुआ है। जिन भापाओ का सस्कृत से विकास नही हुआ—वे भी सस्कृत से प्रभावित अवश्य है। उन्होने बदले मे हिन्दी को भी प्रभावित किया है इस लिये वे भी हिन्दी के साथ एक सामान्य सूत्र मे बंधी हुई है। हिन्दी ने अरबी-फारसी और अग्रेजी से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। जिस रूप मे इस का विकास हो रहा है उसे देखते हुये यह मानना पड़ता है कि यह भाषा अपनी सकुचित सीमाओ को छोड़ कर बहुत आगे बढती जा रही है। ससार के अन्य अनेक देशो ने भी इस के महत्त्व को स्वीकार किया है। रूस, अमरीका आदि देशो मे भी इस के पढने-पढ़ाने के विशेष प्रबन्ध किये गये है। इसे मर्दानी भापा कहा जाता है और रूप-रचना की दृष्टि से इसकी गणना सरलतम भाषाओं मे की जाती है। हिन्दी अपने विशिष्ट गुणो के कारण जिस तेजी से विकसित हो रही है उससे इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। राष्ट्र भापा का उच्च स्थान तो इसे प्राप्त है ही—एक दिन विश्व की महान् भापाओ मे भी इस का गौरवपूर्ण स्थान होगा।

राष्ट्रभापा की समस्याये

यद्यपि हिन्दी और उर्दू की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता समाप्त हो चुकी है और भारत के नये सविधान मे हिन्दी को राज्य भाषा का स्थान प्रदान कर दिया गया है तथापि राष्ट्रभाषा हिन्दी के मार्ग मे अनेक कठिनाईयां है। उसकी अपनी कुछ समस्याये है जिनकी ओर ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है।

सबसे बड़ी कठिनाई या समस्या शब्दों की है। यदि संस्कृत बहुला हिन्दी का व्यवहार किया जाता है तो यह आपत्ति की जा जाती है कि राष्ट्रभाषा को अधिक से अधिक जटिल बनाया जा रहा है और यदि सामान्य प्रचलित शब्दों का जिनमे अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्द भी सम्मिलित है, प्रयोग किया जाता है तो भाषा मे वह सजीवता नहीं आ पाती जो राष्ट्रभाषा के लिये अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुत: राष्ट्रभाषा के लिये संस्कृत शब्दों से शक्ति-ग्रहण करना उचित ही है इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अन्य शब्दों का व्यवहार भी स्वाभाविक रूप मे किया जाना चाहिये। राष्ट्रभाषा का यह आदर्श रूप अधिक मान्य है।

विशिष्ट समस्या तो पारिभाषिक शब्दों की है। आधुनिक ज्ञान विज्ञान की शिक्षा अभी तक भारत मे अंग्रेजी के माध्यम से ही दी जाती थी इसलिये इससे सम्बन्धित सारा साहित्य अंग्रेजी मे है। अंग्रेजी से हिन्दी में इसका अनुवाद करते समय पारिभाषिक शब्दों की कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कुछ लोगों का यह विचार है कि अंग्रेजी के य पारिभाषिक शब्द उसी रूप मे हिन्दी मे ग्रहण कर लिये जायें। दूसरे लोगो की धारणा है कि इन शब्दों का सस्कृत के आधार पर रूपांतर किया जाना चाहिये। वस्तुत: राष्ट्रभाषा और अन्य अनेक प्रादेशिक भाषाओं का मूल आधार सस्कृत ही है। यह भाषा भारतीय आर्य भाषाओं की प्रकृति और परम्परा के अनुकूल भी है इसलिये यही उचित प्रतीत होता है कि सस्कृत के आधार पर पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण किया जाय। एक बार प्रचलित हो जाने पर इस सम्बन्ध मे कोई कठिनाई नही रहेगी।

डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने हिन्दी की कुछ व्याकरण सम्बन्धी जटिलताओं का भी उल्लेख किया है[1]। इसमें से मुख्य जटिलतायें लिग सम्बन्धी और कर्मवाच्य के प्रयोग से सम्बन्धित है। उनका यह विचार

1. Indo-Aryan and Hindi.

है कि यदि इन जटिलताओं को कम कर दिया जाय तो इसका व्याकरण अधिक सरल हो जायेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि भाषा को सरल बनाने का कोई क्रियात्मक सुझाव दिया जाय तो उसका उस भाषा के बोलने वालों को स्वागत ही करना चाहिये, विशेषतया राष्ट्र भाषा के लिये इस प्रकार के सुझाव अधिकाधिक आने ही चाहियें परन्तु भाषा के विकास को समझते हुए हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं जिसे हम सरलता समझ बैठे है वही किसी दूसरे स्थान पर जटिलता ही न बन जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक अहिन्दीभाषी लोग हिन्दी के कुछ व्याकरणिक रूपों को नहीं समझ पाते इसलिये कुछ गलतियां करते है परन्तु इसका यह मतलब नही कि जिसे हिन्दीभाषी अच्छी तरह समझ सकते हैं उसमे परिवर्तन करके उसी को उसके मूल भाषियों के लिये जटिल बना दिया जाय। भाषा का विकास यदि स्वाभाविक हो तो सभी को ग्राह्य हो सकता है परन्तु जान बूझ कर परिवर्तन लाने से तो कठिनाइयां बढ़ेगी ही; कम नहीं होंगी। जब हिन्दी का प्रयोग सांस्कृतिक, साहित्यिक और बोल-चाल की भाषा के रूप में अन्त:राज्यीय स्तर पर होने लगेगा तो उस में अपने आप परिवर्तन आयेंगे। भाषा विकास को समझने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह जानता है कि ये परिवर्तन अनिवार्य है और पूर्णतया स्वाभाविक हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों को मान्य होने में कोई कठिनाई न होगी।

हमें यह देखकर दु:ख होता है कि जब भारत में फारसी, अंग्रेज़ी जैसी विदेशी भाषायें सीखी जाती थीं जिनकी व्याकरणिक जटिलता भारत-वासियों के लिये हिन्दी व्याकरण की अपेक्षा बहुत अधिक है तो कभी किसी व्याकरणिक जटिलता का नारा नहीं लगाया परन्तु न जाने क्यों हिन्दी की ही ऐसी परीक्षा करने के लिये लोग बहुत उत्सुक रहते हैं? हिन्दी का व्याकरण बहुत सरल है फिर भी थोड़ी बहुत प्रान्तीय विभिन्नताओं के कारण कठिनाई होती है केवल उसी आधार पर उसमें जान बूझ कर परिवर्तन करना न केवल अनुचित है बल्कि हास्यास्पद भी। हिन्दी का

विकास स्वाभाविक रूप में ही होना चाहिये। वास्तविक जटिलतायें स्वयमेव खत्म हो जायेंगी।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की सब से बड़ा समस्या यह है कि हम स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी अपनी मानसिक दासता को नहीं छोड़ पाये हैं। हमारा अंग्रेजी के प्रति मोह हमें ठीक प्रकार से सोचने नहीं देता। अंग्रेज़ी एक उत्कृष्ट भाषा है, उसका साहित्य अच्छा है, इसमें वैज्ञानिक ग्रंथ अच्छे हैं। ऐसी कितनी बातें कह कर अंग्रेज़ी को ही बनाये रखने की चेष्टा की जाती है। अंग्रेज़ी के बारे में कही जाने वाली बातों को यदि अक्षरश: सत्य भी मान लिया जाय तो भी हिन्दी का स्थान अंग्रेज़ी को नहीं दिया जा सकता। यदि हम अपने राष्ट्र को उन्नत देखना चाहते हैं तो हमें अपनी राष्ट्रभाषा का विकास करना होगा। क्या इङ्गलैण्ड और अमरीका जैसे उन्नत देशों को देखकर कोई अपने देश को छोड़ देना चाहेगा? अगर नहीं तो अंग्रेज़ी जैसी उन्नत भाषा को देखकर अपनी भाषाओं को छोड़ देना कहां की बुद्धिमत्ता है।

कभी कभी हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में विरोध की भी कल्पना की जाती है। दुर्भाग्य से भारत में अपनी अपनी भाषा के प्रति मोह इतना अधिक बढता जा रहा है कि हम राष्ट्र की वास्तविक भलाई को भी भुला देना चाहते हैं। हिन्दी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगाली, आसामी, तामिल, तेलुगू आदि भाषाओं में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। ये सब भारतीय भाषायें हैं और हमने अंग्रेजी के स्थान पर इन सब भाषाओं का विकास करना है। ये सब बहनें हैं—एक की प्रगति दूसरी की प्रगति मानी जानी चाहिये। परस्पर आदान-प्रदान करते हुए एक-दूसरे की समस्याओं का समाधान करते हुए ही इन भाषाओं की उन्नति हो सकती है। एक-दूसरे के मार्ग में बाधायें उपस्थित करने से तो किसी का भी समुचित विकास नहीं हो सकता। इसी बात को सन्मुख रखते हुए यदि हम भाषाओं के नाम पर लड़ने की बजाय इन के विकास के कार्य में पूर्णतया जुट जाये तो अधिक अच्छा होगा।

अध्याय १२

हिन्दी की प्रमुख बोलियाँ

हिन्दी का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है इस लिये इसे चार खण्डों में विभाजित किया जाता है—(१) पञ्जाबी उपभाषा खण्ड (२) राजस्थानी उपभाषा खण्ड (३) हिन्दी उपभाषा खण्ड और (४) बिहारी उपभाषा खण्ड। भाषा-विकास की दृष्टि से हिन्दी के दो रूप ही मान्य है—१. पश्चिमी हिन्दी और २. पूर्वी हिन्दी। पञ्जाबी और राजस्थानी खण्डों की उपभाषायें पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत हैं और बिहारी खण्ड की उपभाषायें पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत। मुख्य रूप में पश्चिमी हिन्दी की पांच बोलियाँ है—१. खड़ी बोली २. बांगरू ३. ब्रज ४. कनौजी ५. बुंदेली। पूर्वी हिन्दी की प्रमुख बोलियां तीन हैं—१. अवधी २. बघेली और ३. छत्तीसगढ़ी।

पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी का विकास विभिन्न प्राकृतों या अपभ्रंशों से है। पूर्वी का विकास अर्द्धमागधी से हुआ है और पश्चिमी का शौरसेनी से। इस लिये इन दोनों में विभिन्नता होना स्वाभाविक ही है। इन की मुख्य बोलियों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१. खड़ी बोली

इसके सम्बन्ध में पीछे लिखा जा चुका है। यही बोली साहित्यिक हिन्दी का मूल आधार है। इस बोली के प्रमुखता प्राप्त करने का मुख्य कारण राजनैतिकता है। इस पर हिन्दी और उर्दू दोनों का समान रूप से अधिकार है। इसे हिन्दुस्तानी, नागरी-हिन्दी या सरहिन्दी भी कहा जाता है। इस पर हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा अरबी-फ़ारसी का प्रभाव

कुछ अधिक हुआ है परन्तु इस प्रभाव के अन्तर्गत आये हुए शब्दों में अनेक परिवर्तन भी हो गये हैं।

इस का मुख्य क्षेत्र रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर तथा देहरादून का मैदानी प्रदेश है। इस के एक ओर पञ्जाबी है तो दूसरी ओर बांगरू। पञ्जाबी के अत्यन्त निकटवर्ती होने के कारण इस पर पञ्जाबी का विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। दक्षिण-पूर्व में इस की सीमायें ब्रज प्रदेश से जा मिलती हैं।

खड़ी बोली के अतिरिक्त पश्चिमी हिन्दी की अन्य सभी बोलियों की विशेषता उन के शब्दों का ओकारान्त या औकारान्त होना है परन्तु पञ्जाबी के समान खड़ी बोली के शब्द आकारान्त हैं। सम्भवत: खड़ी बोली में यह परिवर्तन पञ्जाबी प्रभाव के कारण आया होगा। उदाहरण के तौर पर खड़ी बोली में भला, मारा, घोड़ा आदि शब्द हैं परन्तु पश्चिमी हिन्दी की अन्य बोलियों में यही शब्द भलो या भलौ, मारो या मार्‌यौ घोड़ो या घोड़्‌यौ आदि हैं। पञ्जाबी में सम्बन्धकारक का परसर्ग 'दा' है। खड़ी बोली में यही परसर्ग का है। पश्चिमी हिन्दी के को या कौ का 'का' रूप में परिवर्त्तित होजाना पंजाबी प्रभाव के कारण ही है।

यद्यपि खड़ी बोली ने ही साहित्यिक हिन्दी का रूप धारण किया है तथापि इन दोनों में अन्तर है। साहित्यिक हिन्दी में 'ऐ' और 'औ' स्वर ध्वनियाँ हैं परन्तु बोलचाल की खड़ी बोली में ये 'ए' और 'ओ' ध्वनियों में परिणत होजाती हैं। जैसे पैर > पेर; दौड़ > दोड़। व्यञ्जन-ध्वनियों में साहित्यिक हिन्दी के 'न' और 'ल' के स्थान पर कभी कभी बोलचाल की खड़ी बोली में क्रमश: 'ण' और 'ळ' हो जाते हैं। जैसे मानुस > माणुस; बाल > बाळ (केवल सिर के बालों के लिये)। साहित्यिक हिन्दी में 'ड' और 'ढ' के स्थान पर क्रमश: 'ड़' और 'ढ़' होजाते है परन्तु बोलचाल की खड़ी बोली में प्राय: ऐसा नहीं होता। गाड़ी और चढ़ना का बोलचाल में उच्चारण गाडी या चढना होता है। रूपरचना की दृष्टि से भी इन दोनों में कुछ विभिन्नतायें है।

२. बांगरू

बाँगरू शब्द का सम्बन्ध बांगर प्रदेश से है । बांगर उस प्रदेश या स्थान को कहते हैं जो ऊँचा और सूखा हो जहां तक नदी की बाढ़ न पहुंच पाये। बांगरू के अन्य नाम जाटू या हरियानी भी हैं। कहीं कहीं इसे देसड़ी देसवाली या चमरवा भी कहा जाता है। अधिकांश में जाट लोगों की बोली होने के कारण इसे जाटू कहा जाता है और हरियाना प्रदेश की बोली होने के कारण ही यह हरियानी कहलाती है। इसके मुख्य स्थान पूर्वी पञ्जाब के करनाल और रोहतक जिले तथा दिल्ली के देहाती प्रदेश हैं। इसके अतिरिक्त यह बोली दक्षिण-पूर्वी पटियाला, हिसार, रोहतक नाभा, जींद आदि स्थानों पर भी बोली जाती है। इस बोली की अनेक विशेषतायें खड़ी बोली के समान ही हैं। इस लिये इसे खड़ी बोली का हीं दूसरा रूप कह दिया जाता है।

ब्रजभाषा

ब्रजमण्डल में बोली जाने वाली भाषा को ब्रजभाषा कहा जाता है। 'ष' के स्थान पर 'ख' होजाने से उसे ब्रजभाखा भी कहा जाता है। ब्रज- एक बोलीमात्र नहीं बल्कि एक उत्कृष्ट साहित्यिक भाषा है। खड़ी बोली हिन्दी के साहित्यिक रूप धारण करने से पूर्व प्रमुख साहित्यिक भाषा थी। सूर की रचनायें इसी में हैं जो कि हिन्दी के महान् गौरव की परिचायिका हैं। गंगा और यमुना नाम की दो पवित्र मानी जाने वाली नदियों के मध्य का प्रदेश मध्य प्रदेश या अन्तर्वेद भी माना जाता है। इसी प्रदेश की भाषा होने के कारण ब्रज को अन्तर्वेदी भी कहा जाता है। इस भाषा का केन्द्र मथुरा-वृन्दावन है। इस के अतिरिक्त इस का शुद्ध रूप आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में देखने को मिलता है। थोड़े बहुत मिश्रित रूप में यह गुड़गांव, भरतपुर, करौली ग्वालियर, बुलंदशहर, बदायूँ, नैनीताल, एटा, मैनपुरी, बरेली आदि अनेक स्थानों पर बोली जाती है। हिन्दी का अधिकांश कृष्ण साहित्य इसी भाषा में है। इस भाषा के प्रमुखता प्राप्त करने के मुख्य कारण धार्मिक और राजनैतिक हैं।

पश्चिमी हिन्दी का जितना अच्छा प्रतिनिधित्व ब्रज भाषा करती है उतना खड़ी बोली नहीं। ऊपर कहा जा चुका है कि खड़ी बोली पंजाबी से प्रभावित है परन्तु ब्रजभाषा में वैसा प्रभाव देखने को नहीं मिलता। ब्रजभाषा मे खड़ी बोली 'आ' के स्थान पर 'औ' या 'ओ' का ही प्रयोग होता है। उत्तर भारत की प्राय: सभी बोलियों में नपुसकलिग नही है परन्तु ब्रजभाषा में कहीं कहीं पर नपुसकलिंग के रूप भी सुरक्षित दिखाई देते हैं।

रूप रचना की दृष्टि से ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा को आठ बोलियों में विभक्त किया है :—१. आदर्श ब्रज—यह मथुरा, अलीगढ़ और पश्चिमी आगरा की बोली है। इसमें चल् धातु के भूतकाल कृदन्त का रूप चल्यौ(< सं. चलित:>पा. चलिग्रो) है। २. आदर्श ब्रज का एक दूसरा रूप बुलंद-शहर में देखने को मिलता है। इस में 'चल्यौ' के स्थान पर 'चल्यो' उच्चरित होता है। ३. एक अन्य ग्रादर्श ब्रज मे यही रूप 'चलो' भी मिलता है। ४. एटा, मैनपुरी, बदायूं और बरेली में यह भाषा कनौजी में ग्रन्तभुक्त हो कर एक और रूप धारण कर लेती है। इसमें भूतकालिक कृदन्त रूप 'चलो' है। ५. ग्वालियर के उत्तर पश्चिम की बोली सिकर-वाड़ी का एक ग्रौर रूप भदौरी मे ग्रन्तर्भुक्त ब्रज का है। इस में भी भूत-कालिक कृदन्त रूप 'चलो' है। ६. भरतपुर में ब्रज राजस्थानी (जयपुरी) मे ग्रन्तर्भुक्त हो जाती है। इसमे 'चल्यौ' या 'चल्यो' रूप मिलता है। ७. गुड़गांव में यह राजस्थानी की मेवाती उपभाषा में अन्तर्भुक्त हो जाती है। इस में 'चल्यो' रूप मिलता है। ८. इस का अन्तिम रूप नैनीताल की तराई का मिश्रित ब्रज भाषा का रूप है। इन बोलियों में अन्य दृष्टियों से भी कुछ विभिन्नतायें हैं।

कनौजी

कनौजी कनौज नगर की बोली है—उसी के नाम पर ही इस का नामकरण किया गया है। कनौज का प्राचीन रूप कान्यकुब्ज था। इस नगर का उल्लेख रामायण तक में मिलता है। इस के ग्रन्तिम राजा

जयचन्द्र दिल्ली सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे सुप्रसिद्ध ही है । इस का केन्द्र फर्रुखाबाद है । यह हरदोई, शाहजहापुर, पीलीभीत, इटावा तथा कानपुर तक मे बोली जाती है । इस के एक ओर ब्रज है तो दूसरी ओर अवधी परन्तु पश्चिमी हिन्दी की बोली होने के कारण इस का ब्रजभाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । इस लिये इसे ब्रज की ही एक उपबोली भी मान लिया जाता है । इस मे अपना कोई साहित्य नही । इस प्रदेश के रहने वाले सभी कवियो ने ब्रजभाषा को ही अपना साहित्यिक माध्यम बनाया ।

५. बुँदेली

यह बुदेलखण्ड की बोली है इस लिये इसे बुदेलखण्डी भी कहा जाता है । बुदेली जाति एक राजपूत जाति है । इस प्रदेश मे इस जाति के राजपूतो की प्रमुखता के कारण इस प्रदेश का नाम बुदेलखण्ड है और इस प्रदेश की बोली का नाम बुदेली या बुदेलखडी । झासी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, ओडछा, सागर, नृसिहपुर, सेओनी और हुशगाबाद मे बुदेली शुद्ध रूप मे बोली जाती है । दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह आदि स्थानो पर इस के अनेक मिश्रित रूप भी देखने को मिलते है । इस की कुछ मुख्य बोलिया पँवारी, लोधान्ती या राठौरी और खटोला है । मिश्रित बोलियो के अन्तर्गत बनाफरी, कुड्री, निभट्टा आदि के नाम लिये जाते हैं ।

बुदेलखण्ड ने अनेक साहित्यकार पैदा किये है परन्तु इन की साहित्यिक भाषा ब्रज या खडी बोली हिन्दी रही है । महाकवि केशव इसी प्रदेश के थे । उनकी भाषा मे कही कही बुदेली शब्दो का प्रभाव देखने को मिलता है । लाल का छत्रप्रकाश अधिकाश मे बुदेली भाषा का ही प्रतीत होता है । आधुनिक युग मे वृन्दावनलाल वर्मा इसी प्रदेश के है । उनकी भाषा पर भी बुंदेली शब्दो का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है ।

बुंदेली के अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका सामान्य तौर पर हिन्दी में प्रयोग नहीं किया जाता।

६. अवधी

पूर्वी हिंदी की मुख्यतम भाषा अवधी है। इसी में जायसी और तुलसी ने उत्कृष्ट कोटि की साहित्य रचना की इस लिये इस का स्तर भी बोली का न रह कर भाषा का है। इस के नाम को देखते हुये साधारणतया यह कह दिया जाता है कि यह केवल अवध प्रदेश की भाषा है। वास्तव में ऐसी बात नहीं। इसका विस्तार अवध प्रदेश से बाहर भी देखने को मिलता है। एक ओर तो यह अवध के हरदोई, खीरी और फैज़ाबाद के कुछ स्थानों पर तो नहीं बोली जाती, दूसरी ओर अवध से बाहर फतेहपुर, इलाहाबाद तथा जौनपुर व मिर्जापुर के पश्चिमी हिस्से में बोली जाती है। इस का अन्य क्षेत्र लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैज़ाबाद, गोंडा, बहराइच, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी आदि स्थान है। बिहार के मुसलमान भी इस का व्यवहार करते हैं।

इस भाषा को पूर्वी या कोशली भी कहा जाता है। पूर्व की होने के कारण इसे पूर्वी कहना उचित ही है। कोशल प्रदेश की भाषा होने के कारण इस का कोशली नाम भी उपयुक्त है। अवधी-प्रदेश के अन्तर्गत एक सीमित क्षेत्र को बैसवाड़ा कहा जाता है। यह क्षेत्र उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली तथा फ़तेहपुर के कुछ भाग हैं। इसी बैसवाड़ा नाम के अन्तर्गत अवधी को बैसवाड़ी भी कहा जाता है। बैस नाम की एक राजपूत जाति है जो इस प्रदेश में बसी हुई है। बैसवाड़ी नाम अवधी के एक सीमित क्षेत्र की भाषा के लिये ही उपयुक्त है। व्यवहार में अवधी नाम ही अधिक चल पड़ा है।

अवधी की मुख्य विशेषता उसके संज्ञा पदों की अकारान्त प्रवृत्ति है। खड़ी बोली में घोड़ा, ब्रजभाषा में घोडो या घोड़ौ तथा अवधी में घोड़ है। घोड़ के स्थान पर घोड़वा या घोड़ा या घोड़ौना के अतिरिक्त प्रयोग भी

मिलते हैं। व्यञ्जनान्त संज्ञा पदों के कर्ता एकवचन के रूप में 'उ' का प्रयोग किया जाता है। जैसे घरु, बनु आदि। खड़ी बोली हिन्दी में इन का उच्चारण घर्, बन् आदि है। पश्चिमी हिन्दी के 'ने' परसर्ग का अवधी में सर्वथा अभाव है। पश्चिमी हिन्दी के अधिकरण कारक का 'में' परसर्ग अवधी में 'मा' है। पश्चिमी हिन्दी के तेरा, मेरा के स्थान पर अवधी में तोर, मोर हैं।

डा० बाबूराम सक्सेना ने अवधी की तीन बोलियां बताई हैं—१. पश्चिमी २. केन्द्रीय और ३. पूर्वी।[1] इन में से खीरी (लखीमपुर), सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव और फ़तेहपुर की अवधी पश्चिमी है। बहराइच-बाराबंकी और रायबरेली की अवधी केन्द्रीय है। गोंडा, फैज़ाबाद सुलतानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर और मिर्ज़ापुर की अवधी पूर्वी है।

७. बघेली

बघेले राजपूतों के नाम पर बघेलखंड प्रदेश बसा हुआ है। इसी प्रदेश की बोली बघेली है। यह अवधी के दक्षिण में बोली जाती है। इस का केन्द्र रीवां है इसलिये इसे रीवाँई भी कहा जाता है। यह दमोह, जबलपुर, कांडला तथा बालाघाट ज़िलों में भी बोली जाती है। बांदा जिले की बोली भी बघेली है। बांदा ज़िले के बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत होने के कारण भ्रमवश वहां की बोली बुन्देली मान ली जाती है। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि बुन्देली और बघेली में कोई अन्तर नहीं परन्तु यह बात भी ठीक नहीं। बघेली में अपना साहित्य नहीं है। इस को नोलने वाले कवियों ने साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी को अपनाया है।

८. छत्तीसगढ़ी

छत्तीसगढ़ी की बोली होने के कारण इसे छत्तीसगढ़ी कहा जाता है यह बोली रायपुर, बिलासपुर, कांकेर, नंदगांव, खैरगढ़, रायगढ़,

---

1. Evolution of Avadhi.

कोरिया, सरगुजा, उदयपुर, जशपुर आदि में बोली जाती है। इसे लरिया, खल्टाही या खलोटी भी कहा जाता है। इस में लिखा कोई पुराना साहित्य नहीं है परन्तु आजकल कुछ बाज़ारू किताबें अवश्य लिखी गई हैं।

बिहारी बोलियां

पूर्वी हिन्दी और बंगला के मध्य में बिहारी का प्रदेश है। इसकी मुख्य रूप में तीन बोलियां हैं—मगही, मैथिली और भोजपुरी। बिहार के हिन्दी प्रदेश का भाग होने के कारण इन बोलियों की गणना भी हिन्दी के अन्तर्गत की जाती है साहित्यिक दृष्टि से इन बोलियों का हिन्दी के साथ ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मैथिलकोकिल विद्यापति की हिन्दी के कवियों में गणना की जाती है। यद्यपि भोजपुरी का सम्बन्ध बिहार के शाहाबाद जिले के भोजपुर नाम के छोटे से परगने या कस्बे के साथ है तथापि इसका विस्तार उत्तरप्रदेश के अनेक नगरों तक हो चुका है। बनारस गोरखपुर आदि की यही बोली है। इसलिये यह बोली तो शुद्ध हिन्दी क्षेत्र के अत्यधिक निकट है। भोजपुरी का अपना कोई साहित्य नहीं। इस भाषा को बोलने वालों ने साहित्यरचना की दृष्टि से ब्रज और अवधी तथा आधुनिक काल में खड़ी बोली हिन्दी को अपनाया है।

भाषा-विकास की दृष्टि से बिहारी बोलियों का सम्बन्ध हिन्दी के साथ न होकर बंगला, उड़िया तथा असमिया के साथ है। इनकी उत्पत्ति मागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश से ही हुई है। यही कारण है कि बिहार का रहने वाला हिन्दी की अपेक्षा बंगला को शीघ्र और आसानी के साथ सीख लेता है। भोजपुरी का प्रश्न अवश्य विवादास्पद है। लोगों का यह विचार है कि इसका सम्बन्ध हिन्दी के साथ ही है[1]। डा० उदयनारायण तिवारी ने डा० ग्रियर्सन के मत को ही मान्य ठहराया है जिसमें भोजपुरी की गणना मैथिली और मगही के साथ ही बिहारी बोलियों के अन्तर्गत की गई है।[2]

---

1. A History of Maithili Literature: Jaya Kant Misra.
2. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृ. ३०४-३१०

राजस्थानी बोलियां

राजस्थान प्रदेश की भाषा का नाम राजस्थानी है । डा० ग्रियर्सन ने अपने सर्वेक्षण में इस की बोलियों को अलग से रखा है परन्तु गुजराती के साथ इन का घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है । उनका कहना है—"राजस्थानी तथा गुजराती का अतिनिकट का सम्बन्ध है । सच तो यह है कि राजस्थानी और गुजराती न्यूनाधिक रूप में एक ही भाषा की दो पृथक् विभाषायें है ।"[1] इटली के सुप्रसिद्ध विद्वान् एल. पी. तेस्सीतरी (L. P. Tessitory) ने भी इसी मत को दिया है । दूसरी ओर इस बात को अस्वीकार नहीं किया जासकता कि राजस्थानी पर हिन्दी का विशेष प्रभाव पड़ता रहा है इस कारण यह हिन्दी के साथ भी घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है । पिंगल और ब्रजभाषा के साथ तो यह बहुत अधिक जुड़ी हुई है । सम्भवत: पिंगल के अनुकरण पर ही राजस्थानी की प्राचीन साहित्यिक भाषा का नाम डिंगल रखा गया था । डा. सुनीतिकुमार चैटर्जी का यह विचार है कि राजस्थानी को हिन्दी के अन्तर्गत ही रखना चाहिये । उनका कहना भी है--"राजस्थानी बढ़ती रहे हिन्दी से, इसका छुटकारा कभी न हो ।"[1]

वस्तुत: राजस्थानी बोलियां हिन्दी के अन्तर्गत ही मानी जानी चाहियें क्योंकि भाषा-विकास और घनिष्ठ सम्बन्ध की दृष्टि से ये हिन्दी का ही एक अङ्ग है । इनका विकास भी शौरसेनी से हुआ है जिसके साथ पश्चिमी हिन्दी सम्बन्धित है । राजस्थानी की मुख्य बोलियां दो हैं—१. **पश्चिमी राजस्थानी**--इसके अन्तर्गत जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि की बोली मुख्य है । इस बोली का नाम मारवाड़ी है । २. **पूर्वी राजस्थानी** इस के अन्तर्गत जयपुर, अजमेर, रेवाड़ी किशनगढ़, कोटा, बूंदी आदि की बोलियां हैं । इनके अतिरिक्त अन्य बोलियां भी हैं जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है ।

---

1. **भारत का भाषा सर्वेक्षण, खण्ड १, भाग १ पृ. ३१४**
2. **राजस्थानी भाषा ।**

अध्याय १३

हिन्दी की ध्वनियां

पिछले अध्यायो मे हिन्दी के विकास को स्पष्ट किया गया है। इसका विकास भारोपीय परिवार की भारत-ईरानी शाखा की वैदिक सस्कृत से हुआ है। वैदिक संस्कृत की अनेक विशेषताये तो क्रमिक विकास मे धीरे धीरे लुप्त या परिवर्तित हो गई परन्तु अनेक विशेषतायें अभी तक हिन्दी मे सुरक्षित है। यदि हम हिन्दी की ध्वनियों के सम्बन्ध में विचार करें तो यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक संस्कृत की अधिकांश ध्वनियां अभी भी हिन्दी में विद्यमान है। अन्य ध्वनियों मे कुछ उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन हो गये हैं और कुछ का लोप हो गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी का अरबी फारसी और अंग्रेजी से भी विशिष्ट सम्बन्ध रहा है इस लिये कुछ नई ध्वनियां भी इन भाषाओं से प्रभावित होकर हिन्दी में आ गई हैं। कुछ ध्वनियों का हिन्दी में स्वतन्त्र विकास भी हुआ है।

हिन्दी देवनागरी लिपि मे लिखी जाती है। देवनागरी के वर्ण हिन्दी की अधिकांश ध्वनियों का पूरा और स्पष्ट प्रतिनिधित्व करते है परन्तु कुछेक ध्वनियों का हिन्दी या हिन्दी की बोलियों मे उच्चारण तो होता है परन्तु उनके लिये देवनागरी में निश्चित वर्ण नही है इसलिये नीचे देव-नागरी के वर्णो के साथ कुछ चिह्न लगाकर उन्हे स्पष्ट किया गया है।

हिन्दी की ध्वनियों को भी दो मुख्य वर्गो मे बाटा जा सकता है। (१) स्वर और (२) व्यञ्जन।

स्वर-ध्वनियां

मूल स्वर

ह्रस्व—अ इ उ

दीर्घ—आ, ई, ऊ, ए, ओ ।

बोलियों में प्रयुक्त अन्य स्वर[1]

ह्रस्व—अ̱, इ̥, उ̥, ए̥, ए̆, ऍ̆, ओ̆, ऑ̆ ।

दीर्घ—ऍ, ऑ ।

अंग्रेज़ी तत्सम शब्दों में प्रयुक्त

दीर्घ—ऑ

संयुक्त स्वर

ऐ, औ

हिन्दी में लिखित रूप के अनुसार यद्यपि 'ऋ' ध्वनि भी मानी जाती है परन्तु इसका उच्चारण 'रि' के समान होता है इसलिये हिन्दी की स्वर ध्वनियों में इसका समावेश न करना ही ठीक है ।

इस पुस्तक के प्रथम भाग के आठवें अध्याय, ध्वनियों का वर्गीकरण में मानस्वरों का उल्लेख किया गया है उस दृष्टि से हिन्दी की ध्वनियों का स्वरूप निम्न चित्र में दिया जाता है।

---

१. वर्णों के साथ जो चिह्न लगाये गये हैं उनका अर्थ इस प्रकार हैं ।—वर्ण के नीचे का यह चिह्न सामान्य ध्वनि से भिन्नता दिखाने के लिये है। ० वर्ण के नीचे का यह चिन्ह फुसफुसाहट को व्यक्त करता है। ̥ वर्ण के नीचे का यह चिह्न सामान्य तौर पर दीर्घ मानी जाने वाली ध्वनि के ह्रस्वत्व को बताता है। ˘ वर्ण के ऊपर का यह चिह्न उसके अर्द्धविवृत स्वरूप को स्पष्ट करता है। ˘̥ वर्ण के ऊपर और नीचे के ये दो चिह्न ह्रस्वत्व और अर्द्धविवृतत्व दोनों को प्रकट करते हैं ।
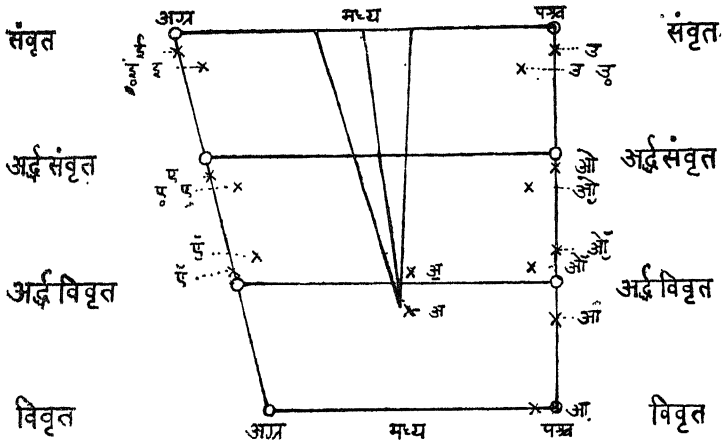
इन स्वरों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

(१) अ : साहित्यिक हिन्दी और बोलियों में इस ध्वनि का व्यवहार होता है। यह अर्द्धविवृत मध्य स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग ऊपर उठता है और होंठ कुछ खुल जाते हैं।

(२) आ : इस का प्रयोग भी साहित्यिक हिन्दी और बोलियों दोनों में होता है। साधारणतया इसको 'अ' ध्वनि का दीर्घ रूप मान लिया जाता जाता है परन्तु वस्तुत: मात्रा भेद के साथ साथ स्थान भेद की दृष्टि से भी यह ध्वनि 'अ' से भिन्न है।

(३) ऑ : यह ध्वनि न तो पूर्णतया विवृत है और न अर्द्धविवृत। यह पश्च दीर्घ स्वर है। हिन्दी 'आ' ध्वनि से यह भिन्न है क्योंकि इसके उच्चारण में जिह्वा का पश्च भाग अपेक्षाकृत अधिक ऊपर उठता है और होंठ कुछ गोलाकार अधिक हो जाते हैं। अंग्रेज़ी में इस का व्यवहार होता

है। अंग्रेज़ी के तत्सम शब्दों का हिन्दी में वैसा ही उच्चारण करते समय इस का प्रयोग किया जाता है। जैसे—हॉस्पीटल, कॉर्नर। अधिकांश मे हिन्दी मे इसका उच्चारण 'आ' ध्वनि के समान ही होता है। कही कहीं पर इस ध्वनि ने परिवर्त्तित हो कर अ का रूप भी धारण कर लिया है।

(४) इ : यह ध्वनि सवृत ह्रस्व अग्र स्वर है।

(५) ई : यह ध्वनि दीर्घ अग्र स्वर है।

(६) इ॰ : यह ध्वनि मूल हिन्दी स्वर इ का फुसफुसाहट वाला रूप है। इस का उच्चारण साहित्यिक हिन्दी मे नहीं होता, केवल बोलियों में होता है। यह ध्वनि ब्रज तथा अवधी के कुछ शब्दों के अन्त मे व्यवहृत होती है। आवत् इ॰, जात् इ॰। इस फुसफुसाहट वाली स्वर ध्वनि (whispered vowel) में दोनों स्वरतन्त्रियां एक दूसरे के अत्यधिक समीप आ जाती है। जो लोग इसके उच्चारण से परिचित नहीं वे या तो इस का उच्चारण 'अ' की तरह करते है या 'इ' की तरह। देवनागरी लिपि में इसे 'इ' वर्ण और उसकी मात्रा से अंकित किया जाता है।

(७) उ : यह ध्वनि संवृत ह्रस्व दीर्घ पश्च स्वर है।

(८) ऊ : यह ध्वनि संवृत ह्रस्व पश्च स्वर है।

(९) उ॰ : यह ध्वनि उ का फुसफुसाहट वाला रूप है। इस का व्यवहार भी बोलियो में होता है। यह ध्वनि ब्रज और अवधी दोनों में है। जैसे आवत् उ॰, जात् उ॰, भोर् उ॰।

(१०) ए : यह अर्द्धसंवृत दीर्घ अग्रस्वर है।

(११) एॖ : यह अर्द्धसंवृत ह्रस्व अग्रस्वर है।

इसका व्यवहार भी बोलियों में होता है। जैसे अवधेस केॖ द्वारेॖ सकारेॖ गई।

(१२) ए॰ : यह अर्द्धसवृत ह्रस्व अग्रस्वर ए का फुसफुसाहट वाला रूप

है। अवधी मे इस का प्रयोग होता है। साहित्यिक हिन्दी मे यह ध्वनि नही है। जैसे—कहे सुए।

(१३) एॅ : यह अर्द्धविवृत दीर्घ अग्रस्वर है। इस का व्यवहार ब्रज बोली मे होता है, साहित्यिक हिन्दी मे नही। जैसे—एॅसो

(१४) एॅ : यह ध्वनि अर्द्धविवृत ह्रस्व अग्रस्वर है। ब्रजभाषा मे इस का व्यवहार होता है। जैसे—सुत गोद केॅ भूपति लै निकसे।

(१५) ओ : यह ध्वनि अर्द्धसंवृत दीर्घ पश्च स्वर है।

(१६) ओ : यह ध्वनि अर्द्धसवृत ह्रस्व पश्च स्वर है। इस का प्रयोग ब्रजभाषा व अवधी मे होता है। जैसे—ओहि केर बिटिया।

(१७) ओॅ : यह ध्वनि अर्द्धविवृत दीर्घ पश्चस्वर है। ब्रजभापा के वाकोॅ, गायोॅ आदि इसके उदाहरण है। साहित्यिक हिन्दी मे इसका प्रयोग नही होता।

(१८) ओॅ : यह ध्वनि अर्द्धविवृत ह्रस्व पश्च स्वर है। इसका व्यवहार भी ब्रजभाषा में होता है साहित्यिक हिन्दी मे नही। जैसे—अवलोकि होॅ सोचविमोचन को।

(१९) अ : यह ध्वनि अर्द्धविवृत मध्य ह्रम्वार्द्ध स्वर है और हिन्दी की अ ध्वनि से बहुत अधिक मिलती-जुलती है। इसे उदासीन स्वर कहा जाता है। यह ध्वनि भारोपीय भाषा मे भी थी। भारतीय आर्यभाषा मे साहित्यिक स्तर पर इस का लोप हो गया परन्तु अवधी और कही कही पजाबी मे यह ध्वनि सुनाई पडती है। अवधी मे जैसे—रामक।

अनुनासिक स्वर

अ स्वर के अतिरिक्त हिन्दी के सभी स्वर अनुनासिक रूप मे भी प्रयुक्त होते है। अनुनासिक स्वर के उच्चारण मे स्थानभेद नहीं होता। केवल बाहर आने वाली श्वासवायु का कुछ भाग मुखविवर से निकलता

है तो कुछ भाग नासिका विवर से । गोद, बास आदि अनुनासिक स्वरो के उदाहरण है ।

संयुक्त स्वर

हिन्दी मे सयुक्त स्वर दो ही है—ऐ और औ । इन का उच्चारण क्रमश: अए् और अओ् भी है तथाच अइ और अउ भी । आजकल प्राय: प्रथम उच्चारण ही अधिक प्रचलित है । इन सयुक्त स्वरों के अतिरिक्त हिन्दी मे अनेक स्वरों के सयोग के भी उदाहरण मिलते है । जैसे दो स्वर--आओ; तीन स्वर—तइआरी, आइए आदि ।

व्यञ्जन ध्वनियां

हिन्दी की व्यञ्जन ध्वनिया इस प्रकार है :—

१. **स्पर्श**

कठ्य—क् क् ख् ग् घ्
मूर्धन्य—ट् ठ् ड् ढ्
दन्त्य—त् थ् द् ध्
ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ्

२. **स्पर्शसंघर्षी**

तालव्य—च् छ् ज् झ्

३. **अनुनासिक**

कठ्य—ङ
तालव्य—ञ्
मूर्धन्य—ण्
वर्त्स्य—न्, न्ह्
ओष्ठ्य—म, म्ह्

४. **पार्श्विक**—ल्, ल्ह् (वर्त्स्य)

५. **लुंठित**—र्, र्ह् (वर्त्स्य)

६. **उत्क्षिप्त**—ड़्, ढ़् (मूर्धन्य)

७. **संघर्षी**— : (विसर्ग), ह्, ख़्, ग़्, श्, स्, ज़्, फ़्, व्

८. **अर्द्धस्वर**—य्, व़् ।

इन में से अनेक ध्वनियाँ तो प्राचीन हैं और वैदिक संस्कृत तक में प्रयुक्त होती थीं। उच्चारण की दृष्टि से अवश्य कुछ भिन्नतायें हैं। निम्न ध्वनियां अरबी-फ़ारसी के प्रभाव के कारण आई हैं—क़्, ख़्, ग़् ज़् फ़् । कुछ ध्वनियों का उच्चारण केवल बोलियों में होता है साहित्यिक हिन्दी में नहीं। वे ध्वनियां इस प्रकार हैं—ञ्, ल्ह्, र्ह् । देवनागरी लिपि में एक अन्य व्यञ्जन ध्वनि का उल्लेख भी किया जाता है। वह ध्वनि ष् है परन्तु हिन्दी में इस का उच्चारण श् के समान होने के कारण इसे पृथक् ध्वनि के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। साहित्यिक हिन्दी में ञ् ध्वनि नहीं है। इस ध्वनि के लिये देवनागरी लिपि में वर्ण हैं परन्तु इस का उच्चारण 'न्' के समान होता है। जैसे—चञ्चल का उच्चरित रूप चन्चल है। इसी प्रकार ण् का उच्चारण भी साहित्यिक हिन्दी में न् के समान होता है। जैसे—पण्डित का उच्चरित रूप पन्डित है, परन्तु गणेश आदि शब्दों में इसका अस्तित्व होने से इसकी गणना साहित्यिक हिन्दी की ध्वनियों में की जाती है।

ऊपर जिन व्यंजन ध्वनियों का उल्लेख किया गया है उन में से कुछ हिन्दी की अपनी विकसित ध्वनियां भी हैं। वे इस प्रकार हैं—ड़्, ढ़्, व़्, न्ह् म्ह् ।

स्पर्श तथा स्पर्श-संघर्षी व्यंजन ध्वनियों का स्थान उनके साथ उल्लिखित है 'क़्' ध्वनि का प्रयोग फ़ारसी के तत्सम शब्दों में ही होता है। आजकल यह ध्वनि प्राय: लुप्त होती जा रही है। कण्ठ्य ध्वनियों का

वास्तविक उच्चारण कण्ठ्य न हो कर कोमलतालव्य है। घोष और प्राण की दृष्टि से इन का वर्गीकरण निम्न प्रकार का है—

घोष		सघोष	
अल्पप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण	महाप्राण
क	ख	ग	घ
च	छ	ज	झ
ट	ठ	ड	ढ
त	थ	द	ध
प	फ	ब	भ

अनुनासिक ध्वनियां ङ्, ञ्, ण्, न् और म् सघोष अल्पप्राण ध्वनियां है। आजकल 'न्' का उच्चारण वर्त्स्य होता है इसलिये इसे दन्त्य कहना ठीक नहीं। न्ह् और म्ह् सयुक्त ध्वनियां नही है बल्कि न्, और म् ध्वनियों का महाप्राण रूप है। इसी प्रकार र्ह् और ल्ह् भी क्रमशः र् और ल् का महाप्राण रूप हैं। ये चारो ध्वनियां सघोष है। ड़् और ढ़् भी सघोष है। ड़् अल्पप्राण है और ढ़् महाप्राण। इन दोनों ध्वनियों का शब्द के आदि मे प्रयोग नहीं होता।

संघर्षी ध्वनियो मे से विसर्ग (:) स्वरयत्रमुखी अघोष ध्वनि है इसका प्रयोग अधिकांश मे संस्कृत के तत्सम शब्दों मे होता है जैसे वस्तुतः आदि। हिन्दी के कुछ शब्दों मे भी इसका प्रयोग होता है जैसे छः, छिः आदि। कही कही विसर्ग को लिपि में लिखा जाता है परन्तु उसका विसर्ग के समान उच्चारण नही होता, जैसे दुःख। इसमे विसर्ग का उच्चारण क् के समान होता है। अघोष महाप्राण व्यञ्जनों में इसी का प्रयोग होता है। जैसे क्+:=ख्। ह् ध्वनि और विसर्ग एकसमान ध्वनियां है। अन्तर इतना ही है कि ह् सघोष है और विसर्ग अघोष। सघोष व्यञ्जनों मे महाप्राण रूप मे यही ह् जुड़ा होता है, जैसे ग्+ह्=घ्।

'ख़्' ध्वनि जिह्वामूलीय अघोष संघर्षी ध्वनि है। 'ग़्' ध्वनि

जिह्वामूलीय सघोष संघर्षी ध्वनि है। 'ख़' और 'ग़' का अन्तर केवल अघोषता और सघोषता का है। 'श्' अघोष संघर्षी तालव्य ध्वनि है 'स्' वर्त्स्य संघर्षी अघोष ध्वनि है। 'स्' का सघोष रूप 'ज़' है। 'फ़' दन्त्योष्ठ्य संघर्षी अघोष ध्वनि है। 'व्' का उच्चारणस्थान 'फ़' जैसा है परन्तु यह सघोष ध्वनि है।

'य्' ध्वनि तालव्य सघोष अन्तःस्थ है। इसका समानान्तर स्वर 'इ' है। अन्तःस्थ ध्वनि के रूप में व् का उच्चारण द्व्योष्ठ्य होता है। परन्तु इसके उच्चारण में दोनों होंठ बिल्कुल बन्द नहीं होते। इसका समानान्तर स्वर 'उ' है।

हिन्दी ध्वनियों का विकास

आधुनिक युग में हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ गया है उन शब्दों में सस्कृत की मूल ध्वनियां अपना ली गई हैं इसलिये ध्वनियों के इतिहास की दृष्टि से उन शब्दों का कोई महत्त्व नहीं। केवल तद्भव शब्दों की ओर ही ध्यान देने की आवश्यकता है। हिन्दी के तद्भव शब्दों की ध्वनियों के विकास को समझने के मार्ग में एक कठिनाई है। वह यह है कि हिन्दी का विकास सीधा वैदिक संस्कृत से नहीं हुआ बल्कि प्राकृत से हुआ है। प्राकृत की उपलब्ध सामग्री अपर्याप्त है इसलिये अनेक प्राकृत रूप नहीं मिलते। आवश्यकता इस बात की है कि ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्राकृत के रूपों का पुनर्निर्धारण किया जाय। जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक हिन्दी ध्वनियों के पूरे इतिहास का निश्चय नहीं किया जा सकता और न ही इस सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये जासकते हैं। सामग्री के अभाव में हिन्दी की बोलियों की विशिष्ट ध्वनियों के विकास का भी निश्चय नहीं किया जा सकता।

जितनी सामग्री उपलब्ध है उसे देखते हुए यह कहा जासकता है कि हिन्दी में संस्कृत के अनेक स्वर और व्यञ्जन परिवर्तित रूप में ही आये हैं। इन परिवर्तनों के कुछ नियम बनाने के भी प्रयत्न किये गये हैं परन्तु

वे नियम पूर्णतया व्यापक नियम नहीं हैं। नीचे कुछ नियमों का उल्लेख किया जाता है।

स्वरसम्बन्धी नियम

१. यद्यपि लिखने मे हिन्दी के अधिकांश शब्द स्वरान्त है परन्तु उच्चारण में ये व्यञ्जनान्त होगये है।

२. हिन्दी मे संस्कृत के 'इ' व 'उ' कभी कभी क्रमश: 'ए' व 'ओ' में परिणत होजाते हैं, जैसे—स. कुष्ठ>हिं. कोढ़। हिन्दी के तद्भव शब्दों में 'ऐ' और 'औ' का प्रयोग बहुत कम होता है उनके स्थान पर क्रमश: 'ए' और 'ओ' होजाते हैं, जैसे—सं कैवर्त्त > हिं. केवट; स. गौर>हिं. गोरा।

(३) 'ऋ' का उच्चारण हिन्दी में आये संस्कृत के तत्सम शब्दों में ही होता है। इसका उच्चारण 'रि' हो गया है।

(४) हिन्दी में प्राय: सभी स्वर अनुनासिक भी हैं अननुनासिक भी। यदि संस्कृत के किसी शब्द मे विद्यमान अनुनासिक व्यंजन का लोप होकर हिन्दी का शब्द बना हो तो उसमें स्वर प्राय: अनुनासिक हो जाता है। जैसे—सं० चन्द्र>हि० चांद।

(५) अनुनासिक व्यजन से पूर्ववर्त्ती स्वर अनुनासिक हो जाते है, जैसे—हिन्दी में राम का उच्चारण राम् है।

(६) कुछेक हिन्दी शब्द ऐसे भी है जिनमें स्वर अनुनासिक है परन्तु उसके अनुनासिक होने का विशेष कारण समझ में नहीं आता, जैसे—सं० अश्रु>हि० आंसू।

(७) वैदिक संस्कृत में चार संयुक्त स्वर थे—ए, ओ, ऐ, औ। पालि और प्राकृत में एक भी संयुक्त स्वर नहीं रहा परन्तु अनेक स्वरों का समूह रूप में आना प्राकृत काल की स्वर ध्वनियों की मुख्य विशेषता है। हिन्दी मे सयुक्त स्वर दो है—ऐ और औ। स्वरों के समूहों का भी प्रयोग होता है जिनका विकास अपभ्रंश या प्राकृत से ही हुआ है। वैदिक सस्कृत से नही।

(८) हिन्दी में स्वर लोप भी होता है, स्वरागम और स्वर-विपर्यय भी। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

आदि स्वर लोप—अपि>भी

मध्य स्वर लोप—चलना>चल्ना

अन्त्य स्वर लोप—घर>घर्

अन्त्य स्वर लोप के अनेक अपवाद भी हैं, जैसे कर्तव्य, राजसूय। इसमें अन्तिम स्वर का लोप नहीं होता।

आदि स्वरागम—स्त्री>इस्त्री

मध्य स्वरागम—जन्म<जनम्

स्वर विपर्यय—उल्का>लूका

व्यंजन सम्बन्धी नियम

(१) शब्द के प्रारम्भिक असंयुक्त व्यंजन में प्राय: कोई परिवर्तन नहीं होता। सबसे अधिक परिवर्तन शब्द के मध्य में आने वाले व्यञ्जन में होते हैं। कहीं कहीं अघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन सघोष अल्पप्राण हो जाते हैं। जैसे सं० काक>हि० काग, स० शाक>हि० साग। प् के परिवर्तन का क्रम इस प्रकार है—प्>ब्, व्>व़्>उ>ओ, औ। जैसे सं० वपनम्>हि० बोना। इसी प्रकार म् में भी परिवर्तन हो जाता है। जैसे सं० गमनम्>हि० गौना। महाप्राण ध्वनियों का ह् में परिवर्तन अक्सर हो जाता है। जैसे सं० आभीर>हि० अहीर। कहीं कहीं संस्कृत ऊष्म ध्वनियाँ भी 'ह्' में परिणत हो जाती हैं। जैसे—सं० द्वादश>हि० बारह। 'म्' का परिवर्तन 'व्' रूप में हो जाता है परन्तु इसका अनुनासिक अंश स्वर के साथ मिल जाता है। जैसे>सं० ग्राम>हि० गाँव। मध्य-वर्त्ती ण् के स्थान पर न् हो जाता है। जैसे—सं० गणना>हि० गिनना। मध्यवर्त्ती व्यंजन के लोप के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—सं० कोकिल>हि० कोइल। हिन्दी के अधिकांश शब्दों के अन्त्य स्वर के लुप्त हो जाने के कारण वे शब्द व्यञ्जनान्त हो गये हैं परन्तु अन्तिम व्यञ्जन पर अभी विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

(२) संयुक्त व्यञ्जनों में से हिन्दी में प्राय: एक ही व्यञ्जन रह जाता है। जैसे—सं० दुग्ध>हि० दूध; सं० अग्नि>हि० आग।

(३) देवनागरी लिपि में 'ख' और 'रव' लिखने का ढंग प्राय: एक जैसा है इसलिये भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। देवनागरी लिपि में 'ष्' की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि अब इसका उच्चारण 'श्' की तरह होता है। इन दोनों को देखते हुए 'ख्' के स्थान पर 'ष्' लिखा जाने लगा। बाद में मूल 'ष्' का उच्चारण भी 'ख्' की तरह हो गया इसलिये भाषा के स्थान पर भाखा आदि शब्द भी प्रचलित हो गये।

(४) हिन्दी में आई फ़ारसी की व्यञ्जन ध्वनियों का कहीं कहीं तो शुद्ध उच्चारण होता है परन्तु कई स्थानों पर उनके उच्चारण को हिन्दी की मूल ध्वनियों के उच्चारण के समान परिवर्तित भी कर लिया गया है। क़्, ख़्, ग़्, ज़् और फ़् का उच्चारण क् ख् ग् ज् और फ् की तरह किया जाता है। जैसे—क़लम>कलम, ख़त>खत, ग़ौर>गौर, ज़ोर>जोर, फ़ारसी> फारसी आदि।

स्वराघात

हिन्दी में न तो बलात्मक स्वराघात है और न संगीतात्मक स्वराघात। कहीं कहीं पर बलात्मक स्वराघात के फुटकल उदाहरण मिल जाते हैं। संगीतात्मक स्वराघात का थोड़ा बहुत स्वरूप वाक्यों में देखने को अवश्य मिल जाता है। डा० बाबूराम सक्सेना का विचार है कि अवधी में बलात्मक स्वराघात है।[1]

1. Evolution of Avadhi.

अध्याय १४

हिन्दी की रूप-रचना

पदों का संज्ञा और क्रिया इन दो वर्गों में विभाजन जैसा संस्कृत और प्राकृतों में मिलता है वैसा हिन्दी में भी दिखाई देता है। हिन्दी में संज्ञा शब्द अलग हैं और क्रियाशब्द अलग। इस लिये रूप-रचना की दृष्टि से संज्ञा शब्दों और क्रिया शब्दों का पृथक् पृथक् विवेचन किया जाता है। एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये कि संस्कृत की रूप-रचना अत्यन्त जटिल थी परन्तु बाद में उस में सरलीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। जिस का यह शुभ परिणाम है कि हिन्दी की रूप-रचना जटिल नहीं है बल्कि अत्यन्त सरल है। येही कारण है कि हिन्दी-भाषी हिन्दी के व्याकरण के बिना भी काम चला लेते हैं और अहिन्दी-भाषियों को हिंदी व्याकरण की बहुत थोड़ी बातें याद करने की आवश्यकता होती है।

संज्ञारूप

पीछे कहा जा चुका है कि संस्कृत में संज्ञा रूपों की दृष्टि से आठ विभक्तियां, तीन वचन और तीन लिङ्ग थे। विभिन्न स्वरान्त और व्यञ्जनान्त संज्ञा शब्दों के रूपों में भी विभिन्नता थी परन्तु हिन्दी के संज्ञा-रूपों में इतनी अधिक भिन्नता नहीं है। विभक्तियों का तो प्रायः लोप हो गया है। द्विवचन के लोप हो जाने के कारण वचन केवल दो ही रह गये हैं। विभिन्न लिंगों, स्वरान्त या व्यंजनान्त की दृष्टि से भी किसी प्रकार की भिन्नता देखने को नहीं मिलती। नपुंसक लिङ्ग के लुप्त हो जाने के कारण केवल दो लिङ्ग ही रह गये हैं। क्रियाओं में भी लिङ्गभेद के कारण कही कहीं थोड़ी कठिनाई अवश्य होती है।

साधारण तौर पर सज्ञा-रूप दो है—१. विकारी २. अविकारी। अधिक से अधिक किसी सज्ञा के चार रूप ही हिन्दी मे उपलब्ध होते है। इस प्रकार अधिकांश संज्ञा-रूपो के लुप्त हो जाने के कारण कारक के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये परसर्गों का प्रयोग किया जाने लगा। सस्कृत विभक्ति प्रधान भाषा थी परन्तु उस में कारकीय परसर्गों का भी प्रयोग होता था। हिन्दी में केवल परसर्गो का ही अस्तित्व है, विभक्तियो का नही। इसी लिये हिन्दी अधिकाश मे अयोगात्मक भाषा है।

हिन्दी के कारक-परसर्ग

हिन्दी के परसर्गो के विकास के सम्बन्ध मे विद्वानों मे पर्याप्त मतभेद रहा है। परसर्गों का विकास प्रत्ययों से हुआ है अथवा स्वतन्त्र शब्दो से—यह प्रश्न ही इस विवाद का मूल आधार है। आजकल अधिकतर यही माना जाता है कि परसर्गो का विकास स्वतन्त्र शब्दो से हुआ है परन्तु ये शब्द घिसघिसा कर इतने छोटे हो गये है कि प्रत्ययो की तरह दिखाई देने लगे है। हिन्दी के विद्वानों मे किसी समय इस विषय को ले कर बहुत बडा विवाद उठ खडा हुआ था कि हिन्दी के ने-को-से आदि परसर्गों को विभक्तियों के समान संज्ञा शब्द के साथ जोड कर लिखना चाहिये अथवा स्वतन्त्र रूप मे। जो कुछ भी हो हमारा विचार परसर्गों को स्वतन्त्र रूप मे प्रयुक्त करने का है क्योकि इनका विकास स्वतन्त्र शब्दों से हुआ है और अभी तक इनकी स्वतन्त्र सत्ता पूर्णतया स्पष्ट है। हिंदी मे मुख्य परसर्ग ने, से, को, के लिये, का-के-की, मे और पर है। इनके विकास के सम्बन्ध मे नीचे विचार किया गया है।

कर्ता या करण

संस्कृत में कर्ता के लिये प्रथमा और करण के लिये तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता था परन्तु कर्मवाच्य और भाववाच्य में कर्ता के लिये भी तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता था। यही कारण है कि कर्ता और करण के रूप मे बहुत कुछ समानता आ गई। परसर्गों के विकास की

दृष्टि से यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । साधारण तौर पर हिन्दी के कर्ता कारक में न तो संज्ञा-पद में कोई विकार आता है और न ही उस के साथ कोई परसर्ग जुड़ता है । जैसे "राम पढ़ता है" इस वाक्य में कर्ता (राम) के साथ न कोई विभक्ति है और न कोई परसर्ग परन्तु भूतकाल के कृदन्तीय रूपों में कर्ता के साथ 'ने' परसर्ग का प्रयोग होता है । हिन्दी में भूतकाल के कृदन्त रूपों का विकास कर्मवाच्य और भाववाच्य के रूपों से हुआ है इस लिये 'ने' का विकास भी तृतीया विभक्ति के रूप से ही माना जाता है । हिन्दी के 'राम ने पुस्तक पढ़ी' का संस्कृत रूप होगा—रामेण पुस्तकं पठितम् । स्पष्ट है कि 'रामेण' में करण कारक की तृतीया विभक्ति है ।

'ने' परसर्ग का प्रयोग पूर्वी हिन्दी में नहीं होता । पश्चिमी हिन्दी के अतिरिक्त पंजाबी और गुजराती में भी इस का प्रयोग होता है । पंजाबी में तो यह कर्ता के साथ प्रयुक्त होता है, जैसे—"उन्हांने किहा सी" अर्थात् उन्होंने कहा था परन्तु गुजराती में इसका प्रयोग कर्म तथा संप्रदान कारक में होता है ।

इस उपसर्ग की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । ट्रंप का यह विचार है कि इस की व्युत्पत्ति संस्कृत के करण कारक एक-वचन की तृतीया विभक्ति के रूप से हुई है। यह रूप है—एन, जैसे--देवेन, देवदत्तेन इत्यादि । वर्णविपर्यय से यही रूप 'ने' हो गया है ।

बीम्स आदि विद्वानों ने इस व्युत्पत्ति को ठीक नहीं माना है । इस व्युत्पत्ति के विरोध में मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—(१) 'ने' परसर्ग है । इस का विकास विभक्ति प्रत्यय से न ढूंढ़ कर किसी स्वतन्त्र शब्द से ढूंढ़ना चाहिये । (२) 'एन' का 'ने' रूप में परिवर्तन हिन्दी के ध्वनि-परिवर्तनों के अनुकूल नहीं है । इस प्रकार के अन्य रूपों में 'न्' का लोप हो गया है और पूर्ववर्त्ती स्वर अनुनासिक हो गया है । जैसे—संस्कृत के पुलिङ्ग षष्ठी बहुवचन का -आनाम् प्रत्यय तथा नपुंसकलिङ्ग कर्ता तथा कर्म के बहुवचन का -आनि प्रत्यय हिन्दी में क्रमशः -ओं और एँ- प्रत्ययों में बदल गये हैं ।

सं. घोटक-ग्रानाम्>घोड़ों। मराठी में यही विभक्ति एँ रूप में तथा गुजराती मे 'ए' रूप में विद्यमान है। यदि कोई -नेन प्रत्यय होता तो सम्भवत: उससे 'ने' के विकास की बात सोची जा सकती थी परन्तु ऐसा कोई प्रत्यय संस्कृत या अन्य पूर्ववर्त्ती भाषा में नहीं है। (३) एक मुख्य तर्क यह भी है कि 'ने' का प्रयोग पुरानी हिन्दी में अधिक नहीं है। इसका विकास बाद में हुआ है।

बीम्स और हार्नली के मतानुसार इसका सम्बन्ध सम्प्रदान कारक के साथ है। गुजराती और मारवाड़ी में अभी भी नैं या ने सम्प्रदान के लिये प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से पञ्जाबी का 'मैंनूं दे दे' इस वाक्य में प्रयुक्त 'नूं' भी विचारणीय है। नेपाली में संप्रदान के लिये लाई और करण में 'ले' का प्रयोग होता है। हिन्दी 'ने' का विकास 'ले' से माना जाता है। इसका विकास-क्रम इस प्रकार होगा--सं. लग्य:>प्रा. लग्गिओ>हि. लगि, लइ, ले, ने ।

ब्लाक और ग्रियर्सन का यह विचार है कि सम्भवत: ने का सम्बन्ध संस्कृत -तन- के साथ है।

डा० सुकुमार सेन और डा. सुनीति कुमार चैटर्जी का यह विचार है कि 'ने' की व्युत्पत्ति संस्कृत कर्ण शब्द से हुई है।[1] 'ने' का प्राचीन रूप 'कने' माना जाता है। इसका अर्थ समीप है। इसका प्रयोग अभी भी कनौजी में होता है—मेरे कने आओ अर्थात् मेरे पास आओ। संस्कृत में कर्ण का अर्थ कान है और यह समीपता का बोधक भी है।

कर्म और सम्प्रदान

कर्म और संप्रदान का भी परस्पर सम्बन्ध है। हिन्दी में कर्म कारक

---

1. डा. चैटर्जी ने भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी में लिखा है— "कर्ण' > 'कण्ण' से हिन्दी तृतीया प्रत्यय 'ने' राजस्थानी-गुजराती चतुर्थी प्रत्यय 'ने' तथा गुजराती षष्ठी प्रत्यय 'नो,-नी-,-ना-,नुँ" निकले हैं। हिन्दी संस्करण, १९५७ पृ. १३८।

का परसर्ग 'को' है और सम्प्रदान कारक का परसर्ग 'के लिये' है। 'को' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी मतभेद है। संस्कृत में सम्प्रदान कारक के अर्थ में 'कृते' और 'कृतेन' का प्रयोग होता था। ट्रंप का विचार है कि इस 'को' की उत्पत्ति संस्कृत के 'कृत' से हुई है—सं. कृत> कितो, किओ> को। इस प्रकार 'को' की व्युत्पत्ति तो पता चल जाती है परन्तु हिन्दी का प्राचीन रूप 'कहु' था उसका विकास इस प्रकार स्पष्ट नहीं होता। ट्रंप का विचार है कि प्राकृत के कतं और कदं (<कृतम्) रूपों में महाप्राणत्व का अंश आ गया था परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

हार्नली और बीम्स का यह विचार है कि 'को' परसर्ग का सम्बन्ध सं. कक्षं से है। संस्कृत में 'कक्ष' का अर्थ 'बग़ल' है। अर्थ की दृष्टि से 'को' इसके 'निकट, ओर' अर्थ के समान है। परिवर्तन क्रम इस प्रकार माना जाता है—सं. कक्षं>कक्खं>काखं>, काहं>कहुं, कह>कौं> को। डा. चैटर्जी ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।[1]

'को' परसर्ग का कक्ष के साथ सम्बन्ध सर्वथा काल्पनिक है। संस्कृत में कहीं भी कर्म या सम्प्रदान अर्थ में इसका प्रयोग नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में एक और मत भी है। संस्कृत अस्मद् (=हम) और युष्मद् (=तुम) के षष्ठी बहुवचन के रूप क्रमश: अस्माकं और युष्माकं हैं। इन्हीं से क्रमश: अम्हाकं और तुम्हाकं का विकास हुआ है। हिन्दी के अम्हें, तुम्हें इसी से निकले हैं। अन्तिम 'कं' का प्रयोग इन सर्वनामों के साथ 'को' के अर्थ में होने लगा। बाद में यह सभी संज्ञा शब्दों के साथ प्रयुक्त होने लगा। यह बात भी ठीक नहीं। हिन्दी परसर्गों का विकास स्वतन्त्र शब्दों से हुआ है विभक्ति रूपों से नहीं। 'कं' की अन्य शब्दों में अतिव्याप्ति का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुत: 'को' की

---

1. दे. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी— "कक्ष>कक्ख के (अर्द्ध तत्सम) 'कख'>कह से हिन्दी चतुर्थी प्रत्यय कहु">को तथा सिन्धी कहि>खे निकले हैं।" हिन्दी संस्करण, १९५७ पृ. १३८।

सर्वसम्मत व्युत्पत्ति अभी तक पता नहीं है। आजकल अधिकांश में 'कक्ष' से इसकी व्युत्पत्ति की बात मान ली जाती है।

सम्प्रदान कारक के 'के लिये' परसर्ग के 'के' अंश की व्युत्पत्ति सं. 'कृते' से मानी जाती है। हार्नली ने 'लिए' की व्युत्पत्ति सं. 'लब्धे' से बताई थी परन्तु उनका यह मत मान्य नहीं। सम्भवत: 'लिए' की व्युत्पत्ति सं. 'लग्ने' से हुई थी। लग्ने>लग्गे, लग्गि। इसी से हिन्दी बोलियों के लगे, लागि रूप बने।

करण तथा अपादान

हिन्दी में करण और अपादान दोनों के लिये 'से' परसर्ग का प्रयोग होता है। इन दोनों कारकों में एक ही परसर्ग के प्रयोग का कारण समझ में नहीं आता। बीम्स के मतानुसार इस का सम्बन्ध संस्कृत 'सम' के साथ है। चन्दवरदाई ने पृथ्वीराज रासो में कई स्थानों पर 'सम' का प्रयोग 'से' अर्थ में किया है।[1] हार्नली का विचार है कि 'से' परसर्ग का सम्बन्ध प्राकृत 'सतो' या 'सुंतो' के साथ है। प्राकृत के इन परसर्गों का विकास सं. √ अस् धातु से माना जाता है। कैलॉग का विचार है कि 'से' का सम्बन्ध संस्कृत 'सङ्गे' से है। डा. उदयनारायण तिवारी ने 'से' का मूलरूप सम-एन बताया है और उसकी उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार बताया है— सम-एन > सएँ, सइँ > सें > से। ब्रजभाषा के 'सो' की उत्पत्ति समं से बताई है।[2]

सम्बन्ध

हिन्दी में सम्बन्ध के लिये 'का', 'के' और 'की' परसर्गों का प्रयोग

---

1. कहँ कंति समं कंत (१—११); कहि सनकादिक इंद्रसम (२.११०)।

2. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृ० ४४२

होता है। सम्बन्ध कारक नहीं है क्योंकि इस का सम्बन्ध क्रिया के साथ न होकर संज्ञा से होता है इसलिये संज्ञा के लिंग और वचन की दृष्टि से इसका रूप बदल जाता है। जैसे—राम का घर (पुलिंग एक वचन); राम की पुस्तक या पुस्तकें (स्त्रीलिंग एकवचन, बहुवचन) और राम के घर (पुलिंग बहुवचन)।

इन परसर्गों का सम्बन्ध सं √कृ धातु से बने 'कृत:' रूप के साथ है। बीम्स और हार्नली का यही विचार है। 'कृत:' का प्राकृत रूप केरो या केरक है। इन की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में और भी मत हैं। पिशेल इन का सम्बन्ध सं. कार्य से जोड़ते हैं। केलॉग का विचार है कि इस का सम्बन्ध प्राकृत किद:, कद: > सं. कृत: के साथ है। डा. चैटर्जी इसका सम्बन्ध प्राकृत '-क्क' के साथ जोड़ते हैं। इन सब मतों की अपेक्षा बीम्स और हार्नली का मत ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

अधिकरण

हिन्दी में अधिकरण कारक के लिये 'में' और 'पर' परसर्ग हैं। 'में' की व्युत्पत्ति 'मध्ये' से हुई है; यह मत प्राय: सर्वमान्य है। परिवर्तन क्रम इस प्रकार है—मध्ये >मज्झे, मज्झि, मज्झहि >मांहि, महि >में। 'पर' का सम्बन्ध सं. उपरि या सं. परे > प्रा. परि से माना जाता है। उपरि का अर्थ ऊपर है। 'परे' का अर्थ दूर है।

अन्य परसर्ग

कुछेक हिन्दी के अन्य परसर्ग और उनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

आगे < प्रा. अग्गे <सं. अग्रे

नीचे < सं. नीचै:

पीछे < सं. पृष्ठं, पश्चा (उभय संमिश्रण)

पास < सं. पार्श्वे

बाहर< सं. बहिर्

बीच < सं. विच्
भीतर< सं. अभ्यन्तरे
ऊपर < सं. उपरि
मारे < सं. मारितेन (डर के मारे)

विशेषण

संस्कृत में संज्ञा के लिंग, वचन और विभक्ति के अनुरूप ही विशेषण के लिंग वचन और विभक्ति रूप होते हैं। जैसे—सुन्दर : बाल:, सुन्दरी बालिका, सुन्दरं कमलम्। परन्तु हिन्दी में ऐसा नियम नहीं है, जैसे—सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की सुन्दर कमल। इन में संज्ञा भेद से विशेषण में कोई भिन्नता नहीं आती। कहीं कहीं यह भेद देखने को मिलता भी है। जैसे—अच्छा लड़का, अच्छी लड़की, अच्छे लड़के इत्यादि।

संस्कृत में तुलना (Comparative) और श्रेष्ठ (Superlative) अवस्था (degree) को बताने के लिये कुछ विशेष प्रत्ययों का प्रयोग होता था। ये प्रत्यय विशेषण के साथ जुड़कर विशेषण रूप हो जाते थे। हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों में तो उनका प्रयोग मिलता है, जैसे महान्, महत्तर, महत्तम, परन्तु विशेष रूप में ये प्रत्यय हिन्दी के नहीं हैं। हिन्दी में सबसे, सबसे बढ़कर, उसकी अपेक्षा आदि परसर्गों के द्वारा इन भावों को प्रकट किया जाता है।

संख्यावाची विशेषण

संख्यावाची विशेषण आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में प्राय: एक समान ही हैं। इसलिये यह अनुमान लगाया जाता है कि मध्यकाल में सारे देश में पालि के रूप प्रचलित हो गये थे जिसके कारण स्थानीय रूप दब गये। कहीं कहीं स्थानीय रूप भी देखने को मिलते हैं। नीचे कुछेक संख्यावाची विशेषणों का परिवर्तन क्रम दिया जाता है—

एक<एक्क<एक (पंजाबी में यह रूप इक्क है)

दो<दो<द्वौ (गुजराती में यह रूप 'बे' है), यह 'द्वौ' के 'व' का रूपान्तर है। हिन्दी के बारह, बाईस, बत्तीस आदि में यही 'ब' रूप देखने को मिलता है।

तीन<तिण्णि<त्रीणि। (संयुक्त संख्याओं में इसका रूप ते, तें, ति या तिर हो जाता है)

चार<चत्तारि<चत्वारि। (संयुक्त संख्याओं में इसका रूप चौ, चौं या चौर हो जाता है।

पांच<पंच<पञ्च। (संयुक्त संख्याओं में पच्।)

छः<छ<षट् (षष्)। (सोलह और साठ के अतिरिक्त संयुक्त संख्याओं में छ या छ्या।

सात<सत्त<सप्त। (संयुक्त संख्याओं में सत्त, सत, सर, सड़ या स)।

आठ<अट्ठ<अष्ट। (संयुक्त संख्याओं में अट्ठ, अठा, अठ या अड़।)

नौ<नअ<नव। (संयुक्त संख्याओं में नव या निन्या।)

दस<दस<दश। (संयुक्त संख्याओं में दह, रह, लह आदि।)

बीस<बीसइ<विंशति। (संयुक्त सख्याओं में -ईस़ रूप भी।)

तीस<तीसा<त्रिंशत्।

चालीस<चत्तालीसा<चत्वारिंशत्।

पचास<पंचासा<पंचाशत्।

साठ<सट्ठि<षष्टि।

सत्तर<सत्तरि<सप्तति।

अस्सी<असीइ<अशीति।

नव्वे<नव्वए<नवति।

सौ<सअ, सय<शत।

हज़ार—यह फ़ारसी का तत्सम शब्द है। संस्कृत में इसके लिये सहस्र या दशशत का प्रयोग होता है।

लाख<लक्ख<लक्ष ।

करोड़—इसकी व्युत्पत्ति का पूरा पता नहीं। संस्कृत में इसके लिये कोटि शब्द है ।

अरब<सं० अर्बुद, **खरब**<सं० खर्व ।

इनके अतिरिक्त हिन्दी में अपूर्ण संख्यावाची **पाव**, पउआ<पाव,पाअ<पाद, पादक, **चौथाई**<सं० चतुर्थिक, **तिहाई**<सं० त्रिभागिक, आधा<सं० अर्द्ध आदि अपूर्ण संख्यावाची विशेषण भी हैं। **पहला**<*पढिल्ल, *पथिल्ल<सं०*प्र-थ+इल या ***प्रथर**, **दूसरा**<सं० द्वि+सृत:, **तीसरा**<सं. त्रि+-सृत:, **चौथा**<चउत्थ<चतुर्थ आदि क्रम संख्या वाची विशेपण हैं। आवृत्ति संख्या वाची विशेषण का विकास सं. गुण > गुना जोड़ने से हुआ है। जैसे दुगना < सं० द्विगुण। समुदाय संख्या वाची विशेपण दूसरी भापाओं से लिये गये हैं, जैसे—दर्जन<अंग्रेज़ी डज़न (dozen)।

सर्वनाम

हिन्दी के सर्वनाम रूपों का विकास संस्कृत से हुआ है । संस्कृत में सर्वनामों के साथ भी विभक्तियां लगती थीं परन्तु हिंदी में ये विभक्तियां अन्तर्लीन हो गई हैं। उनके स्थान पर भी परसर्गों का प्रयोग होता है। संस्कृत के अन्य पुरुपवाची सर्वनामों में लिंग भेद था परन्तु उत्तमपुरुप-वाची और मध्यमपुरुपवाची सर्वनामों में नहीं था । हिन्दी में अन्यपुरुप-वाची सर्वनामों में भी लिंग भेद प्राय: समाप्त हो गया है ।

सर्वनामों के अनेक भेद होते हैं। हिन्दी के सर्वनामों की दृष्टि से मुख्य भेद निम्नलिखित हैं :—

१. पुरुपवाची (Personal)
२. उल्लेखसूचक (Demonstrative)
३. साकल्यवाची (Inclusive)
४. सम्बन्धवाची (Relative)
५. प्रश्नसूचक (Interrogative)

६. अनिश्चयसूचक (Indefinite)
७. आत्मवाची (Reflexive)
८. पारस्परिक (Reciprocal)

पुरुषवाची

पुरुष तीन होते हैं । उस आधार पर पुरुषवाची सर्वनामों के भी तीन भेद हैं । हिन्दी में उत्तमपुरुषवाची सर्वनाम के एकवचन का रूप 'मैं' है । इस का विकास संस्कृत के 'मया' (तृतीया एकवचन) से हुआ है । विकासक्रम इस प्रकार है—मया>मइं, मए>मइं, मई<मैं । 'हौं' आदि रूपों का प्रयोग बोलियों में होता है । उनका विकास 'अहं' या अहकं से हुआ है । मैं का इस के साथ कोई सम्बन्ध नहीं । उत्तमपुरुषवाची सर्वनाम के बहुवचन रूम 'हम' का विकास संस्कृत के 'वयं' से नहीं हुआ बल्कि इसकी व्युत्पत्ति वैदिक संस्कृत के अस्मे (>अम्हे, म्हे>हम) से हुई है । **मुझ** की व्युत्पत्ति संस्कृत 'मह्यं' से हुई है । 'मु' में उ 'तुझ' के 'तू' के सादृश्य के कारण है । **मेरा**<मम-केर (<कार्य) । **हमारा**<*अस्मकर ।

मध्यम पुरुष के रूपों का विकास-क्रम निम्नलिखित है—**तू**<वैदिक तु (तु-अम्), सं त्वम् या त्वया । **तुम**<प्रा. तुम्ह<सं, युष्म । **तुझ, तुझे**< सं तुभ्यम् । **तेरा**<सं. तव-केर । **तुम्हारा**<स. युष्म+केर ।

उल्लेख सूचक

उल्लेख सूचक सर्वनामों को निश्चयवाची भी कहा जाता है । इसके दो भेद होते हैं--१. निकटवर्त्ती या प्रत्यक्ष उल्लेखसूचक और २. दूरवर्त्ती या परोक्ष उल्लेखसूचक । निकटवर्त्ती उल्लेखसूचक सर्वनामों का विकास निम्न-लिखित है—**यह**<एहो<एसो, एस<एषः । **ये**<एह<एए, एये<एते । **इस**<एअस्स<एतस्य या अस्य । **इन**<*एन्ह्<*एण्ह्<*एअणं< *एतानाम्<एतेषाम्<*एताषाम् । **'इन्हें'** का विकास भी इसी प्रकार हुआ ।

दूरवर्त्ती उल्लेख सूचक सर्वनामों का विकासक्रम निम्नलिखित है । **वह** का सम्बन्ध डा० सुनीति कुमार चैटर्जी के अनुसार संस्कृत के कल्पित

रूप *अव के साथ है। ईरानी में 'अव' और 'ओ' सर्वनाम हैं। कुछ विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते और वे इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं—सं. असौ>पा. असु, प्रा. असो>अहो, ओह, वह। **वे** की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। इस का अपभ्रंश रूप 'ओइ' है।[1] सम्भवत: 'वह' के साथ -ए प्रत्यय (<सं. एभि:>अप. अहि>अइ>ए) जोड़ कर यह रूप बनाया गया है। 'उस' की व्युत्पत्ति *अवस्य>*अउस्स या सं. अमुष्य>पा. अमुस्स प्रा. *अउस्स से मानी जा सकती है। **उन** या **उन्ह्**<*उण्ह्<अउणं<अमूनाम्<अमूष्याम्।

साकल्यवाची

हिन्दी में अधिक प्रचलित साकल्यवाची सर्वनाम **सब**<प्रा. सब्ब>पा. सब्बो<सं सर्व है। इस के अतिरिक्त उभय और सकल शब्द संस्कृत के तत्सम शब्द हैं इस लिये विकास का प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्बन्धवाची

विकासक्रम निम्नलिखित है—**जो** < जो < यो, ये < य:। **जिस** <जस्स<यस्स<यस्य। **जिन**<जाणं<येषाम्, *यानाम्। कुछेक पारस्परिक सम्बन्धवाची (co-relative) सर्वनाम भी हैं। इन्हें नित्य संबन्धी भी कहा जाता है। इनका विकास क्रम निम्नलिखित है—**सो**< सओ, सउ < * सको * सगो <*सक:, स:। **तिस** < तस्स < तस्य। 'तिस' के 'ति' में 'इ' का आगम 'जिस' के प्रभाव के कारण माना जाता है। **तिन** या **तिन्ह्** < ताणां, ताणं < तेषाम् * तानां।

प्रश्नवाची

विकास क्रम इस प्रकार है—**कौन** < कौण< कउण< कवुण <* कपुण < क: पुन:। **किस** < किस्स, कस्स < कस्य। **किन** < काणं < केषाम् *कानाम्।

---

1. "जइ पुच्छह घर वड्डएं तो वड्डा घर ओइ"—हेमचन्द्र। यदि बड़ा घर पूछते हो तो बड़ा घर 'वे' हैं।

अनिश्चय सूचक

विकास क्रम निम्नलिखित है—**कोई** < कोवि < कोऽपि । **किसी** < कस्सइ < कस्स-वि < कस्यापि । **किन्हीं** < काणइ < काणंपि काणंवि <* कानामपि < केषामपि । **कुछ** <* कच्छु, किछि, किंछि < कश्चिद् या किं-चिद् ।

आत्मसूचक

इसे निजवाची भी कहा जाता है । विकास-क्रम इस प्रकार है । **आप** < अप्पा, आप < आत्मन् । **अपना** < अप. अप्पाणु < प्रा. अप्पाणो < सं. आत्मनः । **आपस** < प्रा. * आपस्स < सं. *आत्मस्य ।

विकास की दृष्टि से आदरवाची आप का सम्बन्ध भी आत्मन् से ही है ।

इन के अतिरिक्त विशेषण की तरह प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम भी हिन्दी में हैं । जैसे—**इतना** < प्रा. एत्तिय < सं. इयत्, **कितना** <प्रा. केत्तिय < सं. कियत्, **कैसा** < प्रा. केरिसा < सं. कीदृश् आदि ।

क्रियारूप

पीछे कहा जा चुका है कि संस्कृत के क्रियारूपों में बहुत जटिलता थी । एक एक संस्कृत धातु के ५४० रूप बनते थे । प्राकृतकाल में यह जटिलता बहुत कम होगई । हिन्दी में यह जटिलता समाप्तप्राय होगई है । हिन्दी के क्रिया रूप अत्यन्त सरल है । हिन्दी में गणविभाग बिल्कुल नहीं है । प्रयोगों के भाव प्रकट करने का ढंग अत्यन्त सरल है । कृदन्त रूपों का विकास अधिक हुआ है । सहायक क्रिया का भी प्रयोग होता है । तीन पुरुष हैं । दो वचन हैं । अधिकांश में क्रियारूप सयोगात्मक न होकर वियोगात्मक है ।

काल

हिन्दी में मुख्य रूप से तीन काल हैं । इनमें से वर्तमान और

भविष्य के रूपों का विकास एक नये रूप में हुआ है। भूतकाल के रूप अधिकांश में संस्कृत के कृदन्ती रूपों से विकसित हुए हैं। हिन्दी की धातुओं के साथ -ना प्रत्यय क्रियार्थ संज्ञा (Infinitive) के रूप में प्रयुक्त होता है। यदि -ना प्रत्यय को निकाल दिया जाय तो धातु का मूल रूप निकल आता है जैसे—चल्-ना, गिर्-ना आदि में चल् और गिर् मूल धातुएँ हैं।

वर्तमानकाल

वर्तमान काल में चल् के रूप हैं—

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	चलता है (पुं०)	चलते हैं
	चलती है (स्त्री०)	चलती हैं
मध्यमपुरुष	चलता है (पुं०)	चलते हो
	चलती है (स्त्री०)	चलती हो
उत्तमपुरुष	चलता हूँ (पुं०)	चलते हैं
	चलती हूँ (स्त्री०)	चलती हैं

इन रूपों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूलधातु के साथ -ता, -ते, -ती ये तीन प्रत्यय लगाकर ही रूप बनाये गये हैं। ये रूप सभी धातुओं में इसी प्रकार है। इनका विकास संस्कृत के तिङन्त रूपों चलति, चलतः, चलन्ति आदि से नहीं माना जाता बल्कि संस्कृत के वर्तमान-कालिक कृदन्त प्रत्यय शतृ से हुआ है। इनका विकास क्रम इस प्रकार है—स० चलन् < प्रा० चलंतो > हि० चलता। यदि इन रूपों का विकास सस्कृत के तिङन्त रूपों से होता तो सहायक क्रिया की आवश्यकता न होती परन्तु इन रूपों के साथ 'है, हैं, हो, हूं' ये चार सहायक क्रियायें लगी हुई हैं। सस्कृत के कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रिया लगती है, जैसे—चलन् अस्ति। स्त्रीलिङ्ग में यह रूप है—चलती अस्ति। इन सहायक क्रियाओं का विकास √अस् धातु के विभिन्न रूपों, जैसे अस्ति, अस्मि आदि से हुआ है।

भूतकाल

भूतकालिक रूप इस प्रकार हैं—

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	चला था (पु०)	चले थे
	चली थी (स्त्री०)	चली थीं
मध्यमपुरुष	चला था (पु०)	चले थे
	चली थी (स्त्री०)	चली थीं
उत्तमपुरुष	चला था (पु०)	चले थे
	चली थी (स्त्री०)	चली थीं

उपर्युक्त रूपों से स्पष्ट ही है कि इन रूपों में पुरुष की दृष्टि से कोई भेद नहीं। अन्तर केवल लिंग और वचन की दृष्टि से है। इनका विकास भूतकालिक कृदन्त रूपों से हुआ है। हिन्दी का भूतकालिक कृदन्त -आ है। इसका विकास-क्रम इस प्रकार है—सं० चलित:>प्रा० चलिओ> हि० चला। अधिकांश धातुओं के भूतकालिक कृदन्त का रूप ऐसा ही है। 'किया' और 'गया' के रूपों में अपवाद की प्रतीति होती है परन्तु उनके विकास क्रम को देखने से किसी प्रकार के अपवाद का प्रश्न नहीं उठता। सं० कृत: >प्रा० किओ>हि० किया। सं० गत:>प्रा० गओ>हि० गया। इन कृदन्त रूपों के साथ भी था-थी-थे-थीं सहायक क्रियायें जुड़ी हुई हैं। इस का विकास संस्कृत की √स्था धातु से माना जाता है।

भविष्यकाल

भविष्यकालिक रूप इस प्रकार हैं—

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	चलेगा (पु०)	चलेंगे
	चलेगी (स्त्री)	चलेंगी
मध्यमपुरुष	चलेगा (पु०)	चलोगे
	चलेगी (स्त्री०)	चलोगी

उत्तमपुरुष	चलूंगा (पु०)	चलेंगे
	चलूंगी (स्त्री०)	चलेंगी

उपर्युक्त रूपों में यह बात स्पष्ट है कि धातु के विभिन्न रूप चले, चलें, चलो और चलूँ हैं। उनके साथ गा (पु० एक०) गे (बहुवचन) और गी (स्त्री) जुड़े हुए हैं वस्तुत: हिन्दी में भविष्यकाल के रूप नये ढंग से विकसित हुए हैं। भविष्य काल में धातु के विभिन्न रूपों का विकास हिन्दी के वर्तमान संभावनार्थ के रूप से हुआ है। हिन्दी के वर्तमान संभावनार्थ के रूपों का विकास संस्कृत के वर्तमान काल के रूपों से हुआ है। विकासक्रम इस प्रकार है—सं. चलति>प्रा. चलइ>अप.>चलहि, चलइ>हि. चले; सं. चलन्ति>प्रा. चलंति>अप. चलहिं>हि. चलें; सं. चलथ>प्रा. चलह> अप. चलहु>हि. चलो; सं. चलामि>प्रा. चलामि, अप. चलउ>हि. चलूं; भविष्यार्थ में प्रयुक्त गा, गे और गी का सम्बन्ध संस्कृत गम् के भूतकालिक कृदन्त रूप 'गत' (>प्रा. गदो, गयो, गओ>गा) से माना जाता है।

अन्य रूप

हिन्दी में इनके अतिरिक्त और रूप भी हैं। आज्ञा और सम्भावना के रूप मध्यमपुरुष एकवचन को छोड़ कर अन्य रूपों में मिलते जुलते है। जैसे—

	एकवचन		**बहुवचन**	
	आज्ञा	**संभावना**	**आज्ञा**	**संभावना**
प्रथम पुरुष	चले	चले	चलें	चलें
मध्यम पुरुष	चल	चले	चलो	चलो
उत्तम पुरुष	चलूँ	चलूँ	चलें	चलें

हिन्दी के आज्ञा के रूपों का विकास संस्कृत के लोट् लकार के आज्ञार्थक रूपों से हुआ है और सम्भावना के रूपों का विकास संस्कृत के वर्तमानकालिक लोट् लकार के रूपों से हुआ है।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी के काल सम्बन्धी रूपों के तीन वर्ग हैं।

१. **संस्कृत कालों के अवशिष्ट रूप**—आज्ञा और संभावना के रूप इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

२. **संस्कृत के कृदन्त रूपों से बने हुए काल**—इस वर्ग के अन्तर्गत भूतकाल और भविष्य के कुछ रूप रखे जाते हैं।

३. **आधुनिक संयुक्त काल**—इसके अन्तर्गत उन कालों को रखा जाता है जो संस्कृत के कृदन्त तथा सहायक क्रिया के संयोग से बने हैं। उपरि-निर्दिष्ट वर्तमानकालिक और भूतकालिक रूप इसी श्रेणी में आते हैं।

पूर्वकालिक कृदन्त

संस्कृत में -त्वा और -य प्रत्यय लगा कर पूर्वकालिक कृदन्त रूप बनाया जाता था। नियम यह था कि धातु से पूर्व यदि उपसर्ग न हो तो -त्वा प्रत्यय लगेगा; और यदि उपसर्ग हो तो -य प्रत्यय लगेगा। जैसे—गत्वा परन्तु आगम्य। प्राकृतों में इस नियम का पालन नहीं किया गया। प्रायः सभी धातुओं के साथ केवल -य प्रत्यय लगाने की प्रवृत्ति चल पड़ी। हिन्दी के पूर्वकालिक कृदन्त का विकास इन्हीं प्राकृत रूपों से हुआ है। जैसे—हिन्दी में सुन कर। सं. श्रुत्वा>प्रा. सुणिअ>हि. सुन। 'कर', 'के' और 'कर के' आदि शब्द बाद में जोड़े जाने लगे। 'कर' का विकास प्राकृत के 'करिअ' रूप से तथा 'के' का विकास प्राकृत के 'कइव' से माना जाता है।

क्रियार्थक संज्ञा

हिन्दी में क्रियार्थक संज्ञा का प्रत्यय -ना है। इसका विकास सं.-अणं या -अनं से हुआ है। जैसे—चलनं>चलना; करणं>करना। हिन्दी में 'ण्' और 'न्' के स्थान पर केवल 'न्' का ही प्रयोग होता है। बीम्स का विचार है कि इस का विकास संस्कृत भविष्य कृदन्त प्रत्यय -अनीय (ल्युट्) से हुआ है। सं. करणीय>प्रा. करणअं, करणीअं>हि. करना। यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता।

वाच्य

हिन्दी में कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य हैं। कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य बनाने का ढंग हिन्दी का अपना ही है। इसके रूप 'जाना' सहायक क्रिया के द्वारा बनाये जाते हैं। जैसे—वह काम नहीं करता (कर्तृ०)

उससे काम नहीं किया जाता (कर्म०)

संस्कृत में कर्मवाच्य बनाने के लिये -य- प्रत्यय लगाया जाता था।

प्रेरणार्थक

संस्कृत में प्रेरणार्थक (णिजन्त) रूप -अय- था। कुछेक धातुओं में -अय- के साथ -प- रूप भी जुड़ जाता है। हिन्दी में प्रेरणार्थक रूप -आ- या -वा- प्रत्ययों के जुड़ने से बनते हैं; जैसे—कराना, करवाना। वस्तुत: ये प्राचीन प्रत्ययों के रूपान्तर हैं।

इनके अतिरिक्त हिन्दी में नामधातु और संयुक्त क्रियायें भी हैं।

अव्यय

अव्ययों के सामान्य तौर पर चार वर्ग माने जाते हैं --क्रियाविशेषण, समुच्चयबोधक, सम्बन्धसूचक, और विस्मयादिबोधक। हिन्दी के अव्ययों का विकास संस्कृत, अरबी-फ़ारसी तथा अन्य भाषाओं के अव्ययों से भी हुआ है। उदाहरण के तौर पर क्रियाविशेषण आज (<सं. अद्य>पा. अज्ज), कल (<सं. कल्य), परसों (<सं. परश्वस्) आदि का विकास संस्कृत से हुआ है। समुच्चय बोधक 'कि' और विस्मयादिबोधक शाबाश (<फा. शादबाश) आदि का सम्बन्ध फ़ारसी से है। विस्मयादिबोधक 'अरे' द्राविड़ भाषाओं के 'अडे' का रूपान्तर है। कुछेक अव्ययों का इतिहास अत्यन्त रोचक भी है; जैसे दुहाई<दो+हाय।

अध्याय १५

हिन्दी की वाक्य-योजना

व्याकरण के अन्तर्गत दो विषयों पर मुख्य रूप में विचार किया जाता है—(१) रूप रचना और (२) वाक्य-योजना। ये दोनों व्याकरण के महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं और एक दूसरे के साथ इतने घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं कि कभी कभी दोनों में भिन्नता रख पाना अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है। रूप-रचना के अन्तर्गत केवल एक एक रूप पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाता है परन्तु वाक्य-योजना के अन्तर्गत विभिन्न रूपों के परस्पर सम्बन्ध का विश्लेषण किया जाता है।

प्रत्येक भाषा की अपनी विशिष्ट वाक्य-योजना होती है। वाक्य-योजना की ये विशेषतायें बहुत कुछ रूप-रचना पर निर्भर करती हैं। हिन्दी की अपनी विशिष्ट रूप-रचना है इस लिये उसकी अपनी विशिष्ट वाक्य-योजना है। संस्कृत से ही हिन्दी का विकास हुआ है परन्तु संस्कृत और हिन्दी की वाक्य-योजना में बहुत अधिक अन्तर है। इसका सब से बड़ा कारण संस्कृत की रूप-रचना का हिन्दी की रूप-रचना से बहुत कुछ भिन्न होना है। उदाहरण के तौर पर संस्कृत का एक वाक्य इस प्रकार है—कस्मिंश्चिन्नगरे ब्रह्मदत्तो नाम राजा आसीत्। यदि हम चाहें तो इस वाक्य में आये पदों में उलट-फेर भी कर सकते हैं। इससे वाक्य के अर्थ में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आयेगा। जैसे—आसीत् ब्रह्मदत्तो नाम राजा कस्मिंश्चिन्नगरे अथवा आसीत् कस्मिंश्चिन्नगरे ब्रह्मदत्तो नाम राजा। संस्कृत की वाक्य-योजना में ऐसा कोई नियम नहीं कि सज्ञापद का पहिले प्रयोग होगा और क्रियापद का बाद में। संस्कृत के इस वाक्य का हिन्दी में अनुवाद इस प्रकार होगा—किसी नगर में ब्रह्मदत्त नाम का राजा था।

अब यदि हम चाहें कि 'था' क्रिया का प्रयोग वाक्य के आदि में कर दें तो हम ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि इससे हिन्दी की वाक्य-योजना पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। संस्कृत विभक्ति-प्रधान भाषा है। विभक्तियों के द्वारा ही विभिन्न पदों का वाक्य में सम्बन्ध पता चल जाता है इसी लिये पदों में कहीं-कहीं उलट-फेर कर देने से कोई विशेष अन्तर नहीं आता। जैसे—दत्तं राज्यं रामाय, रामाय राज्यं दत्तम्, रामाय दत्तं राज्यम्—इन तीनों वाक्यों में तीनों शब्द अपने अपने विभक्ति-रूप के साथ सर्वथा स्वतन्त्र हैं। एक दूसरे का स्थान ले लेने से उनके अर्थ में परिवर्तन नहीं आया। इसी वाक्य का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—राम को राज्य दिया। अब यदि हम इस वाक्य के दो पदों को एक दूसरे के स्थान पर रख दें तो अर्थ ही बदल जायेगा—राज्य को राम दिया। स्पष्ट है कि 'राम को' संस्कृत 'रामाय' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत 'रामाय' में हिन्दी के 'राम-को' का 'को' परसर्ग भी अन्तर्भुक्त है इसलिये 'रामाय' के स्थान-परिवर्तन से किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आ पाता पर हिन्दी में आ जाता है।

वस्तुतः ज्यों ज्यों रूप-रचना में सरलीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती गई त्यों त्यों वाक्य-योजना में सुनिश्चितता आती गई। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के अधिकांश रूपों में वाक्य-सम्बन्धी यह सुनिश्चितता देखने को मिलती है। हिन्दी की वाक्य-योजना इस दृष्टि से काफ़ी सुसंगठित है।

हिन्दी की वाक्य-योजना का सामान्य नियम यह है कि कर्ता पहले आता है और क्रिया अन्त में आती है। जैसे—राम पढ़ता है। कर्ता हमेशा सब से पहले आये-ऐसा नियम नहीं है। साधारण तौर पर यह नियम अवश्य है कि क्रिया को सब से अन्त में आना चाहिये। इस नियम के भी अपवाद है। जैसे—वह तो यह काम करता ही नहीं। इस वाक्य में 'करता' क्रिया 'ही नहीं' वाक्यांश से पूर्व प्रयुक्त हुई है। इसका कारण यह है कि 'ही नहीं' भी वस्तुतः क्रिया का अंश है। कुछेक हिन्दी वाक्यों में क्रिया के अन्तर्भुक्त होने के कारण भी ऐसा प्रतीत होता है कि क्रिया अन्त में नहीं

है। जैसे—मैंने बम्बई भी जाना है और दिल्ली भी। यह वाक्य वस्तुत: दो भिन्न वाक्यों में बाँटा जा सकता है—(१) मैंने बम्बई भी जाना है। (२) मैंने दिल्ली भी जाना है। 'दिल्ली भी' के बाद 'जाना है' यह क्रिया है परन्तु सयुक्त वाक्य में यह अन्तर्भुक्त हो गई है। अंग्रेज़ी में भी यह कर्तृ-कर्म-सम्बन्ध (Actor-action agreement) देखने को मिलता है इसी लिये अंग्रेज़ी व्याकरण में वाक्य को दो भागों में बाँट दिया जाता है—कर्तृ वाक्यांश (Subject) और क्रिया वाक्यांश (Predicate)। परन्तु हिन्दी वाक्य को अंग्रेज़ी वाक्य अनुसार विभाजित नहीं किया जा सकता। अंग्रेज़ी वाक्य-योजना हिन्दी वाक्य योजना से नितान्त भिन्न है। अंग्रेज़ी वाक्यों में क्रिया के बाद कर्म आदि आते हैं परन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं होता। जैसे—He reads a book. हिन्दी—वह पुस्तक पढ़ता है। अंग्रेज़ी में कर्म क्रिया के बाद में आया है और हिन्दी में इससे पूर्व। कभी कभी अंग्रेज़ी प्रभाव के कारण बोलचाल में ऐसे वाक्य भी सुनाई दे जाते हैं जिनमें हिन्दी की वाक्य-योजना के समान्य नियम की ओर पूरा ध्यान कहीं दिया जाता। जैसे—हम काम करेंगे—देश की आर्थिक उन्नति के लिये, या हम लड़ेंगे—अपने जन्मसिद्ध अधिकारों के लिये। स्पष्ट है कि ये शब्द अंग्रेज़ी के निम्न वाक्यों का अनुवाद मात्र हैं—We will work for the economic development of our country. We will fight our birth-rights.

हिन्दी की वाक्य-योजना में सामान्य तौर पर क्रिया कर्ता का अनुसरण करती है। संस्कृत के तिङन्त रूपों में लिंग भेद नहीं था परन्तु कृदन्त रूपों में लिंग भेद था। जैसे—'राम: गच्छति' और 'लता गच्छति' इन दोनों वाक्यों में राम: और लता क्रमश: पुलिंग और स्त्रीलिंग हैं परन्तु 'गच्छति' में इस लिंग भेद के कारण कोई अन्तर नहीं आता। इसी का भूतकालिक कृदन्त रूप संस्कृत में इस प्रकार है—'राम: गतवान' और 'लता गतवती'। स्पष्ट है कि लिंग भेद से क्रिया में भी अन्तर आ गया है। हिन्दी के अधिकांश क्रिया-रूपों का विकास कृदन्त रूपों से हुआ है इसलिये

क्रिया कर्ता के लिंग का भी अनुसरण करती है। जिन रूपों का विकास संस्कृत के तिङन्त रूपों से हुआ है उनमें अभी भी लिगभेद नहीं है। जैसे—राम चले; लता चले; तुम (स्त्रीलिग और पुलिंग दोनों) चलो; मैं (स्त्रीलिंग और पुलिंग दोनों) चलूँ इत्यादि। एक बात और भी स्मरणीय है कि संस्कृत के तिङन्त रूपों में पुरुष-भेद था पर कृदन्त रूपों में नहीं। जैसे—'सः', 'त्वं', 'अहं' सब के साथ 'गतवान्' क्रिया का प्रयोग किया जा सकता है परन्तु तिङन्त रूपों, जैसे—'गच्छति', 'गच्छमि' और गच्छामि की दृष्टि से भिन्नता है। इसी प्रकार संस्कृत के तिङन्त रूपों से विकसित हिन्दी के रूपों में पुरुष सम्बन्धी विभिन्नता विद्यमान है। जैसे—वह चले, तू चल, मैं चलूँ परन्तु संस्कृत के कृदन्त रूपों मे विकसित हिन्दी के क्रिया रूप कर्ता के पुरुष का अनुसरण नहीं करते। जैसे—'वह, तू और मैं' इन सब के साथ 'गया' का रूप लगाया जा सकता है परन्तु वचन की दृष्टि से 'गये' और लिंग की दृष्टि से 'गई' रूप अवश्य हैं।

यद्यपि संस्कृत और हिन्दी की वाक्य-योजना में आकाश-पाताल का अन्तर है तथापि यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि मूल रूप में हिन्दी के वाक्य संस्कृत वाक्यों का ही विकसित रूप हैं इस लिये अभी तक संस्कृत की विशेषताओं को मूल रूप में अपनाये हुए हैं। हिन्दी के इस ऐतिहासिक विकास को न समझते हुए ही बहुत से लोग हिन्दी के वाक्यों में अनेक अशुद्धियां कर बैठते हैं, मनमाने प्रयोग भी करते हैं और उनको असंगत भी कह देते हैं।

यदि किसी वाक्य में दो कर्ता हों—उन दोनों में वचन और लिंग सम्बन्धी भिन्नता हो तो क्रिया सब से अधिक निकटवर्त्ती कर्ता का अनुसरण करती है। जैसे—उसके चार पुत्र और एक लड़की पैदा हुई। उस के एक लड़की और चार पुत्र पैदा हुए। पुरुष सम्बन्धी भिन्नता होने पर बहुवचन का प्रयोग होता है। जैसे—वह और मैं जायें।

संस्कृत में तीन वाच्य थे—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। तीनों की वाक्य योजना में अन्तर आ जाता है। कर्तृवाच्य में क्रिया कर्ता

का अनुसरण करती है, कर्मवाच्य में कर्म का ; और भाववाच्य में क्रिया स्वतन्त्र होती है। यही बात हिन्दी में भी देखने को मिलती है। साधारण तौर पर जिन हिन्दी वाक्यों को हम कर्तृवाच्य के वाक्य मान बैठते हैं उन का विकास भी कभी कभी कर्म-वाच्य के वाक्यों से हुआ है इसलिए उन की वाक्य-योजना अभी भी कर्मवाच्य के वाक्यों जैसी है। हिन्दी के व्याकरण-ग्रन्थों में 'ने' को कर्ता का परसर्ग माना जाता है। पिछले अध्याय में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि इसका विकास करण से हुआ। 'राम पढ़ता है' इस वाक्य में 'राम' कर्ता है इसके साथ 'ने' परसर्ग नहीं है। इसका विकास संस्कृत के कर्तृ रूप से ही हुआ है। 'राम ने पुस्तक पढ़ी' इस वाक्य में यद्यपि राम कर्ता है तथापि यह करण का विकसित रूप है। संस्कृत में यह वाक्य इस प्रकार होगा—'रामेण पुस्तकं पठितम्' इस वाक्य में 'रामेण' करण है और 'पठितम्' (क्रिया), 'पुस्तकं' (कर्म) के अनुसार ही रूप धारण किये है इस लिये हिन्दी के ऐसे वाक्यों में क्रिया कर्ता का अनुसरण न कर कर्म का अनुसरण करती है। मैंने यह ग्रन्थ पढ़ा है' और 'मैंने यह पुस्तक पढ़ी है' इन दोनों वाक्यों में क्रिया में लिंग विभिन्नता 'ग्रन्थ' और 'पुस्तक' के लिंग भेद के कारण ही है। इन वाक्यों का विकास सस्कृत के कर्मवाच्य के वाक्यों से हुआ है।

हिन्दी वाक्य-योजना में एक विशिष्ट समस्या है। यदि कर्म कारक के परसर्ग रूप में मान्य 'को' का प्रयोग किया जाता है तो क्रिया कर्म का अनुसरण नहीं करती बल्कि वह स्वतन्त्र हो जाती है। जैसे—मैंने राजा देखा, मैंने रानी देखी, परन्तु मैंने राजा को देखा, मैंने रानी को देखा। इस से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत में जिस परसर्ग या स्वतन्त्र शब्द से 'को' का विकास हुआ है वह कर्म कारक का प्रतीक नहीं था। पिछले अध्याय में 'को की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। 'कृते' या 'कक्षे' दोनों शब्द स्वतन्त्र हैं। कृते का तो वैसे भी सम्बन्ध सम्प्रदान कारक के साथ है।

साधारण तौर पर 'को' परसर्ग प्राणिवाचक सज्ञाओं के साथ जुड़ता है। अप्राणिवाचक के साथ यह परसर्ग कभी कभी नहीं लगता। जैसे- मैंने राम

को देखा है; मैंने पुस्तक देखी है। जब दो कर्म साथ साथ आते हैं तब भी 'को' प्राणिवाचक के साथ लगता है और अप्राणिवाचक के साथ कोई परसर्ग नहीं लगता। जैसे—मैं राम को पुस्तक देता हूं। संस्कृत में इस प्रकार के वाक्य में 'राम' के साथ चतुर्थी विभक्ति (सम्प्रदान) लगती है और 'पुस्तक' के साथ द्वितीया (कर्म)। इससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'को' का सम्बन्ध सम्प्रदान कारक के साथ अधिक है। अप्राणिवाचक के साथ भी 'को' परसर्ग लगता है, जैसे—"उसने दिल्ली के साम्राज्य को बनाया"। वस्तुतः प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक के भेद को न देखते हुए उसके ऐतिहासिक रूप की ओर ध्यान देना अधिक ठीक होगा।

अन्य-कारक-रूप कर्ता और क्रिया के मध्य ही प्रयुक्त होते थे। उनके निश्चित क्रम को विशेष नियमों में नहीं बांधा जा सकता क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि किसी एक वाक्य में सारे कारकों का प्रयोग हो। साधारणतया सकर्मक क्रियाओं में कर्म क्रिया के नजदीक रहता है इसलिये कर्म क्रिया से पूर्व और कर्ता के बाद अन्य कारक रूप आते हैं। संस्कृत में ऐसा कोई नियम नहीं था। हिन्दी में इस नियम का स्वतन्त्र विकास हुआ है।

हिन्दी में विशेषण और विशेष्य इकट्ठे आते हैं; क्रम की दृष्टि से विशेषण पहले आता है और विशेष्य बाद में, जैसे—वह सुन्दर लड़का है। कभी कभी विशेष्य अन्तर्भुक्त होजाता है। परिणामस्वरूप विशेषण का प्रयोग बिना विशेष्य के होता है, जैसे—वह सुन्दर है। 'सुन्दर' और 'है' के मध्य विशेष्य अन्तर्भुक्त है। संस्कृत में विशेषण विशेष्य का अनुयायी होता है अर्थात् विशेष्य के लिंग, वचन और कारक के अनुसार ही विशेषण के लिंग, वचन और कारक होते हैं, जैसे—सुन्दरः बालः, सुन्दरी नारी, सुन्दरं कमलम्; सुन्दराः बालाः, सुन्दर्यः नार्यः, सुन्दराणि कमलानि इत्यादि। हिन्दी में भी विशेषण विशेष्य का अनुयायी होता है परन्तु आवश्यक नहीं कि उसमें लिंग कारक और वचन की दृष्टि से अवश्य भिन्नता हो। संस्कृत के तत्सम विशेषणों में प्रायः यह भिन्नता देखने को नहीं मिलती। जैसे सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की, सुन्दर लड़के, सुन्दर लड़कियां इत्यादि।

वस्तुत: विशेष्य के साथ हमेशा जुड़े रहने के कारण उसमें परिवर्तन लाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। तद्भव शब्दों में यह भिन्नता प्राय: रहती है, जैसे—अच्छा लड़का, अच्छी लड़की, अच्छे लड़के आदि। संस्कृत तत्सम शब्दों के हिन्दी में आजाने पर लिंग भेद न होने का कारण सम्भवत: संस्कृत के समास हैं। दो पदों के समासरूप में जुड़ जाने पर पहले पद में किसी प्रकार का रूप-परिवर्तन नहीं होता। जैसे—सुन्दरबाल:, सुन्दरबाला आदि।

हिन्दी में कारक अर्थ को प्रकट करने वाले परसर्ग हैं। इन का प्रयोग संज्ञा-शब्दों के बाद किया जाता है। अंग्रेज़ी में कारक अर्थ को प्रकट करने वाले रूपों को पूर्वसर्ग (Preposition) कहा जाता है। ये संज्ञा शब्द से पूर्व प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत में कारक अर्थ को प्रकट करने वाली विभक्तियाँ संज्ञा शब्द के अन्त में लगती हैं, साधारण नियम कारक के स्वतन्त्र शब्दों के लिये भी यही है कि वे संज्ञा शब्द के बाद ही प्रयुक्त हों। संज्ञा शब्द और कारक शब्द में समास भी हो जाता है; ऐसा दशा में भी कारक शब्द बाद में ही प्रयुक्त होता है। जैसे—धर्माय या धर्मार्थम्। विशेषण के साथ परसर्ग का प्रयोग हिन्दी में नहीं होता। इस का कारण यही है कि हिन्दी और संस्कृत दोनों की वाक्य-योजना की दृष्टि से विशेषण स्वतन्त्र नहीं है; वह पूर्णतया विशेष्य पर आधारित है।

साधारणतया हिन्दी के प्रत्येक वाक्य में एक क्रिया ही है परन्तु क्रिया का व्यवहार संज्ञा-शब्द के समान होता है और पूर्वकालिक क्रिया के कृदन्त का रूप भी व्यवहृत होता है। ऐसी दशा में एक से अधिक क्रियायें एक वाक्य में हो सकती हैं। जैसे **क्रियार्थ संज्ञा**—वह पढ़ने के लिये आया है; **पूर्वकालिक**—वह **पढ़ कर** चला जायेगा। दो स्वतन्त्र वाक्यों को समुच्चयबोधक अव्ययों द्वारा भी जोड़ा जाता है। अंग्रेज़ी में किसी की कही हुई बात का वर्णन करने के लिये वाक्यों को दो रूपों में प्रस्तुत किया जाता है—१. प्रत्यक्ष (Direct) और २. अप्रत्यक्ष (Indirect)। संस्कृत की वाक्य योजना ऐसी नहीं कि इस प्रकार के वाक्यों को दो रूपो

मे प्रस्तुत किया जाये । उदाहरण के तार पर अंग्रेज़ी के ये दो वाक्य इस प्रकार हैं—

प्रत्यक्ष—He said, "I shall go to Delhi".

अप्रत्यक्ष—He said that he will go to Delhi.

परन्तु संस्कृत में इसका केवल एक ही रूप होगा—सोऽवदत् यदहं दिल्लीं प्रति गमिष्यामि । हिन्दी की वाक्य योजना मे भी वस्तुत: एक ही रूप मान्य है—उस ने कहा कि मैं दिल्ली जाऊंगा। सस्कृत की वाक्ययोजना में हम चाहे तो 'यत्' का प्रयोग न भी करे । वस्तुत: प्राचीनता की दृष्टि से इस का प्रयोग नही होता—सोऽवदत अहं गमिष्यामि इति । इसी प्रकार यदि हम चाहें तो फ़ारसी प्रभाव के कारण आये 'कि' अव्यय को छोड़ सकते हैं—परन्तु यह कहना "उसने कहा वह दिल्ली जायेगा" हिन्दी की वाक्ययोजना की दृष्टि से ठीक नहीं । आजकल अंग्रेज़ी प्रभाव के कारण हिन्दी के वाक्यो में कही कहीं ऐसी प्रवृत्ति दिखाई देने लग गई है । कई बार यह भी कहा जाता है कि यह प्रवृत्ति स्पष्टता लाने के लिये है परन्तु ऐसी बात नहीं । "उसने कहा वह दिल्ली जायेगा ।" इस वाक्य से यह पता चलता है कि कहने वाला दिल्ली नहीं बल्कि कोई अन्य व्यक्ति दिल्ली जा रहा है । अग्रेजी वाक्य योजना से अपरिचित व्यक्ति को तो इस में अस्पष्टता ही दिखाई देगी ।

हिन्दी में स्वराघात प्राय: नही है परन्तु वाक्य के अन्त में एक प्रकार का सुर (Intonation) अवश्य है । हिन्दी में यह सुर सार्थक है । इस का प्रयोग सामान्य वाक्यों को प्रश्न सूचक, आश्चर्यवाचक आदि बनाने के लिये किया जाता है । जैसे—

वह दिल्ली जायेगा ।
वह दिल्ली जायेगा ?
वह दिल्ली जायेगा !

वाक्य-रचना सम्बन्धी इस विशेषता को लिपि में प्रश्न सूचक या आश्चर्य-वाचक चिह्न द्वारा प्रकट किया जाता है ।

परिशिष्ट १

देवनागरी लिपि

भाषाविज्ञान में भाषा का भाषित रूप ही मुख्य है लिखित रूप नहीं इसलिये भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में लिपि का कोई महत्त्व नहीं। फिर भी इस में कोई सन्देह नहीं कि हमारे लिये प्राचीन काल की भाषा का स्वरूप उपलब्ध कराने में लिपि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि लिपि न होती तो हम वैदिक संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं का स्वरूप न समझ सकते। आज भी अनेक भाषायें लिपिवद्ध न होने के कारण भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में अनेक समस्यायें पैदा कर रही हैं। इसलिये भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में सहायक होने के कारण लिपि का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

भाषा पर लिपि का भी प्रभाव पड़ता है। रोमन लिपि के प्रभाव के कारण आजकल कितने ही हिन्दी संस्कृत के शब्दों का विकृत उच्चारण किया जाता है। गुप्त के स्थान पर गुप्ता, वेद के स्थान पर वेदा, इस के कुछ उदाहरण है। गुरुमुखी लिपि में संयुक्त ध्वनियों को लिपिबद्ध करने के प्राय: लिपि-चिन्ह या वर्ण नहीं हैं इसी कारण अनेक संयुक्त रूप में उच्चरित ध्वनियों का पंजाबी में लोप होता जा रहा है।

हमें यह मानना पड़ेगा कि लिपि भाषा को अङ्कित करने का एक अपूर्ण साधन है। सम्भव है कि भारतीय आर्य भाषा के ऐतिहासिक विकास के अन्तर्गत कितनी ही ध्वनियां प्रकट हुई होंगी कितने ही उच्चारण रूप बदले होंगे परन्तु आज उन्हें जानने या समझने का हमारे पास कोई साधन नहीं। हमें लिपि द्वारा उपलब्ध सामग्री पर ही सन्तोष करना पड़ता है अथवा हम चाहें तो भाषा विकास के वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा कुछ कल्पनायें

ही कर सकते हैं। आजकल भाषा रूप को सुरक्षित रखने का अच्छा वैज्ञानिक साधन लिपि न होकर ध्वनि अंकन (Recording) है परन्तु प्राचीन भाषायें ध्वनि-अङ्कित होकर हमारे सामने नहीं हैं इसलिये लिपि के द्वारा ही चाहे अपूर्ण ही क्यों न हो, हमें भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करना होता है।

लिपि का विकास

इतनी बात निश्चित है कि पहले भाषा बनी और लिपि का विकास बाद में हुआ, परन्तु यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि लिपि कब बनी। जिस प्रकार परम्परावादी भाषा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धात पर विश्वास करते है उसी प्रकार लिपि के सम्बन्ध में भी उनकी वैसी धारणा है। भारत की प्राचीन लिपि का नाम ब्राह्मी है। यह कहा जाता है कि इसका निर्माण ब्रह्म या ब्रह्मा ने किया इसलिये इसका नाम ब्राह्मी है। इस प्रकार यहूदी लोगों की धारणा हैं कि लिपि का निर्माण मूसा (Moses) ने किया था। परन्तु इस प्रकार की धारणाओं का कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर यह कहा जाता है कि भाषा के समान लिपि का भी विकास हुआ है।

यह माना जाता है कि प्राचीनतम लिपियों के दो रूप थे—१. चित्रलिपि २. सूत्र लिपि। चित्रलिपि में चित्रों के द्वारा भाव को प्रकट किया जाता है। ऐरिजोना (अमरीका) मे एक ऐसी चित्रलिपि मिली भी है। सूत्रलिपि में भाव प्रकट करने के लिये रस्सी आदि की गांठें लगा दी जाती थीं। सूत्रलिपि को पूर्णतया लिपि नहीं कहा जा सकता। यह एक प्रकार से स्मृति सहायक चिन्ह या संकेत (Memory Aid) का काम देती थी। इसलिये लिपि का वास्तविक विकास चित्रलिपि से हुआ है। पहले स्थूल चित्र बनाये जाते थे, बाद में सूक्ष्म भावों को प्रकट करने वाले चित्र बनाये जाने लगे। पर्वत का चित्र केवल पहाड़ का ही बोध नहीं कराता बल्कि उच्चता, महात्ता आदि सूक्ष्म भावों का भी प्रतीक बनने लगा। इस प्रकार

चित्रलिपि ने भाव लिपि का रूप धारण करना शुरू कर दिया। इस प्रकार की एक फ़न्नी लिपि मिली है जिसका प्रयोग बेबीलान में ४००० ईसा पूर्व तक माना जाता है। तिकोनी होने के कारण इसे तिकोनी लिपि (Cuniform Script) या कीलाक्षर लिपि भी कहा जाता है। यही लिपि अर्द्ध अक्षरात्मक और अक्षरात्मक (Syllabic) की स्थिति से गुजरती हुई ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक (Alphabetic) हो गई। अक्षरात्मक और वर्णात्मक लिपि में यह अन्तर है कि अक्षरात्मक लिपि की कम से कम इकाई में एक से अधिक वर्ण जुड़े हुए होते हैं परन्तु वर्णात्मक लिपि में प्रत्येक इकाई स्वतन्त्र वर्ण होती है। देवनागरी लिपि अक्षरात्मक है[1]—क=क्+अ; क्ष=क्+ष् इत्यादि। रोमन लिपि वर्णात्मक है—Rama इस में प्रत्येक वर्ण एक दूसरे से पृथक् है।

संसार की प्राचीन लिपियों में मुख्यत: फोनीशियन, दक्षिण सामी ग्रीक, लैटिन, आर्मेइक, हीब्रू, अरबी, खरोष्ठी और ब्राह्मी का उल्लेख किया जाता है।

भारतीय लिपियाँ

प्राय: जैन और बौद्धसाहित्य में अनेक लिपियों का उल्लेख मिलता है परन्तु प्राचीन काल में भारत में प्रचलित दो लिपियों का स्वरूप ही इस समय उपलब्ध है। ये दो लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। इनका उपलब्ध प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में देखने को मिलता है जिन का समय तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व है। इसको देखते हुए प्राय: पाश्चात्य

---

१. प्रो. जे. बर्टन पेज का विचार है कि देवनागरी लिपि पूर्णतया अक्षरात्मक नहीं है।

"In other words, the Devanagari script as applied to Hindi, although syllabic in its conception is now neither fully syllabic nor yet fully alphabetic; the principle of writing is rather morpho-phonemic." J. Burton Page, Indian Linguistics II 1959 p. 171 (Turner Jubilee Volume).

विद्वान् यह कह दिया करते हैं भारत में लिपि का अस्तित्व चार या पांच सौ वर्ष ईसा पूर्व ही हुआ परन्तु यह बात ठीक नहीं। मो`नजोदारो और हड़प्पा में जो लेख अंकित है उनसे यह स्पष्ट ही है कि भारत में लिपि का अस्तित्व कई हजार वर्ष पूर्व था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन स्थानों की लिपि न तो ब्राह्मी है न खरोष्ठी परन्तु इससे इतनी बात तो अवश्य निश्चित हो जाती है कि इन स्थानों की कोई लिपि है। अभी तक मोहेनजोदारो और हड़प्पा का सम्बन्ध निश्चित तौर पर किसी भी सभ्यता से नहीं जोड़ा जा सका है इस लिये यह तो नहीं कहा जा सकता कि इसका सम्बन्ध वैदिक सभ्यता के साथ है परन्तु इसमें भारतीय सभ्यता के पुरातन रूप के कुछ अवशेष-चिह्न हैं ऐसा तो अवश्य कहा जा सकता है।

अशोक के शिलालेखों से पूर्व के भी दो लेख मिले हैं। एक अजमेर ज़िले के बड़ली गांव में है और सम्भवत: ईसा पूर्व पाचवीं सदी का है। इसकी एक पंक्ति में 'चतुरासिति' खुदा हुआ है। इसका अर्थ है ८४। यदि चौरासी को भगवान् महावीर के निर्वाण सवत् का ८४वाँ वर्ष समझ लें तो यह लेख ईसा पूर्व ४४३ वर्ष का होना चाहिये। महावीर का निर्वाण संवन् ५२७ ई० पू० है (५२७—८४=४४३)। दूसरा लेख पिप्रावा नामक स्थान पर है। यह स्थान नेपाल की तराई पर है। इस लेख से यह पता चलता है कि यहाँ पर शाक्य जाति के लोगों ने भगवान् बुद्ध की अस्थियाँ स्थापित कीं। सम्भवत: यह लेख बुद्ध के निर्वाण काल (४८७ ई० पू०) के कुछ ही बाद का है। ये दोनों लेख ब्राह्मी लिपि में है।

इस प्रकार पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के लेख मिलने से इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इससे अनेक वर्ष पूर्व भारत में लिपि प्रचलित थी। वैसे भी प्राचीन साहित्य के उल्लेखों से लिपि के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। वेदों में गणना सम्बन्धी उल्लेख है। दस से लेकर परिधि तक सख्याओं के उल्लेख है। विना लिपि की सहायता के अपरिमेय संख्याओं की गणना असम्भव है। छान्दोग्य-उपनिषद् में अक्षरों के बारे में लिखा हुआ है। पाणिनि ने भी लिपि का

उल्लेख किया है। जातक ग्रन्थों में भी पुस्तकों आदि का उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल से भारतीयों को लिपि का ज्ञान था। दुर्भाग्य से बहुत सी सामग्री काल-प्रवाह में विलीन हो गई है अथवा विदेशियों द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर दी गई है, इस लिये प्राचीनतम लिपि का स्वरूप अज्ञात है और न ही निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि किस समय से भारत में लिपि प्रचलित है। कुछेक विद्वान् वेदों का संहिता काल १००० ईसा पूर्व मानते हैं। उनकी यह धारणा है कि इसी समय के आस-पास भारत में लिपि का स्वरूप निश्चित हुआ होगा और वेदों का संकलित रूप लिपिबद्ध कर दिया गया होगा।

खरोष्ठी लिपि

ऊपर कहा जा चुका है कि भारत की दो प्राचीन लिपियाँ मिलती हैं। उनमें से एक खरोष्ठी है। अशोक के शाहबाज़गढ़ी और मनसेहरा वाले लेखों में इसी लिपि का प्रयोग किया गया है। इसके पूर्व (चौथी सदी ई० पू०) के कुछ ईरानी सिक्के भी इस लिपि में मिलते हैं। अशोक के बाद भारत में इस लिपि का प्रयोग अधिकांश में विदेशी राजाओं द्वारा किया गया। यह लिपि दायें से बायें ओर लिखी जाती है।

खरोष्ठी शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। कुछ लोगों का विचार है कि आर्मेइक भाषा में एक शब्द ख़रोट्ठ है। क्योंकि इस लिपि का सम्बन्ध आर्मेइक लिपि से माना जाता है इस लिये अनुमान है कि आर्मेइक के खरोट्ठ शब्द के संस्कृत रूप खरोष्ठ या खरोष्ठी को इस लिपि के लिये अपना लिया गया होगा। एक दूसरे मत के अनुसार खरोष्ठी का मूल रूप खरपृष्ठी माना जाता है। इस विचार को प्रस्तुत करने वालों की धारणा है कि यह प्राचीन काल में गधे की खाल पर लिखी जाती होगी। इसलिये इस का नाम ख़रपृष्ठी > खरोष्ठी हो गया। इसी से मिलता जुलता एक अन्य शब्द खरपोस्त है। इसका अर्थ भी गधे की खाल है। एक और मत के अनुसार खरोष्ठी का मूल रूप खरोष्ठी ही है। ख़रोष्ठी का अर्थ है गधे

के होंठों वाली । क्योंकि इस लिपि के अक्षर गधे के होंठों की तरह लगते हैं इसी लिये उन्हें खरोट्ठ और लिपि को खरोष्ठी कहा जाता है । इस शब्द का सम्बन्ध मध्य एशिया के 'काशगर' नामक नगर से भी जोड़ा जाता है। यह भी कहा जाता है कि किसी व्यक्ति का नाम खरोष्ठ था । उसी के द्वारा निर्मित हो कर उसी के नाम पर यह लिपि खरोष्ठी नाम से प्रसिद्ध हो गई। ये सब मत अनुमान या कल्पना पर आश्रित हैं इस लिये किसी भी मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

ख़रोष्ठी लिपि के भारतीय या अभारतीय होने के सम्बन्ध में मतभेद हैं। अधिकतर विदेशी और भारतीय विद्वान् इसे अभारतीय मानते हैं। डा. बूलर, डा. डिरिंजर और डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[1] का विचार है कि इस का सम्बन्ध आर्मेइक लिपि के साथ है । इस लिपि के प्राचीन लेख ८वीं सदी ई. पू. तक के हैं यह लिपि प्राचीन काल में उत्तरी सीरिया में प्रचलित थी । खरोष्ठी और आर्मेइक में अत्यधिक समानता है—दोनों लिपियां दायें से बायें ओर लिखी जाती हैं और दोनों के वर्णों में रूप-सम्बन्धी समानता भी है । ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह बात मानी जाती है कि भारत और आर्मेइक देशों का परस्पर सम्बन्ध रहा है । अनुमान किया जाता है कि ईरानियों के शासन काल में उनकी राज्य-लिपि आर्मेइक का भारत में प्रवेश हुआ होगा और यह भी सम्भव है कि उसी से खरोष्ठी का विकास सम्भवत: तक्षशिला में हुआ होगा । आर्मेइक का एक शिला-लेख भी तक्षशिला में मिलता है ।

यदि खरोष्ठी का विकास आर्मेइक लिपि से मान भी लिया जाये तो यह कहना ठीक होगा कि भारत में खरोष्ठी का नवीनीकरण हुआ। आर्मेइक में केवल २२ वर्ण थे और अनेक दृष्टियों से यह लिपि अत्यन्त अपूर्ण थी। खरोष्ठी में ३८ वर्ण हैं। इतनी परिवर्द्धित हो कर भी यह लिपि कुछ अधिक वैज्ञानिक लिपि नहीं थी। यह भारत के बहुत सीमित

---

१. प्राचीन लिपि माला ।

क्षेत्र में प्रचलित थी। इसके लेख केवल पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश और पंजाब में ही मिलते हैं अन्यत्र नहीं। इसे एक प्रकार की कामचलाऊ लिपि कहा जा सकता है। अधिक विस्तार न होने के कारण यह भारत में देर तक प्रचलित न रह सकी। ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद भारत में इस के अस्तित्व के विशेष प्रमाण नहीं मिलते।

ब्राह्मी लिपि

भारत की दूसरी प्राचीन लिपि और अधिकतर भागों में प्रचलित लिपि ब्राह्मी है। ब्राह्मी की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। यह अनुमान लगाया जाता है कि इसका सम्बन्ध संस्कृत के 'ब्रह्म' या 'ब्रह्मा' शब्द के साथ है और इसे परम्परावादी विचारधारा के अनुसार ईश्वर-प्रदत्त माना जा सकता है। दूसरी सम्भावना यह है कि ब्रह्म अर्थात् वेद की रक्षा के लिये इस लिपि का आविष्कार या प्रयोग किया गया इस लिये इस का नाम ब्राह्मी प्रचलित हो गया। एक तीसरी सम्भावना यह भी है कि ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण इसे ब्राह्मी कहा जाने लगा होगा।

ब्राह्मी की उत्पत्ति कैसे हुई—इस सम्बन्ध में भी बहुत अधिक मत-भेद है। मूल प्रश्न यह है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में हुई या भारत से बाहर। जो विद्वान् इसकी उत्पत्ति किसी अभारतीय लिपि से मानते हैं वे भी उस लिपि के सम्बन्ध में एकमत नहीं है।

कुछ विद्वानों का यह विचार है कि ब्राह्मी का विकास फोनेशियन लिपि से हुआ। यह लिपि सर्वप्राचीन मानी जाती है और इस का विकास मिश्र की चित्रात्मक लिपि या बेबीलान की कीलाक्षर लिपि से माना जाता है। फोनेशियन से ब्राह्मी का विकास मानने वालों का मत है कि दोनों में समानता है परन्तु यह बात ठीक नहीं। इन दोनों के एक ही वर्ण में समानता है अन्य वर्णों में नहीं। ब्राह्मी लिपि का 'ज' और

फोनेशियन लिपि के 'गिमेल' वर्णों में ही समानता है । भारतीयों और फ़ोनेशियन लोगों के प्राचीन सम्बन्ध का कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता । लोगों के प्राचीन सम्बन्ध का कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता । डिरिंजर का विचार है कि भारतीयों और फ़ोनेशियन लोगों का परस्पर सम्बन्ध था ही नहीं ।[1] इस लिये फोनेशियन से ब्राह्मी के विकास की बात ठीक नहीं मानी जा सकती ।

बूलर का मत है कि ब्राह्मी का विकास उत्तर सामी लिपि से हुआ है तथा टेलर और सेन आदि का विचार है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति दक्षिण सामी लिपि से हुई है । इस मत के मानने वाले विद्वानों के विचारों में कोई सार नहीं है । उत्तरी सामी से उत्पत्ति मानने वालों का एक मुख्य तर्क यह है कि उत्तरी सामी और ब्राह्मी दोनों दायें से बाएँ लिखी जाती हैं । वस्तुत: बात ऐसी नहीं है । ब्राह्मी के अधिकांश लेख बाएं से दायें (आजकल देवनागरी के समान) लिखे हुये मिलते हैं । जो लेख इस के विपरीत मिलते हैं, वह अवश्य किसी असावधान लेखक द्वारा लिखे गये हैं । उनके आधार पर उत्तरी सामी से ब्राह्मी के विकास की कल्पना करना उचित नहीं ।

इसी प्रकार एक फ्रेञ्च विद्वान् कुपेरी का यह मत है कि ब्राह्मी का विकास चीनी लिपि से हुआ होगा परन्तु इस मत में कोई सार न होने के कारण इस ओर कोई ध्यान ही न दिया गया । खरोष्ठी और ब्राह्मी में बहुत अधिक अन्तर है इस लिये दोनों के किसी प्रकार के परस्पर सम्बन्ध की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती ।

ब्राह्मी का आविष्कार और विकास भारत में ही हुआ है—उसे विना किसी प्रमाण के किसी अन्य लिपि के साथ जोड़ना सर्वथा अनुचित है । यह तो नहीं बताया जा सकता कि ब्राह्मी का स्वरूप कैसे बना परन्तु

1. The Alphabet.

वह बनी यहीं पर ही इतनी बात अवश्य मानी जा सकती है। ब्राह्मी की उत्पत्ति का एक आधार तान्त्रिक विधियां मानी जाती हैं। पूजा करते समय अनेक चिह्न बनाये जाते हैं—उन्हीं चिन्हों द्वारा लिपि का विकास हुआ होगा—ऐसी सम्भावना की जाती है।

ब्राह्मी लिपि की मुख्य रूप में दो शाखायें हैं—१. उत्तरी और २. दक्षिणी। उत्तरी के अन्तर्गत मुख्य लिपियां चार थीं—१. **गुप्तलिपि**—इस का सम्बन्ध गुप्तवंशी राजाओं के साथ था और यह ईसा की चौथी पांचवीं शती तक व्यवहृत होती रही। २. **कुटिल लिपि**—गुप्त लिपि से ही इस का विकास हुग्रा। इसका व्यवहार छठी से नौवीं शताब्दी तक होता रहा। इसके वर्णों की आकृति कुछ टेढ़ी होंने के कारण इसे कुटिल लिपि कहा जाता था। ३. **शारदा लिपि**—कुटिल लिपि से शारदा लिपि का विकास हुआ। आठवीं सदी तक कश्मीर ग्रौर पंजाब में कुटिल लिपि प्रचलित रही। बाद में इसी से शारदा लिपि बनी। शारदा लिपि से ग्राधुनिक अनेक लिपियां बनी हैं जिन में कश्मीरी, लंडा और गुरुमुखी मुख्य हैं। ४. **नागरी लिपि**—इसी का नाम देवनागरी है। दक्षिरण में इसे नंदिनागरी कहा जाता है। इसका भी विकास कुटिल लिपि से हुआ है। भारत में सब से अधिक प्रचलित लिपि यही है। इस से ग्रन्य अनेक लिपियों का विकास हुआ। इस से विकसित मुख्य लिपियां गुजराती, कैथी राजस्थानी, महाजनी और बंगला हैं।[1]

दक्षिणी के ग्रन्तर्गत मुख्य रूप में छः लिपियों की गणना की जाती

---

१. **एच० एम० लैम्बर्ट ने लिखा है**—

"The script used in writing Gujrati is a slightly modified form of the Devanagari script and the scripts used in writing Bengali and Punjabi are related to the Devanagri script, though this relation is apparent in only some of the characters." H. M. Lambert: Introduction to the Devanagari Script, 1953.

है—१. तमिल लिपि २. तेलुगू-कन्नड़ ३. ग्रन्थलिपि ४. कलिंग लिपि ५. मध्यदेशी ६. पश्चिमी।

देवनागरी लिपि

ऊपर के विवरण से स्पष्ट ही है कि देवनागरी का विकास ब्राह्मी लिपि की उत्तरी शाखा से हुआ है। प्राचीनकाल में इसे केवल नागरी कहा जाता था। बाद में देव-भाषा संस्कृत के लिये भी इसी लिपि का व्यवहार होने लगा इस लिये इस का नाम भी देवनागरी रख दिया गया। दक्षिण में इसे एक और नाम नंदिनागरी भी दिया गया है। सम्भवत: यह किसी नंदिनगर नामक राजधानी से सम्बन्धित थी। नागरी नाम क्यों पड़ा? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल कार्य नहीं। कुछ लोगों का विचार है कि यह नागर ब्राह्मणों की लिपि थी इसलिये इस का नाम नागरी पड़ा। ललित विस्तर में एक नाग लिपि का वर्णन है, सम्भवत: इसी का ही परिवर्त्तित रूप या नाम नागरी लिपि है। ये सब सम्भावनायें है। पीछे कहा जा चुका है कि ब्राह्मी का विकास तान्त्रिक विधियों से माना जाता है। यह कहा जाता है कि तान्त्रिक विधियों में जिन संकेत-चिह्नों का प्रयोग किया जाता था उन्हें देवनगर कहा जाता है। उन्हीं से विकसित होने के कारण लिपि का नाम देवनागरी पड़ा। वस्तुत; यह भी एक कल्पना है—इस का कोई प्रामाणिक आधार नहीं। यदि वस्तुत: देवनगर के आधार पर ही देवनागरी नाम पड़ा होता और ब्राह्मी का विकास इसी आधार पर हुआ होता तो ब्राह्मी के समय से ही इस का नाम देवनागरी होता। तथ्य यह है कि प्राचीन नाम ब्राह्मी है और बाद में जब ब्राह्मी से क्रमिक रूप में इस का विकास भी हुआ तो नाम देवनागरी नहीं बल्कि नागरी था। ऐसी स्थिति में इसे 'देवनगर' के साथ सम्बन्धित भी कैसे किया जा सकता है।

देवनागरी लिपि का विकास धीरे धीरे हुआ है। वैसे तो यह ईसा की १० वीं शताब्दी से व्यवहृत हो रही है परन्तु इसके प्राचीन रूप और आधुनिक रूप में अन्तर है। प्राय: बारहवीं सदी से देवनागरी का

आधुनिक रूप ही प्रचलित रहा है फिर भी दोनों में एक दो वर्णो की दृष्टि से भिन्नता भी है ।

देवनागरी लिपि के गुण

लिपि का व्यवहार किसी विशिष्ट भाषा को स्थायी या लिखित रूप देने के लिये किया जाता है । यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मुख से उच्चरित ध्वनियां स्थिर रहती हैं या उसी क्षण नष्ट हो जाती हैं परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बोलने के तुरन्त बाद ही वे हवा में ऐसे विलीन हो जाती है कि हमारी उन तक पहुंच नहीं हो सकती । आज तक उन्हें अपने मूल रूप में सुरक्षित रखने या स्थायी बनाने का सर्वोत्कृष्ट साधन ध्वनि अङ्कन (Recording) है परन्तु प्राचीन काल में केवल एक ही साधन लिपि थी । आजकल भी ध्वनि अंकन सर्वसामान्य रूप में व्यवहृत नहीं हो पाया इसलिये सस्ता और उपयोगी साधन लिपि है । भाषाओं की ध्वनियां अनेक है और लिपि की सीमायें बहुत हैं । हम कह सकते है कि भाषा वाचाल है और लिपि मूक । अपनी निर्धारित सीमाओं में भी लिपि को भाषा का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है, उसकी सारी विशेषताओं को प्रस्फुटित करने का माध्यम बनना पड़ता है । स्पष्ट ही है कि वही लिपि अधिक वैज्ञानिक और अच्छी होगी जो किसी भाषा या समूह का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सके । यदि लिपि ऐसा नहीं कर सकती तो उसका अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ जायगा । दुर्भाग्य से आज के युग में संसार में जितनी लिपियां जानी पहचानी हैं उनमें कोई न कोई दोष अवश्य रह जाता है । परन्तु उन लिपियों के अपने विशिष्ट गुण भी होते है ।

जब हम देवनागरी लिपि की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें उसमें अनेक ऐसी विशेषतायें उपलब्ध होती हैं जो इसका स्थान संसार की लिपियों में अधिक महत्त्वपूर्ण बनाये हुए है । यह लिपि अत्यधिक वैज्ञानिक है । न केवल जिन भाषाओं के लिये इसका व्यवहार होता है उनके लिये

यह अत्यधिक उपयुक्त है बल्कि भारत की सभी भाषाओं तथा संसार की अन्य अनेक भाषाओं के लिये भी काफी उपयुक्त है। हमारे दुर्भाग्य से देवनागरी लिपि का जितना समादर इस देश में होना चाहिये था उतना नही किया गया। यदि देवनागरी लिपि को देश की सारी भाषाओं के लिये प्रयुक्त किया जाय तो लोगों में व्याप्त भाषा सम्बन्धी संकुचित भावना को भी दूर करने में सहायता मिल सकती है और संसार की अन्य भाषाओं जैसे चीनी जापानी आदि द्वारा भी अपनाई जा सकती है। हमारे देश में जितनी लिपियों का व्यवहार किया जा रहा है उनमे से फारसी और रोमन लिपि को छोड़कर बाकी सब लिपियों के साथ उसका पारिवारिक सम्बन्ध है क्योंकि इन सब का मूल स्रोत ब्राह्मी लिपि है। फ़ारसी और रोमन दोनों लिपियों की अपेक्षा देवनागरी अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक है।

भाषा की ध्वनियों का वर्गीकरण स्वर और व्यंजन की दृष्टि से किया जाता है। देवनागरी लिपि में इसी प्रकार का ही वर्गीकरण है। ऐसा वर्गीकरण न तो फ़ारसी लिपि में है और न रोमन लिपि में। उदाहरण के तौर पर फ़ारसी लिपि का प्रथम वर्ण अलिफ़ (अ) स्वर है तो दूसरा वर्ण बे (ब) व्यंजन। 'अ' स्वर के बाद 'ब' व्यंजन हाने का कोई वैज्ञानिक कारण नहीं हो सकता। रोमन लिपि की भी यही स्थिति है। 'ए' (अ) के बाद बी (ब) का कोई युक्तिसंगत आधार नही।

देवनागरी लिपि में केवल स्वर ओर व्यंजन की दृष्टि से ही वैज्ञानिक वर्गीकरण नही दिखाई देना बल्कि प्रत्येक ध्वनि यथास्थान रखी गई है। नीचे दिये हुए देवनागरी लिपि के स्वरूप से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

स्वर

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ

स्पष्ट ही है कि परस्पर सम्बद्ध स्वर ध्वनियों को एक दूसरे के साथ साथ रखा हुआ है। यही बात व्यंजनों के वर्गीकरण में दिखाई देती है। सभी ध्वनियों को स्थान की दृष्टि से विभाजित किया हुआ है।

व्यञ्जन

कंठ्य — क ख ग घ ङ
तालव्य — च छ ज झ ञ
मूर्धन्य — ट ठ ड ढ ण
दन्त्य — त थ द ध न
ओष्ठ्य — प फ ब भ म
अन्तःस्थ— य र ल व
ऊष्म — श ष स ह

इनके अतिरिक्त तीन संयुक्त वर्ण और भी हैं—क्ष, त्र और ज्ञ। यदि हम इन व्यंजन ध्वनियों के क्रम की आर ध्यान दें तो वह भी पूर्णतया वैज्ञानिक है। अघोष और सघोष का क्रम निभाया गया है। पहले अल्प-प्राण ध्वनियां हैं फिर महाप्राण। अन्त में अनुनासिक ध्वनियां दी हुई हैं। अन्तःस्थ और ऊष्म ध्वनियों को पृथक् वर्ग में रखा गया है। इतना वैज्ञानिक वर्गीकरण फ़ारसी या रोमन लिपि में देखने को नहीं मिलता।

यदि हम भारतीय भाषाओं की दृष्टि से देखें तो अधिकांश रूप में उनका मूल प्रेरणा-स्रोत संस्कृत भाषा है। संस्कृत का सारा वाङ्मय इसी लिपि में है इसलिये भारतीय भाषाओं की दृष्टि से इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। फ़ारसी या रोमन लिपि उसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकती।

भारतीय भाषाओं की दृष्टि से फ़ारसी और रोमन लिपि में अनेक भ्रामक ध्वनियां हैं परन्तु देवनागरी लिपि में यह बात नहीं है। सबसे मुख्य बात तो यह कि एक ध्वनि के लिये एक वर्ण है दो नहीं। उर्दू के लिये प्रयुक्त फ़ारसी लिपि में यह विशेषता नहीं है। उर्दू को फ़ारसी लिपि में 'स्' ध्वनि के लिये तीन वर्ण हैं—१. से २. सीन और ३. स्वाद। 'ज्' ध्वनि के लिये चार वर्ण हैं—१. ज़ाल २. ज़े ३. ज़ोय ४. ज़्वाद। 'त्' ध्वनि के लिये दो वर्ण हैं—१. ते और २. तोय। 'ह्'

ध्वनि के लिये भी दो वर्ण हैं—१. छोटी हे और २. बड़ी हे। फ़ारसी लिपि के समान ही रोमन लिपि में भी यही दोष है। 'क्' ध्वनि के लिये रोमन लिपि में दो वर्ण हैं—१. सी (c) और २. के (k)। इसी प्रकार ज् ध्वनि के लिये भी दो वर्ण हैं—१. जी (g) और २. जे (j)। एक ही वर्ण दो ध्वनियों के लिये भी प्रयुक्त होता है जो कि अवैज्ञानिकता का ही परिचायक है। जैसे- सी (c) वर्ण का प्रयोग 'स्' ध्वनि के लिये भी होता है और 'क' ध्वनि के लिये भी। 'जी' (g) वर्ण का प्रयोग ज् के लिये भी होता है और 'ग्' के लिये भी। लिपि की वैज्ञानिकता का यह पहला नियम है कि एक ध्वनि के लिये एक ही वर्ण होना चाहिये। देवनागरी लिपि में यह वैज्ञानिक विशेषता पूर्णतया उपलब्ध होती है।

भाषा में जहां व्यञ्जन ध्वनियां है वहां स्वर ध्वनियां भी है। स्वर ध्वनियों और व्यञ्जन ध्वनियों के संयोग से ही अक्षर और शब्द बनते हैं। स्वर और व्यञ्जन ध्वनियों के सम्बन्ध में सर्वथा स्पष्टता रखना लिपि के वैज्ञानिक होने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। देवनागरी लिपि की यह सब से बड़ी विशेषता है कि स्वरों के सम्बन्ध में कंजूसी नहीं की गई है। देवनागरी लिपि में तेरह स्वर ध्वनियों के लिये वर्ण हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनकी तुलना में रोमन लिपि में केवल पांच स्वर वर्ण हैं—a, e, i, o, और u। इसी प्रकार फ़ारसी लिपि में भी स्वर वर्णों की संख्या बहुत कम है। दूसरी बात यह है कि देवनागरी लिपि में सभी स्वरवर्णों के अपने मात्रा-चिन्ह हैं जिनका प्रयोग व्यञ्जन ध्वनियों के साथ किया जाता है। ये मात्रा-चिन्ह निम्नलिखित हैं—

क का कि की कु कू कृ कॄ क्लृ के कै को कौ।

रोमन लिपि में स्वर वर्ण को व्यञ्जन वर्ण के साथ जोड़ दिया जाता है परन्तु उनके उच्चारण में बहुत अस्पष्टता होती है इसलिये 'राम' को रोमन लिपि में Rama लिखने पर इसे राम, रमा, रम, रामा आदि पढ़ा जासकता है। वास्तविक ऊच्चारण क्या है यह बात रोमन लिपि से स्पष्ट

नहीं होपाती । दूसरी ओर फ़ारसी लिपि में ज़बर, ज़े और पेश तो हैं जो क्रमश: अ, इ और उ के मात्रा चिन्ह हैं परन्तु उनका प्रयोग नही किया जाता । परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की उच्चारण सम्बन्धी अशुद्धियां आजाती हैं ।

उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट ही है कि देवनागरी लिपि में अनेक गुण हैं । रोमन लिपि को साधारण तौर पर वैज्ञानिक मानने वाले यदि इसकी तुलना देवनागरी लिपि के साथ करें तो उन्हें स्पष्ट ही रोमन लिपि सदोष दिखाई देने लगेगी और उसकी अपेक्षा देवनागरी लिपि अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होगी।

देवनागरी लिपि के दोष

इस का यह मतलब कदापि नहीं कि देवनागरी लिपि पूर्णतया वैज्ञानिक है । इस में बिल्कुल कोई दोष नहीं ? इसमें कुछ दोष अवश्य हैं । इन दोषों को दो वर्गो में बांटा जा सकता है—

१. पहले वर्ग में वे दोष हैं जो वस्तुत: दोष तो नही थे परन्तु भाषा-विकास के कारण इस समय जो दोष माने जासकते है ।

२. दूसरे वर्ग में वे दोष है जो प्रारम्भ से ही लिपि के दोष माने जा सकते हैं ।

पहले वर्ग के दोषों में यह कहा जा सकता है कि देवनागरी लिपि में कुछेक वर्ण ऐसे हैं जिन की ध्वनियां इस समय भाषाओं में नहीं हैं परन्तु प्राचीन काल में इनका भी अस्तित्व था । उदाहरण के तौर पर स्वर ध्वनियों के अन्तर्गत ऋ, ॠ और ऌ को लिया जासकता है । इन ध्वनियों का सामान्य उच्चारण क्रमश: रि या रु, री या रू और लिर या लृरु हैं परन्तु इन्हें स्वर वर्णों के अन्तर्गत स्थान मिला हुआ है । वस्तुत: प्राचीन काल में इनका उच्चारण स्वर रूप में होता था और आज के उच्चारण से

वह सर्वथा भिन्न था परन्तु आधुनिक युग की दृष्टि से ये वर्ण फ़ालतू प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार व्यञ्जन ध्वनियों में मूर्धन्य 'ष' सर्वथा फ़ालतू ध्वनि प्रतीत होती है। आजकल इसका उच्चारण या तो 'श्' रूप में होता है या 'ख्' रूप में इसलिये स्वतन्त्र वर्ण की दृष्टि से इसकी कोई आवश्यकता नहीं। अनुनासिक वर्णों में भी ङ् और ञ् लगभग फ़ालतू माने जासकते हैं क्योंकि प्राय: ये संयुक्ताक्षरों में हलन्त रूप में प्रयुक्त होते हैं और यह कार्य अनुस्वार चिन्ह ं द्वारा चलाया जा सकता है।

दूसरे वर्ग के दोषों में कुछ दोष ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध मूल वर्णों के साथ है और कुछ दोष ऐसे भी हैं जिन का सम्बन्ध मात्राओं के साथ है। कुछेक दोषों का सम्बन्ध संयुक्ताक्षरों के साथ भी है। मूल वर्णों की दृष्टि से कुछेक दोष इस प्रकार है—(१) उच्चारण की दृष्टि से 'व' ध्वनियाँ दो हैं। एक द्व्योष्ठ्य है और दूसरी दन्त्योष्ठ्य। इनके लिये रोमन लिपि में क्रमश: दो चिन्ह w (डबल्यू) और v (वी) हैं परन्तु देवनागरी में केवल एक लिपि चिह्न है। (२) कुछ वर्ण ऐसे हैं जिनके दो दो रूप प्रचलित हैं जैसे—अ और अ, ण और ण तथा ल और ल (३) 'ख' वर्ण के सम्बन्ध में भ्रान्ति होजाती है क्योंकि इसे रव भी पढ़ा जा सकता है। (४) जिन भाषाओं के लिये देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाता है उन भाषाओं में कुछ ध्वनियां तो है परन्तु उनके लिये देवनागरी लिपि में वर्ण नहीं है। पीछे हिन्दी की ध्वनियों में इ और उ के दो-दो रूप, 'ए' के पांच रूप तथा 'ओ' के चार रूप बताये हैं इनके लिये देवनागरी लिपि में केवल एक एक वर्ण ही है। अंग्रेज़ी प्रभाव के कारण ऑ ध्वनि का प्रयोग किया जाता है परन्तु उसके लिये भी कोई वर्ण नहीं। इसी प्रकार न्ह्, म्ह्, र्ह् और ल्ह् के लिये कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं है जबकि ये सयुक्त ध्वनियां न होकर मूल ध्वनियां हैं। जैसे क, च, ग, ज आदि का महाप्राणरूप ख, छ, घ, झ आदि हैं उसी प्रकार न्ह्, म्ह्, र्ह् और ल्ह् ध्वनियां भी क्रमश: न्, म्, र् और ल् का महाप्राण रूप हैं। इनके लिये स्वतन्त्र वर्ण होने चाहिये।

मात्रा की दृष्टि से 'इ' की मात्रा सर्वथा अवैज्ञानिक है। जिसका उच्चारण पहले हो उसका लिपि में पहले प्रयोग होना चाहिये और जिसका उच्चारण बाद में हो उसका प्रयोग लिपि में बाद में होना चाहिये। यह भी लिपि के वैज्ञानिक होने का एक नियम है। यह नियम देवनागरी लिपि की 'इ' मात्रा पर लागू नहीं हो रहा क्योंकि इसका प्रयोग उच्चरित वर्ण से पहले होता है, जैसे—'क्+इ' के लिये 'कि' लिखा जाता है जो ठीक नहीं। इसी प्रकार उ, ऊ, ए और ऐ स्वर-ध्वनियों की मात्राओं का प्रयोग नीचे और ऊपर किया जाता है। इन ध्वनियों का उच्चारण ध्वनियों के साथ साथ नहीं होता बल्कि बाद में होता है। इस लिये इनका प्रयोग भी अवैज्ञानिक है।

संयुक्त वर्णो की दृष्टि से देवनागरी लिपि अत्यन्त जटिल है। इसी कारण लगभग सभी व्यञ्जन ध्वनियों के दो दो रूप है। कुछेक ध्वनियों में तो जटिलता और भी अधिक है। 'र्' या 'र' ध्वनि के सयुक्त वर्णों में तीन रूप हैं— ्र, ॅ और ‸ । क्र में इसका रूप और भी बदल जाता है। क्ष, त्र, ज्ञ वस्तुत: संयुक्त ध्वनियाँ है। इनका मूल ध्वनियों जैसा रूप किसी भी लिपि के लिये उचित नही समझा जा सका।

देवनागरी लिपि आधुनिक आवश्यकताओं के अनसार सरल नहीं है। इसकी वर्णमाला बहुत बड़ी है। इसके अतिरिक्त मात्रायें और संयुक्त वर्ण भी है।

लिपि सुधार

देवनागरी लिपि में कुछ वैज्ञानिक विशेषतायें हैं तो कुछ दोष भी। देवनागरी लिपि के विरोधी लोगों का ध्यान उसके दोषों की ओर ही जाता है उसकी वैज्ञानिक विशेषताओं की ओर नहीं। फारसी लिपि के अत्यधिक अवैज्ञानिक होने के कारण उस ओर तो लोगों का ध्यान नहीं जाता परन्तु कुछ लोग रोमन लिपि के पक्षपाती अवश्य हैं। इस में कोई सन्देह नहीं कि रोमन लिपि की अपनी विशेषताये है। यह लिपि देवनागरी के समान

अक्षरात्मक न हो कर वर्णात्मक है। विकास की दृष्टि से यह देवनागरी से एक कदम आगे है परन्तु इसमें भी अनेक दोष हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। डा. सुनीति कुमार चैटर्जी रोमन लिपि के पक्षपाती हैं। वे इसके दोषों का निराकरण कुछ विशेष चिह्नों द्वारा करके एक प्रकार की भारतीय रोमन लिपि (Indo-Roman) चाहते हैं।[1] उनकी बताई हुई लिपि का आदर्श रूप निम्नलिखित है —

स्वर

a	a:	i	i:	u	u:
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ
r·	r:	l;	e: (e)	o: (o)	
ऋ	ॠ	ऌ	ए	ओ	
ai	au	am	ah		
ऐ	औ	अं	अ:		

व्यंजन

k	kh	g	gh	n·
क	ख	ग	घ	ङ
c	ch	j	jh	n′
च	छ	ज	झ	ञ
t'	t'h	d'	d'h	n'
ट	ठ	ड	ढ	ण
t	th	d	dh	n
त	थ	द	ध	न
p	ph	b	bh	m
प	फ	ब	भ	म

1. Indo-Aryan and Hindi.

y	r	l	w	(v)		
य	र	ल	व			
s′	s’	s	h			
श	ष	स	ह			
l’	n,	f	z	z′	x	q
ळ	ँ	फ़	ज़	झ़	ख़	क़

डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने जब रोमन लिपि का सुझाव दिया था। उस समय हिन्दी और उर्दू तथा देवनागरी और फ़ारसी लिपि का झगड़ा चल रहा था। भाषा की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू के समन्वित रूप हिन्दुस्तानी को अपनाया गया और लिपि की दृष्टि से हिन्दुस्तानी के लिये दोनों लिपियां मान्य समझी गई। कोई ऐसा तरीका तो था नहीं जिससे भाषा के समान एक खिचड़ी लिपि का आविष्कार किया जाता इसलिये देवनागरी और फ़ारसी दोनों लिपियों को छोड़कर तीसरी लिपि की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। आज लिपि सम्बन्धी वैसी राजनैतिक समस्या नहीं है जैसी स्वतंत्रता से पूर्व थी। अब तो शुद्ध लिपि सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्किोण को अपनाने की आवश्यकता है। डा० चैटर्जी ने जिस रोमन लिपि का सुझाव दिया है उसे रोमन लिपि में अनेक परिवर्तन या सुधार करके ही अपनाया जा सकता है। देवनागरी जैसी सुन्दर, वैज्ञानिक और भारतीय भाषाओं के अत्यन्त उपयुक्त लिपि के होते हुए भी एक विदेशी लिपि को अपनाना ठीक प्रतीत नहीं होता। हां, इतनी बात अवश्य मानी जानी चाहिये कि देवनागरी लिपि में जहां जहां सुधार सम्भव हो वहां वहां अवश्य करना चाहिये। अधिकांश विद्वान् देवनागरी लिपि में सुधार कर इसे ही अपनाने के पक्षपाती हैं। ऐसे भी विद्वान् हैं जो परम्परा प्राप्त लिपि के स्वाभाविक विकास को मानते हुए उसके स्वरूप को कृत्रिम रूप में बदलना ठीक नही समझते। वस्तुत: उनकी बात ठीक है क्योंकि किसी भी लिपि में अपना विशाल वाङ्मय होता है। लिपि में परिवर्तन करने से आगामी पीढ़ी का सम्बन्ध पिछली पीढ़ी से टूट जाता है। इसलिये

आवश्यकता इस बात की है कि लिपि में कुछ सीमा तक ही सुधार किये जायें। लिपि के सारे ढांचे को बदल देना ठीक नहीं।

लिपि सुधार सम्बन्धी जो ठोस सुझाव दिये गये हैं उनमें से एक सुझाव काका कालेलकर का भी है। उनके अनुसार स्वरों की सख्या कम करने का एक अच्छा उपाय यह है कि 'अ' वर्ण के साथ अन्य मात्रायें जोड़कर काम चला लिया जाय। इस प्रकार 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ' आदि वर्णों की कोई आवश्यकता न रहेगी। उनके अनुसार स्वरों का रूप निम्नलिखित होना चाहिये—

अ आ अि अी अु अू अे अै ओ औ अं अ:

वे 'ऋ' वर्ण की कोई आवश्यकता नहीं समझते। इस प्रकार स्वर ध्वनियों की दृष्टि से केवल एक वर्ण और ग्यारह मात्राओं की आवश्यकता होगी।

उन्होंने व्यञ्जनों की संख्या कम करने के लिये भी एक सुझाव दिया है। उनका कहना है कि सभी महाप्राण वर्णों (ख, घ, छ, झ आदि) को लिपि से निकाल देना चाहिये। उनके स्थान पर क्, ग् आदि के हलन्त रूप के साथ 'ह्' का प्रयोग करके उनसे काम ले लेना चाहिये। जैसे— क्ह (ख), ग्ह (घ), च्ह (छ) आदि। इसके अतिरिक्त ङ, ञ, ण, ष, क्ष, त्र और ज्ञ की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार केवल निम्नलिखित व्यञ्जन वर्ण ही रह जायेंगे—

क ग च ज ट ड त द न प ब म य र ल व श स ह

इसमें कोई सन्देह नहीं कि काका कालेलकर ने लिपि-सुधार के जो सुझाव दिये हैं उनसे लिपि-सम्बन्धी कई कठिनाइयां दूर हो जाती हैं, वर्ण-माला भी काफ़ी छोटी हो जाती है परन्तु इससे लिपि में इतना अधिक परिवर्तन होजाता है कि उसका सारा का सारा ढांचा बदल जाता है। इस लिपि का प्रयोग हरिजन तथा अन्य प्रचारात्मक साहित्य के लिये किया गया परन्तु यह लिपि लोकप्रिय नहीं हो पाई। सामान्य तौर पर इसका अधिक प्रचार नहीं हो पाया है।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी और हिन्दी-साहित्यसम्मेलन का भी इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ है। उन्होंने भी लिपि के सम्बन्ध मे कुछ सुझाव तैयार किये थे। अनेक विद्वान् भी समय २ पर इस प्रश्न पर विचार करते रहते हैं कुछ लोगों का ध्यान देवनागरी लिपि में यान्त्रिक (टाइपराइटर, टेलीप्रिन्टर आदि) दृष्टि से परिवर्तन करने की ओर जाता है तो कुछ लोग लिखने में शीघ्रता लाने की बातें सोचा करते है। कुछ लोगों का विचार यह है कि मात्राओं का प्रयोग छोड़ दिया जाय, उनके स्थान पर स्वर-वर्ण का ही प्रयोग किया जाय। कुछ लोग यह भी कहते है कि देवनागरी लिपि के वर्णो पर शिरोरेखा की कोई आवश्यकता नही इसलिये उसका प्रयोग न किया जाय। कई ऐसे सुझाव भी दिये जाते है जो अव्यावहारिक और अस्वाभाविक होते है।

लिपि-सुधार की ओर उत्तरप्रदेश सरकार का ध्यान भी आकर्षित हुआ। आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक लिपि-सुधार समिति बनाई गई इसको प्राय: नरेन्द्रदेव समिति कहा जाता है। इस समिति ने काफी विचार-विमर्श के बाद कुछ सुझाव दिये जो निम्नलिखित है।

आचार्य नरेन्द्रदेव समिति द्वारा सुझाई हुई लिपि की वर्णमाला इस प्रकार है—

स्वर

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ:। =१५ स्वर

व्यञ्जन

क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न
प फ ब भ म

य र ल व
श ष स ह
क्ष ज्ञ ळ =३६ व्यञ्जन

मात्रायें

ा, ि, ी, ु, ू, ृ, े, ै, ो ौ, ं, : - =१२ मात्रायें

संयुक्त व्यञ्जन

(१) संयुक्त व्यञ्जनों मे वर्णों को ऊपर नीचे न लिख कर अगल बगल लिखा जाय। जैसे—क्क, च्च, ट्ट आदि।

(२) 'त्र' और 'त्त' के स्थान पर क्रमश; त्र और त्त रूप होने चाहियें। 'त्' के बहुत छोटे रूप को छोड़ दिया जाय।

(३) 'र' के अनेक रूपों को छोड़ कर केवल 'र्' और 'र' रूप को ही अपनाया जाय। इस प्रकार कर्म के स्थान पर कर्‌म, क्रम के स्थान पर क्‌रम तथा ड्राइंग के स्थान पर ड्‌राइंग लिखा जाय।

(४) अनुनासिक स्वर की शिरोरेखा पर बिन्दु का प्रयोग हो—ं और अनुनासिक व्यञ्जनों ङ् ञ् ण् न् म् केलिये शिरोरेखा पर शून्य (ॱ) चिन्ह का प्रयोग किया जाय।

(५) सभी खड़ी पाई वाले व्यञ्जनों की पाई हटाकर उन्हें हलन्त बनाया जाय। जिन व्यञ्जनों में खड़ी पाई नही है उनके नीचे हल्-चिन्ह लगाकर उन्हें हलन्त बनाया जाये। इन के अतिरिक्त यदि व्यंजनों के कुछ अन्य रूप प्रचलित हों तो उन्हें व्यवहार में न लाया जाये। जैसे प्+त =प्त; द्+य=द्‌य (इस के 'द्य' रूप को न अपनाया जाये) 'फ्' और 'क्' के क्रमश: फ और क रूप ही रहने दिये जायें।

अन्य सुझाव

(१) वर्णों पर शिरोरेखा के प्रयोग को रहने दिया जाये।

(२) जिन वर्णों के दो दो रूप प्रचलित है उनके स्थान पर केवल एक ही रूप को मान्य ठहराया गया। ये रूप इस प्रकार है—अ, छ, झ, ण, ल, श आदि।

(३) 'ख' और 'रव' की भ्रान्ति को दूर करने के लिये 'ख' मे कुछ परिवर्तन कर दिया जाये यानी ख की पहली लकीर को आगे की पाई के साथ मिला दिया जाये। ध और भ मे थोडा सा परिवर्तन कर दिया गया। ताकि घ और म का भ्रम न हो।

(४) देवनागरी में जो नई या विदेशी ध्वनियों का प्रयोग हो तो उस के लिये उच्चारण-सूचक चिह्नों (Diacritical marks) का प्रयोग किया जाये।

(५) यान्त्रिक सुविधाओं को दृष्टिगत रखते हुये यह सुझाव भी दिया गया कि मात्राओं का प्रयोग वर्ण के ऊपर नीचे न करके वर्ण से थोडा आगे हटाकर किया जाये। जैसे 'कूडा' के स्थान पर क ूड़ा आदि।

सन् १९५३ मे पहला सम्मेलन लखनऊ में बुलाया गया जिस में आचार्य नरेन्द्र देव समिति के सुझावों पर विचार किया गया और इन्हें बाद में छपने वाली सभी पुस्तकों में अपनाने के लिये आदेश भी दे दियेगए। परिणामस्वरूप प्राथमिक पुस्तकों को इन सुझावो के अनुसार बदल दिया गया। लखनऊ सम्मेलन मे जो निश्चय किए गए वे भारत सरकार को भी सूचित किए गए। भारत सरकार ने सन् १९५५ में इन निश्चयों को स्वीकार कर लिया। परन्तु यह बात स्मरणीय है कि इन निश्चयों के अनुसार क्रियात्मक कदम केवल उत्तर प्रदेश में उठाए गए अन्यत्र नहीं।

उत्तर प्रदेश मे इन सुझावो के क्रियान्वित होते ही इन पर टीका-टिप्पणी होने लगी। अधिकाश रूप मे इन सुझावों की निन्दा की गई। इसमे कोई सन्देह नही कि देवनागरी लिपि के सम्बन्ध मे बहुत कुछ भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयत्न किया गया और विहगम दृष्टि से देखने पर लिपि सम्बन्धी परिवर्तन कुछ अधिक क्रांतिकारी भी नहीं

दिखाई देते परन्तु व्यवहार में अनेक प्रकार की कठिनाइयां उठने लगीं। बहुत से लोग तो इस लिपि को लंगड़ा लिपि कहने लगे। वस्तुत: इस परिष्कृत लिपि में अनेक दोष हैं। मूल देवनागरी लिपि के जो दोष दिखाये गये है उनमें से केवल एक दोष (ि मात्रा के पहले लगाने) ा निवारण किया गया है। बाकी सब दोष ज्यों के त्यों बने हुए हैं।

स्वरों के सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि ऋ, ॠ और ऌ का उच्चारण नहीं होता तो इन्हें अपनाने की क्या आवश्यकता है? यदि ऋ वर्ण को रहने भी दिया जाय तो कम से कम ॠ और ऌ की कोई आवश्यकता नहीं। वर्णमाला को छोटी करने के स्थान पर अनावश्यक तौर पर बढ़ाने का निश्चय विचित्र दिखाई देता है।

इसी प्रकार व्यञ्जनों में भी 'ञ' और 'ष' वर्णो को रहने दिया गया है। 'र' में एकरूपता लाने की बात सैद्धान्तिक तौर पर तो सरल दिखाई देती है परन्तु व्यवहार में इसके कारण लिपि का स्वरूप इतना बदल जाता है कि वह अत्यन्त विचित्र दिखाई देने लगती है। मराठी भाषा में प्रयुक्त होने के कारण ळ के अस्तित्व की बात तो समझ में आती है परन्तु क्ष और ज्ञ की क्या आवश्यक़ता है—यह समझ मे नहीं आता।

मात्राओं की दृष्टि से केवल एक ही परिवर्तन किया गया है अर्थात् 'इ' की मात्रा बाई ओर न लगाकर दाई ओर लगाई जाय तथा उसका आकार 'ई' की मात्रा से छोटा कर दिया जाय। यह परिवर्तन भी बड़ा हल्का दिखाई देता है। परन्तु इसके कारण 'इ' और 'ई' की मात्राओं में काफ़ी भ्रान्ति होने की आशंका बनी रहती है।

इस लिपि के सम्बन्ध में एक और बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि हिन्दी में 'ड़' और 'ढ़' ध्वनियों का काफ़ी प्रयोग होता है तथापि इस लिपि में इनके लिये कोई वर्ण नहीं है।

उत्तरप्रदेश की सरकार के पास इस लिपि की अनेक शिकायतें पहुंचने लगीं। जनता इस नई लिपि से बहुत परेशान हो गई। परिणामस्वरूप

उत्तरप्रदेश सरकार की ओर से लखनऊ में ही १९-२० अक्तूबर १९५७ को एक नया सम्मेलन बुलाया गया कि रेफ ग्रौर 'इ' की मात्रा संम्बन्धी जो सुझाव दिये गये हैं उन्हें रद्द कर दिया जाय क्योंकि अधिकांश आलोचना इन्हीं के सम्बन्ध में होती थी।

लिपि का प्रश्न अखिलभारतीय है। इसे केवल उत्तरप्रदेश का प्रश्न मान कर उसी क्षेत्र तक सीमित रखना ठीक नहीं। सन् १९५३ में जो सम्मेलन हुग्रा था उस में ग्रन्य राज्यों के प्रतिनिधि ग्रौर शिक्षा-शास्त्री भी सम्मिलित हुए थे परन्तु सन १९५७ के सम्मेलन में केवल उत्तरप्रदेश के ही प्रतिनिधि थे। इस में भारत-सरकार या अन्य राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए थे। सन् १९५७ के सम्मेलन में किये गये निश्चय के अनुसार एक नई स्थिति पैदा हो गई। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। ८-६ अगस्त १६५६ में नई दिल्ली में शिक्षा-मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ। इससे चार दिन पूर्व नई दिल्ली में ही एक विशेषज्ञ समिति बुलाई गई। इसने सन् १६५३ और १६५७ के सुझावों विचार किया तथा कुछ ग्रपने सुझाव दिये। इन सुझावों पर शिक्षामन्त्रियों के सम्मेलन में विचार किया गया और उन्हें ग्रपना लिया गया। शिक्षामन्त्रियों के सम्मेलन में किये गये निश्चय निम्नलिखित थे—

(१) छोटी 'इ' की मात्रा ग्रौर 'रेफ' के विभिन्न रूपों में कोई परिवर्तन न किया जाय।

(२) ऋ और ॡ को वर्णमाला में रखने की कोई ग्रावश्यकता नहीं है।

(३) 'ड़' और 'ढ़' वर्णों को भी वर्णमाला में सम्मिलित कर लिया जाय।

(४) 'श्री' के मूल रूप को ही रहने दिया जाय। उसे 'श्‍री' रूप में न लिखा जाय।

इनके अतिरिक्त सन् १६५३ के लखनऊ सम्मेलन के अन्य सभी निर्णयों को स्वीकार कर लिया गया। प्रशासन की दृष्टि से लिपि के

सम्बन्ध में जो निर्णय किया गया है उसका अन्तिम रूप यही है। सन् १९५३ के निश्चयो को उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा लागू किये जाने के बाद इस बात को अधिक अनुभव किया जाने लगा है कि केवल सैद्धान्तिक आधार पर ही लिपि में परिवर्तन नही किया जाना चाहिये। उसके व्यावहारिक पक्ष को अधिक महत्त्व देने की आवश्यता होती है यद्यपि इन सुधारों के बाद भी यह अनुभव किया जाता है कि अभी देवनागरी को पूर्ण वैज्ञानिक या यन्त्रोपयुक्त नहीं बनाया जासका तथापि उसमे सुधारो की कोई अधिक गुंजायश नहीं दिखाई देती। सम्भवत: आवश्यकताओं के अनुसार स्वाभाविक विकास होते होते वह बदल जाय परन्तु विशिष्ट प्रयत्नों द्वारा उसे परिवर्तित करने की चेष्टा तो कुछ व्यर्थ ही प्रतीत होती है।

परिशिष्ट २

पुस्तक-सूची

अंग्रेज़ी

Albright, R. W. : The International Phonetic Alphabet, 1958.

Allen, W. S : Phonetics in Ancient India.

Anderson, Dines : A Pali Reader, 2 parts.

Bahri, Hardev : Hindi Semasiology.

Beames, J. : Comparative Grammar of Modern Aryan Languages, 3 Vols.

Bailey, Graham : A Panjabi Phonetic Reader.

Bhandarkar, R. G. :Wilson Philological Lectures.

Bloch, Jules : Grammatical Structure of Dravidian Languages.

Bloch, B. and Trager, G. L. : Outline of Linguistic Analysis.

Bloomfield, Leonard : Language, 1958.

Bopp, Franz : Analytical Comparison of the Sanskrit, Greek, Latin and Teutonic Languages.

Breal, M. : Semantics (English Translation)

Brugman, K. : (*i*) A Comparative Grammar of the Indo-Germanic Languages.
(*ii*) Elements of the Comparative Grammar of the Germanic Languages.

Buck, C. D. : (*i*) Comparative Grammar of Greek and Latin.
(*ii*) A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages.

Burrow, T. : (*i*) The Language of the Kharosthi Documents from Chinese Turkestan.

(*ii*) The Sanskrit Language.

Caldwell : Comparative Grammar of the Dravidian Languages.

Carroll, John B. : The Study of Language.

Chatterji, Suniti Kumar : (*i*) Origin and Development of the Bengali Language.

(*ii*) A Bengali Phonetic Reader.

(*iii*) Indo-Aryan and Hindi.

Chavarria-Aguilar, Oscar Luis : Lectures in Linguistics.

Delbruck : Comparative Syntax.

Diringer, David : The Alphabet, a Key to the History of Mankind.

Ghatage, A. M. : An Introduction to Ardha-Magadhi.

Gleason, H. A. Jr. : (*i*) An Introduction to Descriptive Linguistics, 1955.

(*ii*) Work-book in Descriptive Linguistics, 1955.

Gray, L. H. : Indo-Iranian Phonlogy.

Greeves, Edwin : Hindi Grammar.

Greenberg, Joseph H. : Essays in Linguistics, 1957.

Grierson, George Abraham : (*i*) Modern Indo-Aryan Vernaculars.

(*ii*) Linguistic Survey of India.

(*ii*) Seven Grammars of the Dialects and Sub-dialects of the Bihari.

Gune, P. D. : An Introduction to Comparative Philology.

Harris, Zellig S. : Methods in Structural Linguistics, 1958.

Heffner, R. M. S. : General Phonetics, 1950.

Hockett, C. F. : (*i*) A Course in Modern Linguistics, 1958.

(*ii*) A Manual of Phonology, 1955.

Hoenigswald, H. M. : (*i*) Spoken Hindustani 2 Vols.

(*ii*) Language Change and Linguistic Reconstruction, 19 0.

Hoernle, A. F. G. : A Comparative Grammar of the Gaudian Languages.

Harley, A. H. : Colloquial Hindustani.

Hudson-Williams, T. : A Short Introduction to the Study of Comparative Grammar (Indo-European).

Jain, Benarasi Dass : (*i*) Phonology of Panjabi.

(*ii*) A Ludhiani Phonetic Reader.

Jesperson, Otto : (*i*) Language: Its Nature, Development and Origin.

(*ii*) Analytic Syntax.

(*iii*) Philosophy of Grammar.

Jones, Daniel : The Phoneme: its Nature and Use.

Joos, Martin : (*i*) Readings in Linguistics, 1957.

(*ii*) Acoustic Phonetics.

Katre, S. M. : Prakrit Languages and their Contribution to Indian Culture.

Kellogg, Rev. S. H. : A Grammar of the Hindi Language.

Kent, R. G. : Old Persian Grammar, Texts.

Lambert, H. M. : Introduction to the Devanagari Script, 1953.

Lyall, C. J. : Sketch of the Hindustani Language.

Lehmann, W. P. : Proto-Indo-European Phonology.

Macdonell, A. A. : Vedic Grammar.

Max Muller, F. : Science of Language.

Mehendale, M. A. : Historical Grammar of Inscriptional Prakrit.

Misra, Jaya kant : A History of Maithili Literature.

Nida, E. A. : (*i*) Morphology.

(*ii*) Outline of Descriptive Syntax.

Pei, Mario A. : The Story of Language.

Pei, Mario A. and Gaynor : Dictionary of Linguistics.

Pike, K. L. : (*i*) Phonetics.

(*ii*) Phonemics.

(*iii*) Tone Languages.

Saksena, Babu Ram : The Evolution of Avadhi.

Sapir, Edward : Language.

Sen, Dinesh Chandra : An Introduction to Prakrit Grammar.

Sen, Sukumar : (*i*) Comparative Grammar of Middle Indo-Aryan.

(*ii*) Historical Syntax of Middle Indo-Aryan.

(*iii*) Old Persion Inscriptions.

Sturtevant, Edgar H. : (*i*) An Introduction to Linguistic Science.

(*ii*) Linguistic Change.

(*iii*) Indo-Hittite Laryngeals.

(*iv*) A Comparative Grammar of the Hittite Language, 1951.

(*v*) The Pronunciation of Greek and Latin.

Sweet, Henry : A Hand-book of Phonetics.

Tagare : Historical Grammar of Apabhramsa.

Taraporewala, I.J.S. : Elements of the Science of Language.

Tessitory, L. P. : Notes on the Grammar of Old Western Rajasthani in the Indian Antiquary, 1914-16.

Tucker, F. G. : Introduction to Natural History of Language.

Vendreyes, Joseph : Language.

Willis, George : The Philosophy of Speech.

Woolner, A. : Introduction to Prakrit.

Whitney, W. D. : (*i*) Sanskrit Grammar.

(*ii*) Language and the Study of Language.

अंग्रेजी पत्रिकायें

1. Indian Linguistics : Journal of the Linguistic Society of India.
2. International Journal of American Linguistics.
3. Language, Quarterly.
4. Word, Quarterly.

हिंदी

उदयनारायण तिवारी : १. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास।
२. भोजपुरी भाषा और साहित्य

कामता प्रसाद गुरु : हिन्दी व्याकरण

किशोरीदास वाजपेयी : १. हिन्दी शब्दानुशासन
२. भारतीय भाषा विज्ञान
३. ब्रज भाषा का व्याकरण

जनार्दन भट्ट : अशोक के धर्मलेख

गौरीशंकर हीरा चन्द ओझा : प्राचीन लिपि माला

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन : भारत का भाषा सर्वेक्षण, खण्ड १; भाग १
अनुवादक उदयनारायण तिवारी, प्रथम संस्करण, १९५९

जगदीश कश्यप : पालि महाव्याकरण

धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास
ब्रज भाषा
नागरी अंक और अक्षर

बाबू राम सक्सेना १. सामान्य भाषा विज्ञान
२. दक्खिनी हिन्दी
३. अर्थ विज्ञान

मंगल देव शास्त्री : भाषा विज्ञान

विधुशेखर शास्त्री : संस्कृत का वैज्ञानिक अनुशीलन

श्यामसुन्दर दास १. हिन्दी भाषा
२. भाषा विज्ञान

सरयू प्रसाद अग्रवाल १. भाषा विज्ञान और हिन्दी
२. प्राकृत विमर्श

सुनीतिकुमार चैटर्जी : १. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, हिन्दी संस्करण १९५७
२. राजस्थानी भाषा
३. भारत की भाषायें और भाषा सम्बन्धी समस्यायें

हिन्दी पत्रिकायें

१. साहित्य सन्देश
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका

संस्कृत

पाणिनि : अष्टाध्यायी
पतञ्जलि : महाभाष्य
मार्कण्डेय : प्राकृत सर्वस्व
यास्क : निरुक्त
वररुचि : प्राकृत प्रकाश
हेमचन्द्र : (१) सिद्ध हेमचन्द्र
(२) प्राकृतव्याकरण
(३) देशीनाममाला